Agnishikha

2006 Jan.-Dec.

Stock Verification-2024

131528

Stock Verification-2024

131528

क्योंकि 'तू' है

(श्रीअरविन्द के वचन)

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

-131528

117

JAN - DEC

131528

अग्निशिखा—जनवरी २००६

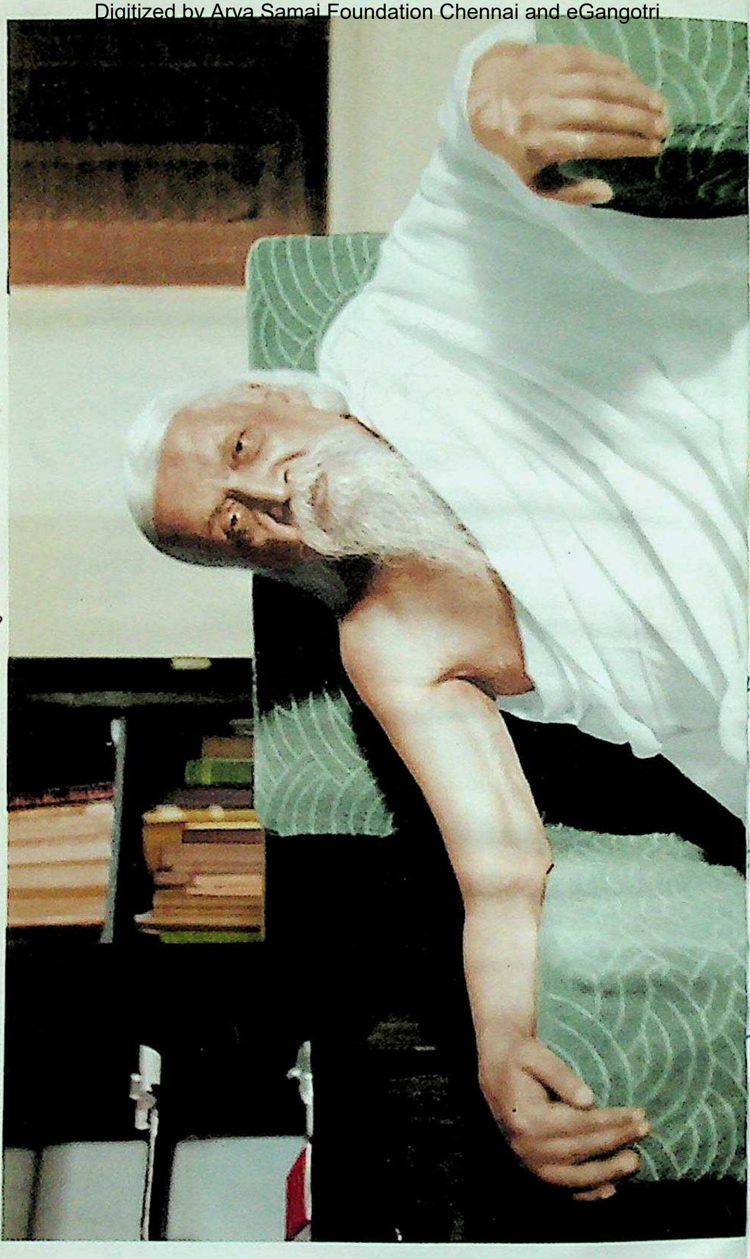

Because he is there the Inconscient does its work,
Because he is there the world forgets to die.

क्योंकि प्रतिष्ठित है वह वहां, इसीलिए
'अचेतना' अपने कार्य में संलग्न है,
क्योंकि प्रतिष्ठित है वह वहां, इसीलिए
यह जगत् मृत्यु को भूल जाता है।

Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art

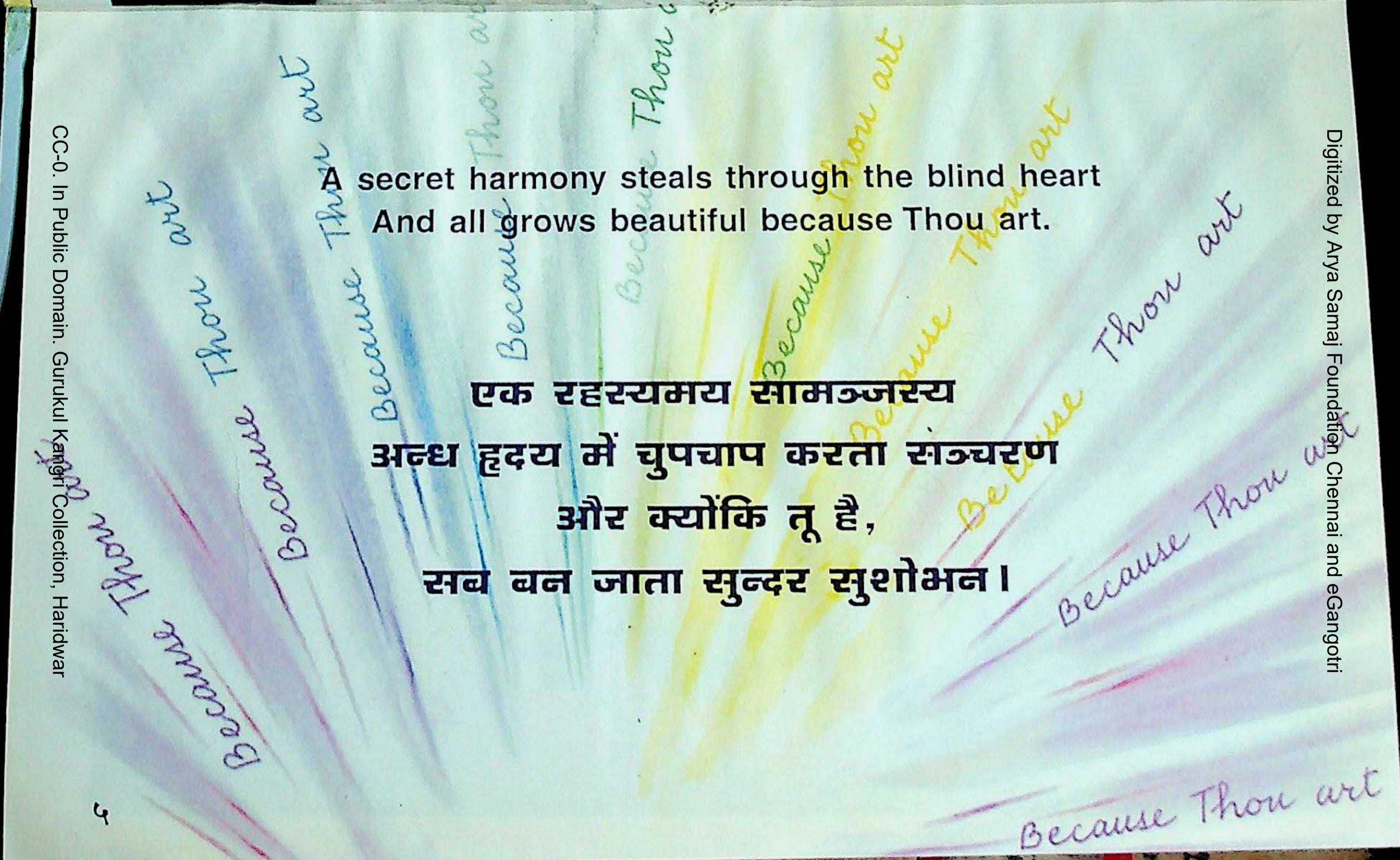
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art

A secret harmony steals through the blind heart
And all grows beautiful because Thou art.

एक रहस्यमय सामञ्जस्य
अन्ध हृदय में चुपचाप करता संञ्चरण
और क्योंकि तू है,
सब बन जाता सुन्दर सुशोभन।

Because thou art, the soul draws near to God;
Because thou art, love grows in spite of hate
And knowledge walks unslain in the pit of Night.

क्योंकि तू है इसीलिए
अन्तरात्मा 'प्रभु' के निकट खिंची चली आती है;
क्योंकि तू है, इसीलिए
यहां घृणा के रहते हुए भी प्रेम पनपता है
और 'रात्रि' के महागर्त के अन्दर
ज्ञान अनाहत, विचरता है।

Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art

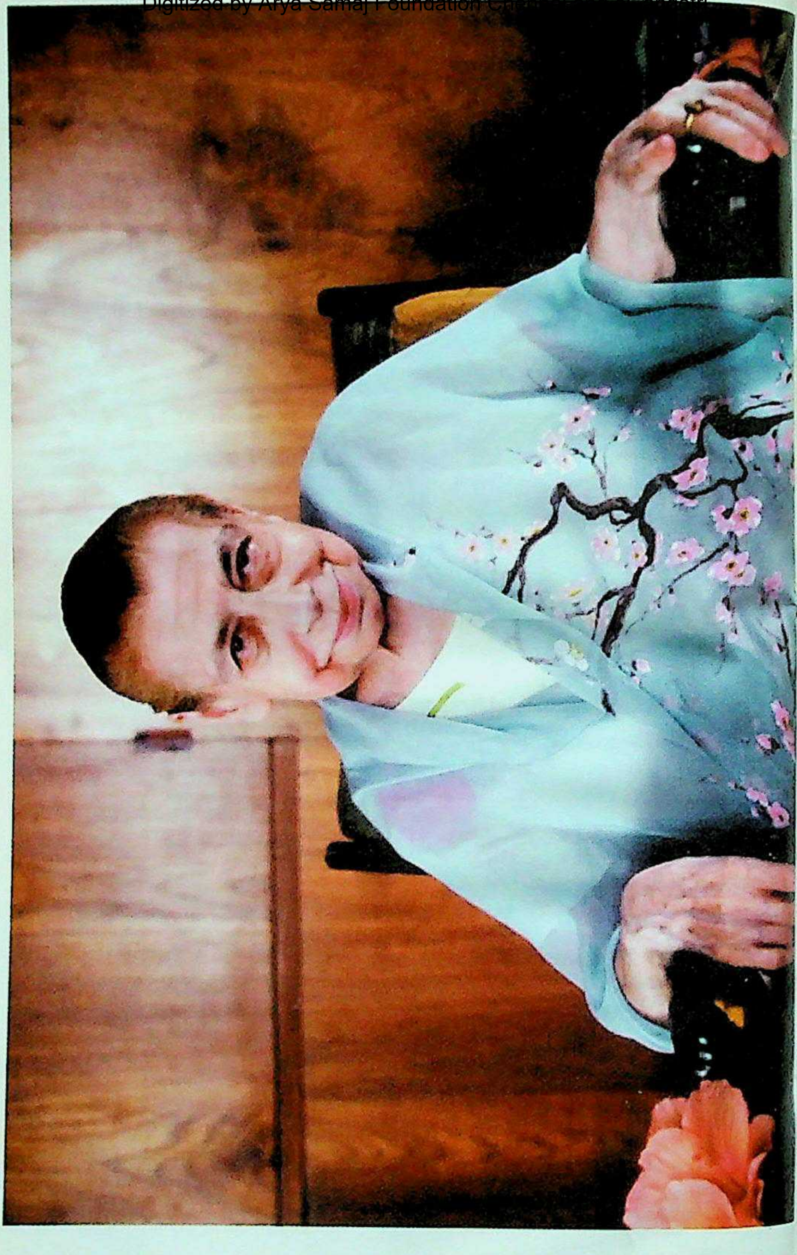

Because thou art in him, man hopes and dares;
Because thou art, men's souls can climb the heavens
And walk like gods in the presence of the Supreme.

क्योंकि तू उसमें है इसीलिए
मनुष्य आशा करता और साहस करता है;
क्योंकि तू है इसीलिए
मनुष्य की अन्तरात्मा स्वर्गारोहण कर सकती है
और उस 'परम' की उपस्थिति में
देवों की भांति विचरती है।

Thou art

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou

Because Thou art

Because Thou art

Thou art

Because Thou art

Because Thou art

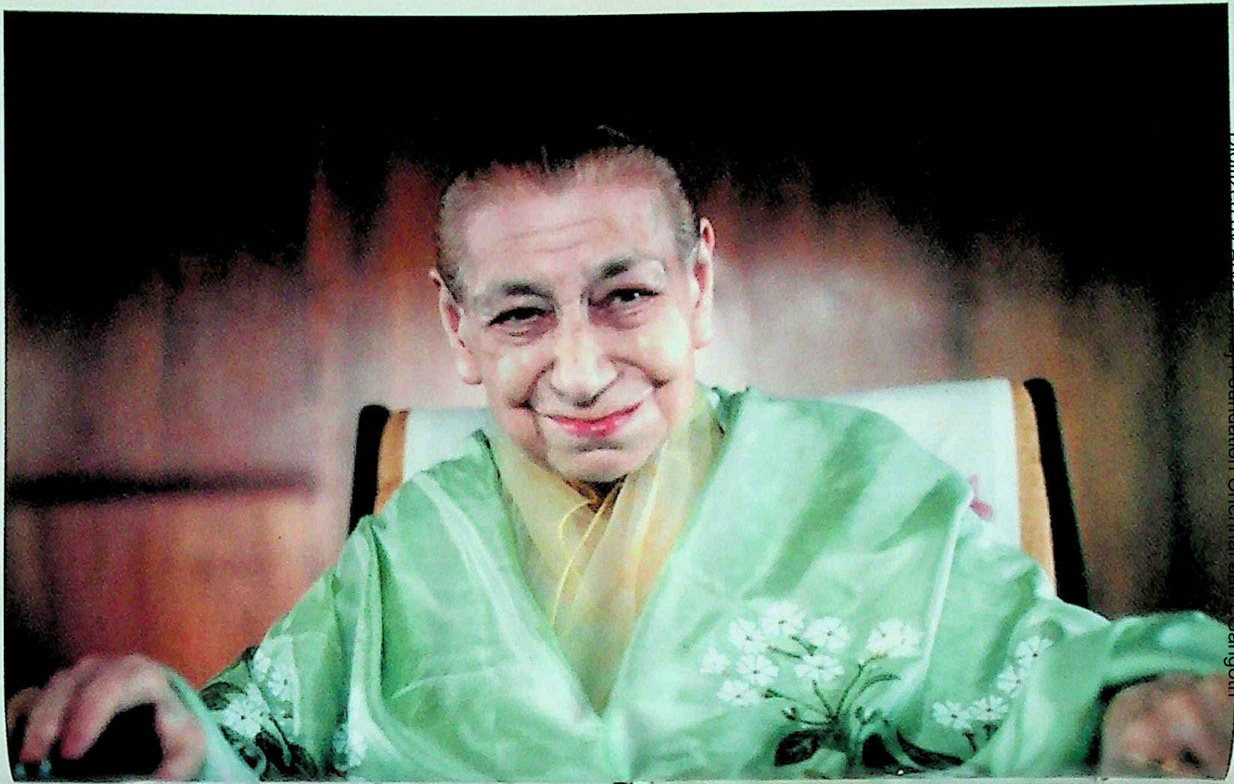

Because thou art, men yield not to their doom,

Because thou art, men yield not to their doom,
But ask for happiness and strive with fate;
Because thou art, the wretched still can hope.

क्योंकि तू है इसीलिए
मनुष्य अपने प्रारब्ध के आगे नहीं झुकता,
बल्कि वह सुख की अभिलाषा करता
और अपनी नियति के साथ संघर्ष करता है,
क्योंकि तू है, इसीलिए
हतभागा भी कर सकता है आशा औ’ अभिलाषा।

Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Because Thou art
Thou art

"Hearts touched by thy love shall answer to my call,

"Hearts touched by thy love shall answer to my call,
Discover the ancient music of the spheres
In the revealing accents of thy voice
And nearer draw to me because thou art..."

"तेरे प्रेम से जो हृदय छू जायेंगे
वे मेरे आवाहन का उत्तर देंगे,
तेरी वाणी के अन्त:प्रकाशित स्वरों में वे
तारामिण्डल के आदि विश्व-संगीत को खोज निकालेंगे।
क्योंकि तू है इसीलिए
वे सब मेरे पास बरबस खिंचे चले आते हैं..."

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou art

Because Thou art

क्योंकि 'तू' है

क्योंकि 'तू' है सर्व-सौन्दर्य और सर्व-आनन्द,
मेरी अन्ध और आसक्त आत्मा तेरे लिए होती है लालायित;
जो विद्यमान है, सबमें यह करती तेरा रहस्यमय स्पर्श वहन
और उस आनन्द-भार से यह होती है रोमाञ्चित।

सब नयनों के पीछे मुझे मिलती है तेरी अनिमिष दृष्टि गोपन
और हर कण्ठ में तेरी जादुई स्वर-लहरी का मैं करता श्रवण:
तेरी मधुरता प्रकृति के मार्गों से मेरे हृदय का करती अभिसरण,
प्रतिरक्षित इसमें तेरे जाल से बाहर कहीं अब नहीं होती धड़कन।

सब सप्राण वस्तुओं में यह करती है तेरे शरीर से प्यार;

सब सप्राण वस्तुओं में यह करती है तेरे शरीर से प्यार;
हर पत्र और प्रस्तर में है विद्यमान तेरा हर्ष अपार:
क्षण ले आते हैं तुझे अपने पंखों पर अग्निल;
तू ही है हर दृश्य का अन्तहीन कलाकौशल।

काल यात्रा करता है अपने नौकाग्र पर तेरे संग—
और 'तू' है भविष्य का सम्पूर्ण उत्कट आशाबन्ध।

—श्रीअरविन्द

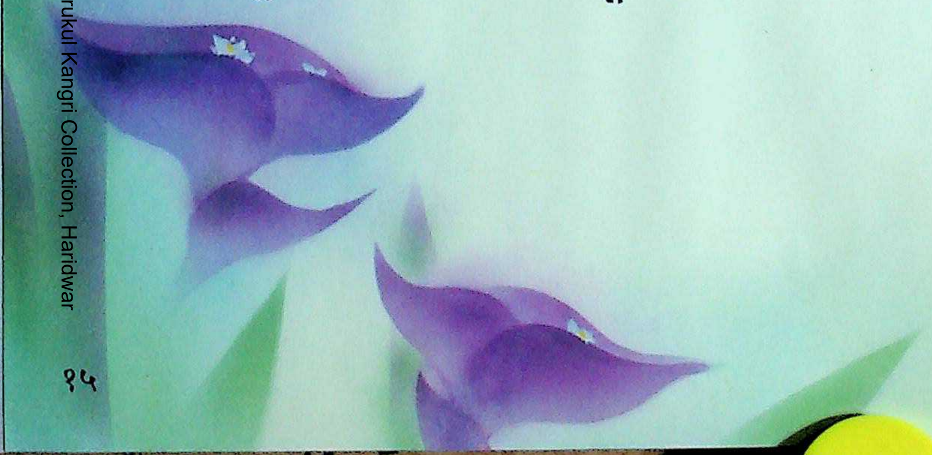

अपने हृदय को खोलो
और तुम मुझे पहले से ही वहां पाओगे।

—श्रीमां

अग्निशिखा—जनवरी २००६   वर्ष–३६ अंक–६, पूर्णांक–४२६
सम्पादक : अनुबेन; प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी–१
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी–६०५००२
Regn. No. TN/PMG (CCR) 108/03-05 AND WPP No. 40/03-05

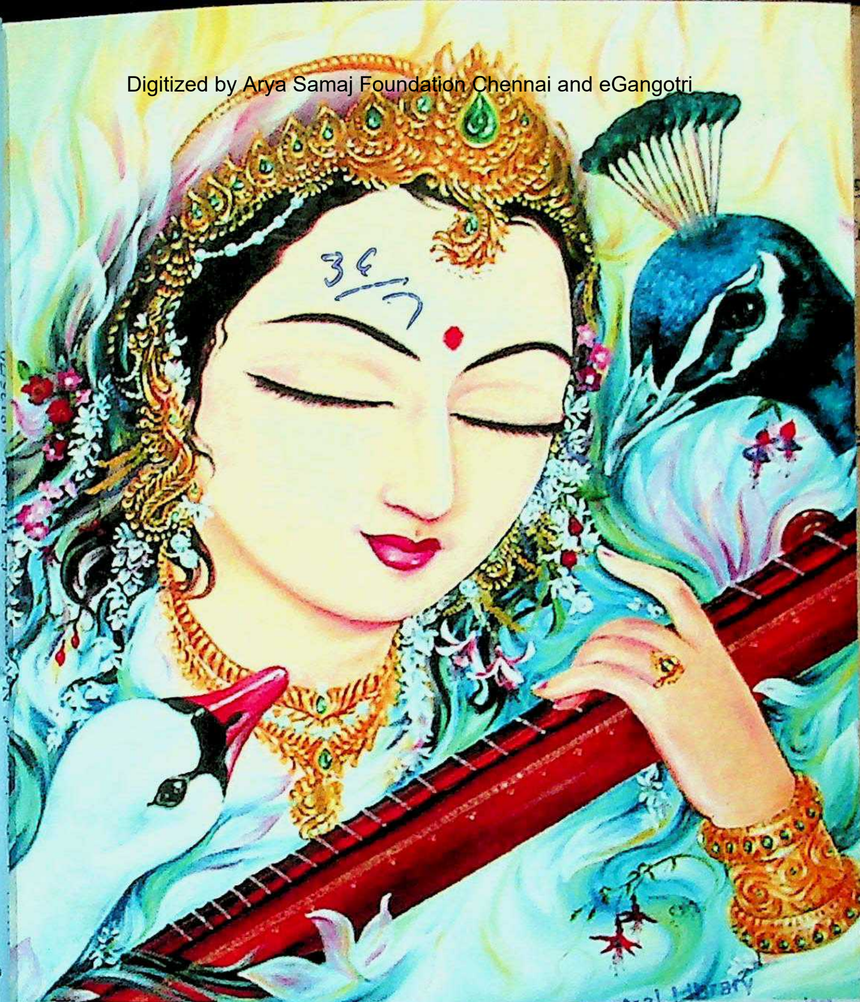

३६/१

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)
Absent
9 Feb 06

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

फरवरी २००६

अग्निशिखा फरवरी २००६ वर्ष ३६, अंक ७, पूर्णांक ४२७

विषय-सूची

सन्देश — श्रीमां — १
'सम्पादकीय' : युगल अवतार (१) — अनुबेन — २
दैनन्दिनी — ५
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क :
मेडिकल साधना — नीरदवरण — ९

महासरस्वती

(पूर्णता और व्यवस्था की देवी)

भगवती मां का महासरस्वती रूप — श्रीअरविन्द — १३
चारों में सबसे छोटी — श्रीमां — १६
मां के चार रूप — श्रीअरविन्द — १७
कर्म में उचित वृत्ति — श्रीअरविन्द — १९
पूर्णता की खोज के लिए उचित वृत्ति — श्रीमां — २१
अपने-आपको पूर्ण बनाने का पहला पग — श्रीमां — २३
व्यवस्था को कैसे लाया जाये — श्रीमां — २८
संयोग क्या है — श्रीमां — २९
व्यवस्था : सभी अच्छे कार्यों के लिए अनिवार्य — श्रीमां — ३१
कार्य में पथ-प्रदर्शन — श्रीमां — ३२
सोसायटी समाचार — ३५

मुखपृष्ठ का चित्र : **चित्रांकन ऋतम् द्वारा**

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

सौन्दर्य तुम्हारा अविचल आदर्श हो।
अन्तरात्मा का सौन्दर्य
भावों का सौन्दर्य
विचारों का सौन्दर्य
क्रिया का सौन्दर्य
कर्म का सौन्दर्य
ताकि तुम्हारे हाथों से कभी कोई ऐसी चीज न निकले जो शुद्ध और सामञ्जस्यपूर्ण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति न हो।

और 'भागवत सहायता' हमेशा तुम्हारे साथ रहेगी।

—श्रीमां

'सम्पादकीय' :

युगल अवतार

(१)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। अध्याय ४, ७।।

"जब-जब धर्म का पतन होता है और अधर्म बढ़ जाता है, तब धर्म को पुनः स्थापित करने के लिए मैं प्रकट होता हूं।"

इस समय भगवान् के इस शाश्वत सत्य, शाश्वत प्रतिज्ञा को हम याद क्यों करते हैं? भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि भक्तों की श्रेणी में आर्त भक्त भी हैं; वह जब मुसीबत में फंस जाता है तब, केवल तभी भगवान् को आर्त स्वर से पुकारता है, आर्त भाव से सहायता चाहता है।

अब देखें इस समय क्या हो रहा है! आज केवल भारत ही नहीं, सारा संसार आर्त भाव से, कुपित प्रकृति के ताण्डव से थर-थर कांपता हुआ भगवान् को पुकार रहा है।

इस सर्वत्र व्यापी विनाश का कारण देखने से पहले हम इन कई वर्षों में हुई दुर्घटनाओं को याद कर लें। कई वर्षों से हम, देखते आये हैं कि ओडिसा में छोटे-से प्रलय द्वारा प्रकृति अपनी नाराजगी दिखा रही थी जिसमें गांव के गांव समुद्र ने निगल लिए, असंख्य वृक्ष, पशु और मनुष्यों को महाकाल ने एक कौर में उदरस्थ कर लिया। चारों ओर से लोग सहायता करने दौड़े आये किन्तु... फिर कच्छ, गुजरात में भूकम्प ने उस प्रदेश का रूप ही बदल दिया। देश-विदेश से बहुत सहायता लेकर लोग आये। जो क्षति हुई थी वह

कुछ सुधरी, लेकिन जिन लोगों ने अपने रिश्तेदार, प्रिय जन और मित्र गंवा दिये उस बिछोह का दुःख तो किसी भी तरह मिटाया नहीं गया। फिर भी उस समय जाग्रत् व्यक्ति वहां पहुंच गये थे। ऐसा प्रतीत हुआ कि हां, अब मनुष्य जाग उठा है लेकिन नहीं, कहां खो गयी वह जागृति की नन्हीं लौ! मनुष्य जाग-जाग कर फिर सो गया!! इतना ही नहीं हुआ, गुजरात में मनुष्यकृत ऐसा वहशी हादसा खड़ा हुआ कि वर्षों के बाद अब तक वहां शान्ति स्थायी रूप न ले पायी है। ऐसा लग रहा है कि मानवजाति अपनी सुध-बुध खो बैठी है।

इसके बाद सुनामी की जो शुरुआत हुई थी, वह अब समुद्र-तट पर सीमित न रही, उसने सारे संसार के राष्ट्रों में अतिवर्षा और उग्र तूफान का रूप ले लिया और ऐसा सर्वनाश किया कि सारी सुविधाओं के बावजूद समृद्ध राष्ट्र तक असमर्थ होकर सिर झुकाये किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़े हैं।

ऐसा भी समय था और अब भी है जब धोखा-धड़ी ने मनुष्यों को थपकी दे दे कर सुला दिया था... किन्तु जरूरत पड़ने पर मां प्रकृति हमें झकझोर कर जगा भी देती है, वह यही कर रही है अब।

हम सोच सकते हैं कि प्रकृति को जल्दबाजी में बार-बार उग्र होने की जरूरत क्यों पड़ी? शायद इसलिए कि सारा संसार बहुत तीव्र गति से विकासक्रम में आगे बढ़ने की जगह उल्टी दिशा में भागा जा रहा है। संसार की अवस्था इतनी विकृत हो गयी है कि अगर एक अवतार का अवतरण भी हो, तो भी कार्य पूरा न होगा। श्रीकृष्ण की रोमाञ्चित करती वाणी जैसे वातावरण में गूंज रही है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। अध्याय ४, ८।।

"धर्म का पालन करनेवाले साधु पुरुष का उद्धार करने, दुष्टों का नाश करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं।"

इन पुनीत शब्दों को पढ़ कर, सुन कर हम समझ पायेंगे कि प्रभु का कितना अनुपम, अनूठा प्रेम और वात्सल्य होगा सृष्टि के प्रति!!

प्रभु ने पिछली सदी में संसार का विलय के प्रति जो गमन देखा तो उन्होंने युगल अवतार की आवश्यकता महसूस की। इस निर्णय के बाद श्रीअरविन्द का भारत में जन्म हुआ और माताजी का मीरा के नाम से फ्रांस में। जीवन के कई पक्षों को देख कर दोनों अन्तर्मुख होकर साधना में डूब गये। कई वर्षों के बाद दोनों पॉण्डिचेरी में मिले, तब मीरा समझ पायीं कि जिनको वे अपने ध्यान में मार्ग-दर्शक के रूप में देखती थीं वही ये महापुरुष हैं। दोनों ने देखा कि उनका ध्येय एक ही है। उन्होंने एक ही स्थान पर रहकर साधना करने का निर्णय लिया। श्रीअरविन्द माताजी को माता ही कहते थे।

हम पूछ सकते हैं कि दो-दो अवतारों की आवश्यकता क्यों थी? अगर हम उन दोनों की आध्यात्मिक उपलब्धियों की ओर नज़र डालें तो हम देखेंगे कि उन दोनों ने विकासक्रम में जो प्रचण्ड वामन चरण बढ़ाये हैं वे अद्‌भुत और अप्रत्याशित हैं। उन्होंने विकासक्रम में जो साहस-यात्रा की है उसका मूल्यांकन आज नहीं, कई वर्षों बाद संसार कर पायेगा। उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र के बीहड़ अरण्य के अनछुए क्षेत्र में प्रवेश कर असम्भव को सम्भव बना दिया। वेदों में भी ऋषि-मुनियों ने अतिमानस का उल्लेख किया है, किन्तु वे उसे विज्ञान-क्षेत्र कहते हैं। उन्होंने कभी यह सोचा भी न था कि पृथ्वी के वातावरण में अतिमानस को उतारा जा सकता है। माताजी और श्रीअरविन्द का उद्देश्य यह था कि अतिमानस को नीचे उतार कर ले आयें ताकि मनुष्यों का जीवन रूपान्तरित हो जाये। उन्होंने संसार में सबसे जाग्रत्, विकसित मनुष्यों में अतिमानस को उतारने का भगीरथ प्रयास किया। वर्षों तक श्रीअरविन्द ने एकान्तवास में रह कर, अपनी

अन्तिम सांस तक अतिमानस को अपने शरीर में उतारा जिसके कारण उनका शरीर चार दिनों तक मृत्यु के चिह्नों से अछूता रहा और स्वर्णिम आभा से दमकता रहा।

(क्रमशः) —अनुबेन

दैनन्दिनी

फरवरी

१. प्र.—मैं घर लौटने के बाद अपनी साधना कैसे जारी रखूं?

उ.—अपने-आपको शान्त करो और उस शान्ति में श्रीमां को देखो और अनुभव करो।

२. प्र.—मैं ध्यान कैसे कर सकता हूं? खुलने का मतलब क्या है? मैं कहां पर खुलूं?

उ.—आन्तरिक शुद्धि और ग्रहणशीलता जो मुक्त भाव से मां के प्रभाव को आने दे। हृदय से आरम्भ करो।

३. प्र.—चैत्य पुरुष कैसे खुलता है? आधार में चैत्य और प्राणिक सत्ताओं को कैसे पहचाना जाये?

उ.—अभीप्सा की शक्ति और मां की कृपा से।

चैत्य : तुम्हारी सत्य सत्ता, वह सत्ता जो तुम्हारे हृदय में है, जो मां की अपनी चेतना की एक चिनगारी है।

प्राण : वह भाग जिससे कामनाओं और भूख, गतिशील क्रियाओं का आरम्भ होता है जिसका भौतिक आधार नाभि के चारों ओर होता है।

४. आरम्भ के लिए तीन अनिवार्य चीजें :

समस्त सत्ता और उसके सारे क्रिया-कलाप में सम्पूर्ण सचाई

और निष्कपटता।
कुछ भी बचाये बिना पूर्ण आत्म-समर्पण।
अपने ऊपर धीरज के साथ काम करना और साथ ही पूर्ण, निष्कम्प शान्ति और समता को निरन्तर हस्तगत करते रहना।

५. प्र.—जब मैं अचञ्चल होता हूं तो मुझे बड़ा अच्छा लगता है। ऐसा क्यों होता है?
उ.—क्योंकि शान्ति और अचञ्चलता अपने-आप में आनन्द-दायक हैं और इसके अतिरिक्त वे तुम्हारी अन्तरात्मा को स्वाधीनता देती हैं। (श्रीअरविन्द)

६. प्राण की शान्ति में प्रकाश और आनन्द आसानी से आ सकते हैं। (श्रीअरविन्द)

७. सतत शान्ति के क्षेत्र में प्रकाश अधिकाधिक हो। (श्रीअरविन्द)

८. शान्ति तुम्हारे ऊपर है, उसे अपने अन्दर प्रवेश करने दो। उस शान्ति में तुम प्रकाश पाओगे और प्रकाश तुम्हारे लिए ज्ञान लायेगा।

९. अचञ्चलता जितनी अधिक होगी, उतनी ही अधिक ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। (श्रीअरविन्द)

१०. श्रद्धा और विश्वास बनाये रखो, सब कुछ ठीक हो जायेगा।

११. इन आन्तरिक चीजों का अनुभव हमेशा अचञ्चलता में होता है। अगर तुम अचञ्चल न रहो तो वे ढक जाती हैं। (श्रीअरविन्द)

१२. शान्त-स्थिर रहो। क्षोभ की लहरों को अस्वीकार करो। माताजी हमेशा तुम्हारे साथ हैं। (श्रीअरविन्द)

१३. जब-जब तुम बेचैनी का अनुभव करो तो बिना बोले, बाहरी शब्द किये बिना, सारे समय मेरे बारे में सोचते हुए यह दोहराओ "शान्ति, शान्ति, ओ मेरे हृदय।" इसे निरन्तर करो

तो तुम परिणाम से खुश हो जाओगे।

१४. हमेशा दिव्य प्रकाश और शान्ति की ओर खुलो, अन्ततः तुम उस सबसे छुटकारा पा जाओगे जो अन्धकारमय और बेचैनी-भरा है। (श्रीअरविन्द)

१५. अपने प्राण और हृदय को हमेशा माताजी की उपस्थिति की ओर खोलो जो शान्ति का सच्चा स्रोत है। (श्रीअरविन्द)

१६. माताजी की शान्ति तुम्हारे ऊपर और चारों ओर है। अपने-आपको पूरी तरह खोलो और उसे अन्दर आने दो। (श्रीअरविन्द)

१७. हां, माताजी अपने बालक के लिए यही चाहती हैं, आन्तरिक शान्ति, उसकी वृद्धि और आन्तरिक सूर्यालोक में विकास। (श्रीअरविन्द)

१८. तुम्हें खुलना इसलिए कठिन मालूम होता है क्योंकि अभी तक तुमने अपने जीवन पर मेरी इच्छा के शासन को लाने का निश्चय नहीं किया है। जैसे ही तुम इसकी आवश्यकता समझ जाओगे, हर चीज आसान हो जायेगी और अन्ततः तुम वह शान्ति पा जाओगे जिसकी तुम्हें इतनी अधिक ज़रूरत है।
मैं इस प्रयास और अभीप्सा में हमेशा तुम्हारे साथ हूं।

१९. तुम्हारी सहायता और रक्षा करने के लिए मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं।
अपने-आपको व्यर्थ की कल्पनाओं के अधीन न होने दो। शान्ति तुम्हारे हृदय की गहराइयों में मौजूद है। वहां एकाग्र होओ तो तुम उसे पा लोगे।

२०. हां, मैं तुम्हें भली-भांति समझती हूं और मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ रहता है और वह चाहता है कि तुम्हें विशाल और चिरस्थायी शान्ति मिले। गहरी और आलोकमय नीरवता प्राप्त

हो, निश्चल एकाग्र बल और वह अक्षर आनन्द प्राप्त हो जो दिव्य प्रकाश के साथ सतत सम्पर्क से आता है।

२१. मेरे साथ सम्बन्ध में बच्चे की तरह सरल और सहज होने की कोशिश करो—यह तुम्हें बहुत-सी कठिनाइयों से बचा लेगा।

२२. ... दृढ़ता के साथ अपनी प्रकृति के किसी भाग में परिवर्तन की आवश्यकता का सामना करो और मेरी सहायता के साथ **बदलो**।

२३. अगर बाहरी रूप से तुम्हें ध्यान में सफलता न भी मिले फिर भी ज्यादा अच्छा यही है कि तुम काम जारी रखो, अपनी निम्न प्रकृति के विरोध की अपेक्षा अधिक आग्रही बनो।

२४. मेरे प्यारे बालक, मैं हमेशा उपस्थित हूं, तुम्हारे पास, तुम्हारे अन्दर और मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ रहते हैं।

२५. हम चाहे जिस मार्ग का अनुसरण करें, चाहे किसी भी विषय का अध्ययन करें, हम उसी परिणाम पर आते हैं। व्यक्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, अपने भागवत केन्द्र के चारों ओर अपने-आपको एक करना; इस तरह वह सच्चा व्यक्ति बन जाता है और अपनी नियति का और अपने-आपका स्वामी होता है, अन्यथा वह ऐसी शक्तियों का खिलौना रहता है जो उसे नदी में पड़े कॉर्क के टुकड़े की तरह इधर-उधर उछालती हैं।

२६. शक्तियों का प्रदर्शन करना हमेशा गलत होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनका कोई उपयोग ही नहीं होता। परन्तु जिस प्रकार वे प्राप्त होती हैं उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिये। वे भगवान् के साथ ऐक्य होने पर आती हैं और उनका उपयोग भी भगवान् के संकल्प द्वारा ही होना चाहिये, प्रदर्शन के लिए नहीं।

२७. भगवान् के साथ योग और सम्मिलन के लिए प्रधान शर्त है समचित्तता।

विनम्रता है अपने यथार्थ मूल्य को समझना।

२८. हम क्या हैं इसे ठीक-ठीक जानने से अधिक कठिन और कोई बात नहीं है। हमें अपना मूल्य न तो अत्यधिक बढ़ाना चाहिये और न घटाना चाहिये, बल्कि अपनी सीमाओं को समझना और यह जानना चाहिये कि हम अपने सामने रखे हुए आदर्श की ओर कैसे प्रगति कर सकते हैं।

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

मेडिकल साधना

मेडिकल काम के प्रति मेरी प्रकट अरुचि के बावजूद उसी शिक्षा की ओर जाने की मेरी कहानी काफी सार्थक है। मेरा जन्म शायद किसी मेडिकल नक्षत्र के प्रभाव में हुआ होगा जिसका असर तभी समाप्त हुआ जब वह मुझे श्रीअरविन्द की सेवा करने के लिए डॉक्टर की न्याईं उनके पास ले आया। तो फिर क्या मैं निश्चयपूर्वक कह नहीं सकता कि 'मेडिकल साहब' होना मेरी नियति थी?

लेकिन उस नियति ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह टेढ़ा-मेढ़ा, घुमावदार था। अप्रत्याशित रूप से डिस्पेंसरी में मेरा तबादला कैसे हुआ, यह मैं बताना चाहता हूं। जब मैं लकड़ी के गोदाम की देख-रेख के काम में अच्छी तरह बस गया तो एक दिन असावधान क्षण में श्रीअरविन्द को मैंने चिट्ठी लिख दी कि मेरी मेडिकल शिक्षा, जिसका खर्च २०,०००/- रु. था, वह बेकार हो गयी क्योंकि यहां

मुझे बढ़ईगिरी का काम दे दिया गया है। श्रीअरविन्द कलम से अनायास निकले मेरे इस वाक्य पर झपट पड़े और मेरे ऊपर उत्तर फेंक मारा, "मेरा ख्याल यह था कि तुम्हें दवाइयों में कोई रस नहीं है।" ठीक उसी समय मेरे पूर्व जो अधिकारी वहां था उसका सन्तुलन बिगड़ गया और जैसा कि श्रीअरविन्द ने पहले कहा था, "सनकी डी. एस. ने जो रिक्त स्थान छोड़ा था उसे हम जल्दी ही भरना चाहते थे।" बाद में मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा कि डी. एस. के स्थान पर उसने माताजी के आगे मेरे नाम का सुझाव दिया था। बहुत सम्भव है कि श्रीअरविन्द ने मेरे ऊपर यह देखने के लिए गुह्य ज्ञान से दबाव डाला हो कि उस दबाव का मेरी ओर से क्या प्रत्युत्तर होता है। जैसा कि श्रीअरविन्द ने कहा कि इसी कारण हठात् मैंने २०,०००/ रु. के बारे में प्रेमवश और बुभुक्षित की तरह लिख दिया था।

श्रीअरविन्द के यहां से अन्तिम प्रस्ताव तरसाता, ललचाता हुआ परिहासपूर्ण प्रलोभन के साथ आया : "अगर माताजी तुम्हें टिम्बर के काम के बदले में मेडिकल काम का प्रस्ताव सचमुच दे दें तो तुम क्या कहोगे? उदाहरण के लिए, वे तुम्हारा सारा सांसारिक और असांसारिक सामान, सम्पत्ति समेत तुम जैसे विद्वान् और महानुभाव व्यक्ति का स्थानान्तरण डिस्पेंसरी में कर दें और उसे व्यवस्थित रखने का उत्तरदायित्व दे दें तो तुम क्या कहोगे? ...

"माताजी उत्सुक हैं कि तुम इस काम को ले लो; मैंने तुमसे कहा था कि जब डी. एस. का दिमाग गड़बड़ा गया तो उन्होंने तुम्हारे बारे में सोचा था; (बात तो खेद की है क्योंकि वह इस उत्तरदायित्व के लिए कई दृष्टिकोणों से आदर्श पात्र था) लेकिन उन्होंने तुम्हारे सामने प्रस्ताव इसलिए नहीं रखा था क्योंकि उन्हें निश्चित रूप से पता न था कि तुम पसन्द करोगे या..."

खैर, मैंने इस प्रस्ताव को काफी संकोच के साथ स्वीकार किया

क्योंकि मुझे कुबूल करना पड़ेगा कि "विदेशी डिग्रीधारी डॉक्टर" होते हुए भी मुझे काफ़ी ठोस अनुभव का सहारा न था। इसके अलावा मुझे आश्रम के जीवन का काफ़ी अनुभव हो चुका था जिसके कारण मुझे अपने व्यवसाय के बारे में आशंका हो रही थी। यानी, इन दो कारणों से मुझे माताजी और श्रीअरविन्द के मार्गदर्शन के ऊपर सतत निर्भर रहना पड़ेगा—डॉक्टरी के लिए और चिकित्सा के लिए भी।

जैसे ही मैंने काम हाथ में लिया, स्पष्ट शब्दों में मेरे उत्तरदायित्वों को रेखांकित कर दिया गया।

माताजी का पहला आदेश जो श्रीअरविन्द के शब्दों में आया, वह था, "डिस्पेंसरी को पूरी सतर्कता के साथ साफ-सुथरा रखना जैसे डी. एस. रखता था..." जब मैंने सुबह और दोपहर की हाज़िरी के बारे में पूछा, तो उत्तर था, "दो अलग बातें हैं—(१) साधक जिन्हें निश्चित समय की सीमा दी जा सकती है (२) मजदूर और नौकरों को निश्चित समय नहीं दे सकते, क्योंकि मजदूरों के साथ दुर्घटनाएं हो सकती हैं और तब उनको तुरन्त देखना चाहिये। जब मजदूरों के काम का समय खतम हो जाये उस समय तुम्हें डिस्पेंसरी में रहना चाहिये। नं. (२) हमारे लिए मुख्य है क्योंकि हमारे ऊपर काफी बड़ी जिम्मेदारी आ गयी है।" बाद में मुझे बताया गया कि चूंकि हम ब्रिटिश प्रजा हैं, हमें यहां 'मेडिकल प्रैक्टिस' करने का कानूनी अधिकार नहीं था। फ़रासीसी सरकार ने हमें इतनी रियायत दी थी कि हम अपने लोगों की चिकित्सा कर पाएं। इसीलिए श्रीअरविन्द ने "काफी बड़ी ज़िम्मेदारी" वाक्य का प्रयोग किया था। हमारे मजदूरों की संख्या काफी बड़ी थी और मुझे रोज़ उनके विषय में माताजी को रिपोर्ट भेजनी होती थी। दुर्घटनाएं विशेष महत्त्व रखती थीं; छोटी-मोटी बीमारियों को हमारी समझ-बूझ पर छोड़ दिया गया

था। किसी हालत में हम किसी भी तरह का खतरा नहीं मोल ले सकते थे। सब जटिल रोगों के लिए हमें बीमार को स्थानीय अस्पताल में भेजना पड़ता था। माताजी को मैं 'मेडिकल रिपोर्ट' भेजता था, उसमें साधकों की, नौकरों की और मजदूरों की सबकी रिपोर्ट होती थीं; मैंने देखा कि माताजी बड़ी बारीकी से सब देखा करती थीं और छोटे-से-छोटे विवरण भी उनकी नजर से छूट न पाते थे। अगर हड़बड़ी में या आलस्यवश मैं संक्षिप्त या अयथार्थ रिपोर्ट लिख भेजता तो श्रीअरविन्द मेरा ध्यान उस ओर खींचते हुए अपने मधुर उपहास-भरे ढंग से अधिक स्पष्टीकरण के लिए लिखते। मैं कहना चाहूंगा कि पत्र-व्यवहार श्रीअरविन्द ही करते थे किन्तु साधना और काम के विषय में जो व्यावहारिक निर्देश आते थे वे माताजी की ओर से ही आते थे। मैंने ध्यान से देखा कि बात कितनी भी नगण्य, तुच्छ-सी या गम्भीर हो वे सब पर पूरा-पूरा ध्यान देते थे। उनके लिए बीमार व्यक्ति साधक हो या मजदूर, सबके सब 'समम् ब्रह्म' थे। मैं भी इसलिए बीमारों में मध्यवर्गीय और गरीबों में भेद-भाव न रख पाता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक को 'रानी' के पास पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त था इसलिए मुझे अपने व्यवहार के बारे में सावधानी बरतनी पड़ती थी और मेडिकल उपचार में भी ध्यान रखना पड़ता था। पाठकों को मेरी मेडिकल छवि के बारे में पता ही होगा। गुरु ने अपनी उद्दीप्त कलम से मुझे ठोक-पीट कर अच्छे डॉक्टर का सूत्र लिख भेजा, "... परम्परा की मांग है कि डॉक्टर को मक्खन-सा नरम होना चाहिये, चाशनी-सा गले को तृप्त करनेवाला, चीनी-सा मीठा और जैम के जैसा लज़्ज़तदार होना चाहिये।"

—नीरदवरण

महासरस्वती

(पूर्णता और व्यवस्था की देवी)

भगवती मां का महासरस्वती रूप

(श्रीअरविन्द मां के चार महान् रूपों—उनकी चार पथ-प्रदर्शिका शक्तियों तथा व्यक्तित्वों के बारे में बतलाते हैं, ये चार रूप हैं—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। इस लेख में हम मां के महासरस्वती रूप को देखें।—सं०)

(१)

महासरस्वती माता की कर्मशक्ति और उनकी पूर्णता और सुव्यवस्था की आत्मा हैं। वे चारों में सबसे छोटी हैं, लेकिन कार्य-सञ्चालन की क्षमता में सबसे अधिक निष्णात हैं। वे भौतिक प्रकृति के सबसे अधिक निकट हैं। महेश्वरी जगत् की शक्तियों की विशाल रूप-रेखा तैयार करती हैं, महाकाली उनकी शक्ति और वेग को सञ्चालित करती हैं, महालक्ष्मी उनके ताल और लय को प्रकट करती हैं किन्तु महासरस्वती उनके संगठन और कार्य-सञ्चालन के ब्योरे, विवरण, विभिन्न भागों के पारस्परिक सम्बन्ध और बलों के सफल संयोजन और परिणाम तथा परिपूर्ति की अचूक यथार्थता की अधिष्ठात्री हैं। चीजों के बारे में ज्ञान, कला-कौशल और कारीगरी महासरस्वती का अपना क्षेत्र है। उनकी प्रकृति में हैं पूर्ण कार्यकर्ता का अन्तरंग और यथार्थ ज्ञान, सूक्ष्मता और धैर्य, सहज ज्ञानवाला मन, सचेतन हाथ और पारखी दृष्टि, और वे अपने चुने हुए लोगों को ये चीजें दे सकती हैं।

(२)

यह शक्ति बलवान्, अथक, सावधान और निपुण शिल्पी, संगठन-कर्ता, शासक, कारीगर और लोकों का वर्गीकरण करनेवाली है। जब वे प्रकृति के रूपान्तर और नव-निर्माण का काम हाथ में लेती हैं तो उनका काम श्रमपूर्ण और सूक्ष्म होता है और हमारे अधीर स्वभाव को बहुधा धीमा और बहुत अधिक लम्बा खिंचता हुआ लगता है, लेकिन वह स्थायी, पूर्ण और निर्दोष होता है। क्योंकि उनके काम का संकल्प अतिसतर्क, तन्द्राहीन और अश्रान्त होता है। वे हमारे ऊपर झुककर हर छोटे-से-छोटे ब्योरे को देखती हैं और छूती हैं, हर छोटे-से-छोटे दोष, दरार, बल या अपूर्णता को खोज लेती हैं और जो हो चुका है और जो करना बाकी है उन दोनों के बारे में विचार करके ठीक-ठीक मूल्यांकन करती हैं। उनकी दृष्टि के लिए कोई चीज अति तुच्छ या प्रत्यक्ष रूप में नगण्य नहीं है। कोई भी स्पर्शातीत, छद्मवेशी, या छिपी हुई चीज उनसे बच नहीं सकती। वे हर एक भाग को बार-बार सांचे में ढालती हैं और तबतक मेहनत करती रहती हैं जबतक वह अपने उचित रूप और सम्पूर्ण में अपने स्थान को पा न ले, और अपने नियत प्रयोजन को सिद्ध न कर ले। लगातार मेहनत के साथ चीजों को व्यवस्थित और पुनर्व्यवस्थित करते हुए वे सभी प्रयोजनों और उन्हें पूरा करने के तरीकों पर एक साथ नजर रखती हैं और उनका सहज ज्ञान जानता है कि किसे चुनना और किसे छोड़ना चाहिये और वे सफलता के साथ उचित यन्त्र, उचित समय, उचित परिस्थितियों और उचित प्रक्रिया को चुनती हैं।

(३)

वे असावधानी, उपेक्षा और अकर्मण्यता से घृणा करती हैं। लापरवाही, टाल-मटोल के साथ, बेगार टालना या जल्दबाजी में किया गया काम, फूहड़पन या 'चल जायेगा' की वृत्ति और एक की जगह कुछ दूसरा ही कर बैठना, साधन और शक्ति का मिथ्या आयोजन और दुरुपयोग, काम न करना या अधूरा छोड़ देना उनके स्वभाव के लिए अप्रीतिकर और विजातीय है। जब उनका काम पूरा होता है तो कहीं कोई भूल नहीं रहती, काम का कोई भाग गलत जगह पर, छूटा हुआ या दोषपूर्ण अवस्था में नहीं रहता, सब कुछ ठोस, यथार्थ, पूर्ण और प्रशंसनीय होता है। उन्हें पूर्ण पूर्णता से कम पर सन्तोष नहीं होता और अगर उन्हें सृष्टि की पूर्णता के लिए अनन्त काल तक परिश्रम करने की जरूरत हो तो वे उसके लिए भी तैयार रहती हैं। इसलिए माता की सभी शक्तियों में वे ही मनुष्य और उसकी हजारों अपूर्णताओं के साथ सबसे अधिक धीरज के साथ लगी रहती हैं।

(४)

अगर हम अपने संकल्प पर एकमन हों, निष्कपट और सत्य-निष्ठ रहें तो उन कृपालु, सदा मुस्कुरानेवाली, साथ रहकर सहायता करनेवाली, आसानी से मुंह न मोड़नेवाली, अनुत्साहित न होनेवाली, बार-बार असफल होने पर भी लगी रहनेवाली माता के हाथ हमें पग-पग पर सहारा देते हैं। वे दुविधा-भरे मन को नहीं सहतीं, ढोंग, पाखण्ड, आत्मवञ्चना और बहानेबाजी के प्रति उनका मर्मभेदी व्यंग्य निर्मम होता है। आवश्यकता के समय वे हमारी मां हैं, कठिनाइयों

के समय मित्र हैं, स्थिर और शान्त रूप से सलाहकार और परामर्शदाता हैं। वे अपनी ज्योतिर्मय मुस्कान से हमारी उदासी, हमारे उद्वेग और अवसाद के बादलों को तितर-बितर कर देती हैं। वे हमेशा याद दिलाती रहती हैं कि उनकी सहायता हमारे साथ है। वे शाश्वत सूर्य के प्रकाश की ओर इशारा करती हैं और दृढ़ता, निश्चलता और धैर्यपूर्वक हमें उच्चतर प्रकृति की ओर प्रेरित करती रहती हैं। माता की अन्य शक्तियों के सभी कार्य अपनी पूर्णता के लिए उनका सहारा लेते हैं क्योंकि वे ही भौतिक आधार को सुनिश्चित बनाती हैं, ब्योरे की सामग्री की व्यवस्था करती हैं, निर्माण के ढांचे को खड़ा करके उसमें कीलें जड़कर उसे मजबूत बनाती हैं।

—श्रीअरविन्द

चारों में सबसे छोटी

अपनी पूर्ति के लिए अन्य 'शक्तियों' का सारा काम उन पर (महासरस्वती पर) निर्भर करता है...।"

—श्रीअरविन्द

महासरस्वती पर। हां, क्योंकि वे... (मौन) यथार्थ रूप में पूर्णता की देवी हैं। उनके लिए हर एक चीज ब्योरे में की जानी चाहिये, और बिलकुल पूर्ण रूप से। और वे चाहती हैं, इस बात पर जोर देती हैं कि वह चीज भौतिक रूप से, पूर्ण रूप से और पार्थिव रूप से की जाये। वे नहीं चाहतीं कि चीज मानसिक या प्राणिक क्रिया की तरह हवा में ही रह जाये, बल्कि वह चीज अपने सभी ब्योरों में भौतिक सिद्धि हो, और हर एक ब्योरा पूर्ण हो, किसी की भी उपेक्षा न हो। इसलिए, दूसरे क्षेत्रों में अन्य (देवियां) जो काम शुरू करती हैं उसे वे

मूर्त रूप देती हैं और उसे अपनी भौतिक पूर्णता की ओर ले जाती हैं।

*

मधुर मां, महासरस्वती चारों में सबसे छोटी क्यों हैं?

क्योंकि उनका काम सबसे अन्त में आया; इसलिए वे भी बिलकुल अन्त में आयीं। (मौन) वे इसी क्रम में अभिव्यक्त हुई हैं, यहां जो क्रम दिया गया है उसके अनुसार। ये रूप भगवती मां की विशेषताओं के जैसे हैं जो काम की आवश्यकताओं के अनुसार एक के बाद एक अभिव्यक्त हुए; और पूर्णता की आवश्यकता अन्त में थी, इसलिए वे सबसे छोटी हैं।

*

... और अपनी विशिष्ट प्रकृति में, अपने प्रकम्पन के गुण में, वे बहुत समीप... एक नन्हें-से बच्चे के भी समीप हैं। वे नवयुवकों को, बच्चों को, बनती हुई वस्तुओं को, जिनके सामने रूपान्तरित होने और पूर्ण बनने के लिए एक लम्बा पथ बिछा हुआ है, उनको चाहती हैं। वे छोटे-छोटे बच्चों की क्रियावलियों को पसन्द करती हैं। वे स्वरूप में सबसे छोटी और अभिव्यक्ति में सबसे अन्तिम हैं।

—श्रीमां

मां के चार रूप

भगवती शक्ति ही है वह सचेतन 'शक्ति' और वैश्व भगवती जो शाश्वतकाल से सबका सृजन कर रही है और परम आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता से सुसम्पन्न है। सम्पूर्ण ज्ञान, समस्त शक्तियां, समस्त

सफलता और विजय, समस्त कौशल और कर्म उसी के हाथों में है और वे परम आत्मा के ऐश्वर्यों और समस्त पूर्णताओं तथा सिद्धियों से भरपूर हैं। **महेश्वरी हैं**, परम ज्ञान की देवी और वे ही हमारे सामने सब तरह के सत्यों और उन सत्यों की विशालता को प्रकट करती हैं, हमारे अन्दर अपने आध्यात्मिक संकल्प की यथार्थता, अपनी अतिमानसिक विशालता की शान्ति तथा संवेगशीलता और अपना ज्योतिर्मय आनन्द लाती हैं। **महाकाली हैं**—परम शक्ति की देवी और समस्त शक्तियां, आत्म-बल, तपस् की उग्रतम कठोरता, संग्राम का वेग, विजय और अट्टहास्य उन्हीं के अन्दर विद्यमान हैं; अट्टहास्य ऐसा जो पराजय और मृत्यु को तथा अज्ञान की शक्तियों को तिनके-समान समझता है। **महालक्ष्मी हैं**—परम प्रेम और आनन्द की देवी और उनके उपहार हैं—आत्मा का सुषमापूर्ण लालित्य, आनन्द की मोहकता और सौन्दर्य, अभयदान और हर तरह का भागवत तथा मानव आशीर्वाद। **महासरस्वती हैं**—दिव्य कौशल और परम आत्मा के सभी कार्यों की अधिष्ठात्री देवी, और जिस योग को कर्म-कौशल, **योगः कर्मसु कौशलम्**, कहा जाता है वह महासरस्वती का ही है; इसी तरह दिव्य ज्ञान के विभिन्न उपयोग, आत्मा का अपने-आपको जीवन के क्षेत्र में प्रयुक्त करना और उसके सामञ्जस्यों का आनन्द उठाना महासरस्वती के ही गुण और कार्य हैं। अपनी सभी शक्तियों और अपने सभी रूपों में वे सनातन ईश्वरी के प्रभुत्वों की चरम भावना को अपने संग रखती हैं, और उनके साथ-साथ चलते हैं—उन सभी प्रकार के कार्यों के लिए तीव्र और दिव्य सामर्थ्य जिन कार्यों की मांग यन्त्र से की जा सकती है—सभी के साथ एकता, सहानुभूति, मुक्त तादात्म्य; और इसके लिए आवश्यकता होती है विश्व में कार्य कर रहे समस्त दिव्य संकल्प के साथ सहज और फलप्रद सामञ्जस्य की।

—श्रीअरविन्द

कर्म में उचित वृत्ति

कर्म से मेरा अभिप्राय वह कर्म नहीं है जो अहंकार और अज्ञानता में, अहंकार की तुष्टि के लिए और राजसी कामना के आवेश में किया जाता है। अहंकार, रजस् और कामना हैं अज्ञान की मुहरछाप और इनसे मुक्त होने की इच्छा के बिना कर्मयोग हो ही नहीं सकता।

कर्मयोग से मेरा अभिप्राय परोपकार या मनुष्यजाति की सेवा या इस तरह की नैतिक या आदर्शवादी चीजों से नहीं है जिन्हें मनुष्य का मन कर्मों के गभीरतर सत्य के स्थान पर ला बैठाता है।

कर्म से मेरा अभिप्राय वह कर्म है जो भगवान् के लिए किया जाये, भगवान् से अधिकाधिक युक्त होकर किया जाये—केवल भगवान् के लिए किया जाये, और किसी चीज के लिए नहीं। स्वभावतः, आरम्भ में यह सरल नहीं है, जैसे गभीर ध्यान और ज्योतिर्मय ज्ञान या सच्चा प्रेम और भक्ति भी आरम्भ में सहज नहीं होते। परन्तु ध्यान, ज्ञान, प्रेम, भक्ति की तरह कर्म भी यथावत् उचित भाव और उचित वृत्ति तथा उचित संकल्प के साथ आरम्भ करना चाहिये, तब बाकी सब अपने-आप होगा।

इस भाव के साथ किये जानेवाले कर्म भक्ति या ध्यान जैसे ही प्रभावकारी होते हैं। कामना, रजस् और अहंकार के त्याग से स्थिरता और पवित्रता आती है जिसमें शाश्वती शान्ति उतर सकती है; अपना संकल्प भगवत्संकल्प पर उत्सर्ग करने से, अपनी इच्छा भगवदिच्छा में निमज्जित करने से अहंभाव का अन्त होता है और साधक की चेतना विश्वचेतना के अन्दर फैल जाती है या विश्व के भी ऊपर जो कुछ है उसके अन्दर उठ जाती है; प्रकृति से पुरुष की पृथक् सत्ता अनुभूत होती है और बाह्य प्रकृति के बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है;

अपने आन्तर स्वरूप का साक्षात्कार होता है और बाह्य स्वरूप केवल यन्त्र के रूप में दीखता है; यह प्रतीति होती है कि वैश्व शक्ति हमारा कार्य कर रही है और आत्मा या पुरुष निरीक्षक या साक्षी है पर मुक्त है; उस समय ऐसा लगता है कि हमारे सब कार्य विश्वजननी या परम माता या भगवती शक्ति ने अपने हाथों में ले लिये हैं और वे ही हृदय के पीछे से नियन्त्रण और कर्म कर रही हैं। अपने सब संकल्प और कर्म निरन्तर भगवान् को निवेदित करते रहने से प्रेम और भक्ति बढ़ते हैं और हृत्पुरुष सामने आ जाता है। ऊर्ध्वस्थित शक्ति को निवेदित करने से, हम क्रमशः अपने ऊपर उसकी सत्ता का अनुभव कर सकते और साथ ही अपने अन्दर उसका अवतरण तथा उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान चेतना और ज्ञान की ओर उद्घाटन का भी अनुभव कर सकते हैं। अन्त में कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों एक साथ चलते हैं और आत्मपरिपूर्ति सम्भव होती है—अर्थात् वह होता है जिसे हम प्रकृति का दिव्यीकरण कहते हैं।

ये सब बातें निश्चय ही एकदम एक साथ नहीं होतीं; साधक की अवस्था और पात्रता के अनुसार अल्पाधिक मन्द गति से, अल्पाधिक पूर्णता के साथ आती हैं। भगवत्साक्षात्कार का कोई ऐसा सीधा-सरल राजमार्ग नहीं है कि चले नहीं कि पहुंच गये।

—श्रीअरविन्द

*

आत्मसमर्पण किसी विशेष कर्म पर नहीं निर्भर करता जिसे तुम करते हो, बल्कि उस भाव पर निर्भर करता है जिसके साथ सभी कर्म, चाहे वे जिस प्रकार के क्यों न हों, किये जाते हैं। कोई भी कार्य जो भगवान् के प्रति यज्ञ के रूप में, कामना या अहंकार से रहित होकर, मन की समता और सौभाग्य या दुर्भाग्य के प्रति स्थिर

प्रशान्ति के साथ, अपने किसी व्यक्तिगत लाभ, पुरस्कार या परिणाम के लिए नहीं बल्कि भगवान् के लिए किया जाता है और इस चेतना के साथ अच्छी तरह और सावधानी के साथ किया जाता है कि सच पूछा जाये तो सभी कर्म भागवत शक्ति के हैं, वही कर्म आत्मसमर्पण का साधन होता है।

*

चेतना में चीजों के पक्का हो जाने से पहले, कर्म करने पर चेतना जरूर बाहर की ओर खिंच जाती है, जब तक कि व्यक्ति ने इस अनुभव को अपनी साधना न बना लिया हो कि "उससे बड़ी कोई महानतर शक्ति" उसके द्वारा काम कर रही है।

—श्रीअरविन्द

-131528

पूर्णता की खोज के लिए उचित वृत्ति

मधुर मां, यहां लिखा है : "इस मुक्ति, पूर्णता, समग्रता की खोज भी हमारे अपने लिए नहीं, भगवान् के लिए होनी चाहिये।"

लेकिन क्या हम अपने लिए साधना नहीं करते?

वे ठीक इसी चीज पर जोर दे रहे हैं। यह सिर्फ इसी बात पर जोर देने के लिए है। इसका मतलब है कि यह समस्त पूर्णता जिसे हम प्राप्त करनेवाले हैं, किसी व्यक्तिगत या स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के लिए नहीं है, यह भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए, उनकी सेवा में निवेदित की जाती है। हम इस विकास की खोज व्यक्तिगत पूर्णता के स्वार्थपूर्ण इरादे से नहीं करते; हम यह खोज इसलिए करते हैं क्योंकि

भगवान् का काम पूरा करना है।

लेकिन हम यह भागवत कार्य करते ही क्यों हैं? अपने-आपको...

नहीं, नहीं, हर्गिज नहीं। हम इसलिए करते हैं क्योंकि यह भगवान् की इच्छा है। यह व्यक्तिगत कारण से हर्गिज नहीं है, ऐसा नहीं होना चाहिये। हम यह इसलिए करते हैं क्योंकि यह भगवान् की इच्छा है और यह भगवान् का कार्य है।

जब तक निजी अभीप्सा या कामना, एक स्वार्थपूर्ण इच्छा उसमें मिलती रहें, वे हमेशा एक मिश्रण पैदा करती हैं और यथार्थ रूप में भागवत इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं होतीं। महत्त्वपूर्ण चीज बस एक ही होनी चाहिये, वह है भगवान्, उनकी इच्छा, उनकी अभिव्यक्ति, उनकी अभिव्यञ्जना। हम यहां पर उसी के लिए हैं, हम वही हैं, और कुछ भी नहीं। और जब तक स्व की, अहं की, व्यक्ति की भावना आती रहे, तो, यह इस बात का प्रमाण है कि तुम अभी तक वह नहीं हो जो तुम्हें होना चाहिये, बस। मैं यह नहीं कहती कि यह रातोंरात हो सकता है, लेकिन वस्तुतः सत्य यही है।

यह है क्योंकि इस क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में, बहुत अधिक लोग ऐसे होते हैं (मैं कह सकती हूं कि बहुसंख्यक लोग हैं जो आध्यात्मिक जीवन को अपनाते और योग करते हैं), इनमें से बहुत अधिक लोग इसे निजी कारणों से अपनाते हैं, सब तरह के व्यक्तिगत कारणों से अपनाते हैं : कुछ इसलिए कि वे जीवन से उकता गये हैं, कुछ इसलिए कि वे दुःखी हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो ज्यादा जानना चाहते हैं, कुछ इसलिए कि वे आध्यात्मिक दृष्टि से महान् बनना चाहते हैं, कुछ इसलिए कि वे ऐसी चीजें सीखना चाहते हैं जिन्हें वे

दूसरों को सिखा सकें; वस्तुतः योग-साधना करने के लिए हजारों व्यक्तिगत कारण होते हैं। लेकिन अपनी सारी पवित्रता और निरन्तरता में यह सरल-सा तथ्य कि तुम अपने-आपको भगवान् को दे दो ताकि भगवान् तुम्हें लेकर अपनी इच्छा के अनुसार गढ़ सकें; हां तो, इसे करनेवाले बहुत नहीं हैं पर फिर भी वास्तविक सत्य यही है; और इसके साथ तुम सीधे लक्ष्य की ओर जाते हो और कभी भूल करने का भय नहीं रहता। अन्य सभी हेतु हमेशा मिश्रित होते हैं, अहं से दूषित होते हैं; और स्वभावतः वे तुम्हें लक्ष्य से बहुत दूर, इधर-उधर ले जाते हैं।

पर इस प्रकार की अनुभूति कि तुम्हारे जीवन का बस, एकमात्र हेतु, एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र अभिप्राय है भगवान् के प्रति पूरा-पूरा, सम्पूर्ण, समग्र, इस हदतक समर्पण कि तुम अपने-आपको उनसे अलग न जान सको, पूरी तरह से, सम्पूर्ण भाव से, समग्र रूप से, सर्वभावेन वही बन जाओ, किसी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के हस्तक्षेप के बिना वही बन जाओ—यही आदर्श मनोवृत्ति है; और इसके अतिरिक्त, यही एक चीज है जो तुम्हारे लिए जीवन और कार्य में आगे बढ़ना सम्भव बनाती है। तब तुम हर चीज से सुरक्षित होगे और अपने-आप से सुरक्षित होगे—यह "अपने-आप" ही तुम्हारे लिए सबसे बड़ा संकट है—अपने-आपसे बढ़कर और कोई संकट नहीं है (यहां "अपने-आप" से मेरा मतलब अहंकारमय स्व से है)।

—श्रीमां

अपने-आपको पूर्ण बनाने का पहला पग

... अपने-आपको पूर्ण बनाने के लिए तुम्हें सबसे पहले स्वयं अपने प्रति सचेतन होना होगा। उदाहरण के लिए, मुझे विश्वास है,

तुम्हारे जीवन में यह घटना अवश्य ही कई बार घटी होगी; अचानक कोई तुमसे पूछता है, "तुमने ऐसा क्यों किया?" और सहज उत्तर निकलता है, "मालूम नहीं।" यदि कोई तुमसे पूछता है, "किस चीज़ के विषय में सोच रहे हो?" तो तुम उत्तर देते हो, "मालूम नहीं।" "तुम क्यों थके हुए हो?" "मालूम नहीं।" "तुम क्यों प्रसन्न हो?" "मालूम नहीं।" इत्यादि-इत्यादि। निःसन्देह, यदि मैं किन्हीं पचास लोगों को लूं और उनकी किसी तैयारी के बिना अकस्मात् पूछूं, "तुमने ऐसा क्यों किया?" तो यदि वे अन्दर से 'जाग्रत्' न हों तो बस यही उत्तर देंगे, "मालूम नहीं।" (अवश्य ही मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जिन्होंने अपने-आपको जानने के लिए और अपनी गतियों का अन्तिम सीमा तक अनुसरण करने के लिए किसी अनुशासन का अभ्यास किया है। ऐसे लोग स्वभावतः ही सचेतन और एकाग्र होकर सही उत्तर दे सकते हैं, यद्यपि इसमें कुछ समय लगेगा।) यदि तुम अपने सारे दिन पर अच्छी तरह निगाह डालो तो तुम्हें पता चलेगा कि बात ऐसी ही है। तुम कोई बात कहते हो और यह भी नहीं जानते कि ऐसा क्यों कह रहे हो—जब शब्द मुंह से बाहर निकल जाते हैं केवल तभी तुम्हें यह बोध होता है कि यह बात ठीक वही नहीं थी जिसे तुम कहना चाहते थे। उदाहरण के लिए, तुम किसी से मिलने जाते हो, तुम जो शब्द कहनेवाले हो उन्हें पहले से ही तैयार कर लेते हो, किन्तु उस व्यक्ति के सम्मुख पहुंचकर कुछ भी नहीं कहते या तुम्हारे मुंह से कुछ और ही शब्द निकल जाते हैं। क्या तुम कह सकते हो कि उस व्यक्ति के वातावरण ने तुमपर किस हद तक प्रभाव डाला और तुमने जो बात तैयार कर रखी थी उसे कहने से रोका?....

ऐसी स्थिति में रहने के लिए, जिसमें कि तुम सतर्कता से निरीक्षण कर सको, तुम्हारे पास मानों सर्वत्र ऐसे बेतार के तार रहने

चाहियें जो तुम्हारी चेतना के सच्चे केन्द्र के साथ सतत सम्पर्क बनाये रखें। तब तुम प्रत्येक चीज अंकित कर लोगे, प्रत्येक चीज संगठित कर लोगे और इस प्रकार तुम अनजाने पकड़ में नहीं आओगे, तुम धोखा नहीं खाओगे, गलती नहीं करोगे, और तुम जो कुछ कहना चाहोगे उससे भिन्न कुछ नहीं कहोगे। किन्तु साधारणतः कितने लोग इस अवस्था में रहते हैं? जब मैं "सचेतन होने" की बात कहती हूं तो मेरा तात्पर्य ठीक यही होता है। जिन दशाओं और परिस्थितियों में तुम रहते हो उनसे यदि अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहते हो तो तुम्हें पूरी तरह जाग्रत् रहना होगा; ऐसा नहीं होना चाहिये कि तुम अचानक पकड़ में आ जाओ। तुम्हें कोई काम यह जाने बिना नहीं करना चाहिये कि तुम उसे क्यों कर रहे हो, कोई बात यह जाने बिना नहीं कहनी चाहिये कि तुम उसे क्यों कह रहे हो। तुम्हें निरन्तर जागरूक रहना चाहिये।

तुम्हें यह भी समझना चाहिये कि तुम लोग कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं हो; जीवन सब प्रकार की शक्तियों, चेतनाओं, गतियों और स्पन्दनों का एक सतत आदान-प्रदान है। यह एक ऐसी चीज़ है मानों एक भीड़ में तुम देखते हो : जब हर एक धकेलता है, तो सब आगे बढ़ते हैं और जब सब पीछे हटते हैं तो हर एक पीछे हटता है। यही बात आन्तरिक जगत् में, तुम्हारी चेतना में भी होती है। वहां तुमपर सदैव शक्तियों और प्रभावों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है, यह वातावरण में विद्यमान एक गैस के जैसी चीज़ है और यदि तुम एकदम जाग्रत् न रहो तो ये चीज़ें तुम्हारे अन्दर प्रवेश कर जाती हैं और इनका पता तुम्हें केवल तभी चलता है जब वे तुम्हारे अन्दर भली-भांति प्रविष्ट हो चुकती हैं और इस प्रकार निकलकर आती हैं मानों तुम्हारे अन्दर से निकलती हों। कितनी बार ऐसा होता है कि मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति से मिलता है जो घबड़ाया हुआ, क्रोध में

या खिन्न अवस्था में है, और फिर वह स्वयं उसीके जैसा घबड़ाया हुआ या क्रुद्ध या खिन्न बन जाता है और यह नहीं जानता कि ऐसा क्यों हो गया। भला ऐसा क्यों होता है कि कुछ प्रतिद्वन्द्वियों के सामने तो तुम बहुत अच्छा खेलते हो, और कुछ दूसरों के सामने नहीं खेल पाते? और जो व्यक्ति शान्त स्वभाव के हैं, दुर्जन बिलकुल नहीं हैं, वे किसी क्रुद्ध भीड़ के बीच पड़कर अचानक क्यों उग्र हो जाते हैं! और यह कोई नहीं जानता कि किसने उस चीज़ की शुरुआत की; यह ठीक ऐसी चीज़ है जो पास से गुज़र गयी और चेतना को बहा ले गयी। ऐसे लोग होते हैं जो इस तरह स्पन्दन छोड़ सकते हैं और दूसरे कारण जाने बिना उसका प्रत्युत्तर देते हैं। प्रत्येक चीज़, सबसे छोटी से लेकर सबसे बड़ी तक, ऐसी ही है।

किसी समूह के अन्दर अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी 'आत्मा' के प्रति पूर्णतया सचेतन हों। पर किस 'आत्मा' के प्रति? अपनी उस 'आत्मा' के प्रति जो किसी भी प्रकार के मिश्रण से ऊपर है, जिसे मैं तुम्हारी सत्ता का 'सत्य' कहती हूं। और जबतक तुम अपनी सत्ता के 'सत्य' के प्रति सचेतन नहीं हो तबतक एकदम अनजान में ही हर प्रकार की चीज़ों से चालित होते रहते हो। सामूहिक विचार और सामूहिक सुझाव का बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के विचार पर इनकी निरन्तर क्रिया होती रहती है। और विलक्षण बात तो यह है कि इनकी जानकारी किसी को नहीं होती । व्यक्ति सोचता है कि वह 'अमुक प्रकार' से सोच रहा है, किन्तु वास्तव में समुदाय ही उस प्रकार सोच रहा होता है। समुदाय सदा ही व्यक्ति से निम्न कोटि का होता है। तुम समान गुणवाले, एक ही श्रेणी के लोगों से कम-से-कम दो अंश ऊपर होगे। बात यह होती है कि भीड़ में अन्धकारपूर्ण और अचेतन चीज़ों का मिश्रण रहता है और तुम बेबस होकर अचेतनता

में फिसल जाते हो। इससे बच निकलने का बस एक ही उपाय है; वह है अपने विषय में सचेतन होना, अधिकाधिक सचेतन होना और अधिकाधिक सतर्क होना।

यह छोटा-सा अभ्यास करने का प्रयत्न करो। दिन के आरम्भ में कहो, "जो कुछ मुझे कहना होगा उसपर विचार किये बिना मैं कुछ नहीं बोलूंगा।" तुम्हारा यह विश्वास है, है न, कि तुम जो कुछ भी कहते हो सोचकर कहते हो! किन्तु यह बिलकुल ही सही नहीं है, तुम देखोगे कि कितनी ही बार जो शब्द तुम बोलना नहीं चाहते वही फूट पड़ने को तैयार है और उसे बाहर निकलने से रोकने के लिए तुम्हें सचेतन प्रयत्न करने के लिए विवश होना पड़ता है।

मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो झूठ न बोलने के लिए बहुत ही सावधान रहते थे; किन्तु जब वे किसी समुदाय में होते थे, तो सत्य न बोलकर सहजभाव से झूठ बोलने लगते थे। वे ऐसा करना नहीं चाहते थे पर यह 'यूं ही' हो जाता था। क्यों?—क्योंकि वे झूठ बोलनेवालों की संगति में रहते थे; उनके साथ झूठ का वातावरण होता था और बिलकुल सहजभाव से वे इस रोग से आक्रान्त हो जाते थे।

इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके, धीरे-धीरे, निरन्तर प्रयास करके, सबसे पहले बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ मनुष्य सचेतन होता है, अपने-आपको जानना और बाद में अपने-आपको वश में करना सीखता है।

—श्रीमां

व्यवस्था को कैसे लाया जाये

शिष्य : सचमुच ऐसा लगता है कि संसार में विक्षोभ फैला हुआ है...।

... सवेरे से ऐसा हो रहा है—हड़तालें, झगड़े, अव्यवस्थाएं...। और कुछ ऐसा भाव है कि जिन्होंने अव्यवस्था पैदा की है उन्हीं की सहायता से व्यवस्था फिर से लायी जाये। यही चीज करनी है। सामान्य सद्भावना और समस्त नैतिक और सामाजिक नियमों की जगह—ये सब ढह चुके हैं—तुम्हें ऊपर उठना चाहिए, भागवत 'इच्छा', और भागवत 'सामञ्जस्य' होने चाहिएं। हम यही तो चाहते हैं। और फिर, जिन लोगों ने चीजों के सामान्य विधान और सामान्य सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह किया है उन्हें सिद्ध करना होगा कि वे उच्चतर चेतना और सत्यतर सत्य के साथ सम्पर्क में हैं।

यह करने का समय है... (ऊपर की ओर छलांग का संकेत)।

और व्यवस्था करनेवाली शक्ति की दृष्टि से, यह एक शक्ति है... अत्यधिक शक्तिशाली। यह अद्भुत है। और अगर यह शक्ति उच्चतर व्यवस्था, सत्यतर चेतना की सेवा में रखी जाये तो कुछ किया जा सकता है।

व्यक्ति को ऊपर... ऊपर की ओर छलांग मारनी होगी।

वे सब लोग जो व्यवस्था को फिर से लाना चाहते हैं वे पीछे की ओर, पुराने विचारों की ओर खिंचते हैं—और इसीलिए वे कभी सफल नहीं होते। यह सब खतम हो चुका है, हमेशा के लिए खतम हो चुका है। हम ऊपर की ओर जायेंगे। केवल वे ही काम कर सकते हैं जो ऊपर की ओर उठें।

... मुझे ठीक पता नहीं कि मैं किस दिशा में जा रहा हूं।

दिशा बस एक ही है—भगवान् की ओर। और जैसा कि तुम जानते हो, वह उतनी ही अन्दर है जितनी बाहर, उतनी ही ऊपर है जितनी नीचे। वह सब जगह है। इस जगत् में, जैसा कि वह है, भगवान् को पाना और उनके साथ चिपके रहना चाहिए—केवल उन्हीं के साथ, कोई और रास्ता नहीं है।

—श्रीमां

संयोग क्या है

"संयोग" शब्द से हम क्या समझते हैं? संयोग व्यवस्था और सामञ्जस्य का उल्टा हो सकता है। सच्चा सामञ्जस्य केवल एक ही है और वह है अतिमानसिक सामञ्जस्य—सत्य का राज्य, भागवत विधान की अभिव्यक्ति। इसलिए अतिमानस में संयोग का कोई स्थान नहीं होता। लेकिन निचली प्रकृति में परम सत्य धुंधला जाता है और इस कारण उस उद्देश्य और उस कर्म की दिव्य एकता का अभाव हो जाता है जिनसे सुव्यवस्था बनती है। प्रकृति के ऊपर उसका राज्य है जिसे हम संयोग कह सकते हैं—अर्थात्, वह एक ऐसा क्षेत्र है जहां समान और सुनिश्चित लक्ष्य न रखनेवाली शक्तियां आपस में टकराती हुई मिलती हैं। इस प्रकार साथ-साथ दौड़-भाग करती हुई शक्तियों से जो पैदा होता है वह अस्तव्यस्तता, बेसुरेपन और मिथ्यात्व का परिणाम—संयोग की उपज होता है। संयोग किसी कारण न जाननेवाले अज्ञान को ढकने के लिए एक धारणामात्र नहीं है। वह निम्न प्रकृति के अनिश्चित-से झमेले का नाम है जिसमें भागवत सत्य की शान्त एकाग्रता नहीं होती। जगत् अपने भागवत

स्रोत को भूल गया है और अहंकार की शक्ति की रणस्थली बन गया है, लेकिन अब भी उसके लिए यह सम्भव है कि वह सत्य की ओर खुले, अपनी अभीप्सा के द्वारा उसे नीचे उतार लाये और संयोग के भंवर में परिवर्तन ला सके। अपने मानसिक संयोजन, अनुभव और सामान्य अनुमान करने के तरीके के कारण लोग जिसे घटनाओं का यान्त्रिक परिणाम मानते हैं वह सचमुच विभिन्न सूक्ष्म शक्तियों द्वारा लाया जाता है जिनमें से हर एक अपनी इच्छा पूरी करना चाहती है। जगत् इन अदिव्य शक्तियों के इतने आधीन हो गया है कि युद्ध किये बिना 'सत्य' की विजय नहीं हो सकती। उसका विजय पर अधिकार नहीं है : उसे मिथ्यात्व और विकारों से नाता तोड़ना होगा। इस विकृति का एक सामान्य अंश यह धारणा है कि चूंकि अन्ततोगत्वा सभी चीजों का मूलस्रोत भगवान् हैं इसलिए सभी सामयिक क्रियाएं भी सीधी भगवान् से ही आयी हैं। तथ्य यह है कि यहां, निम्न प्रकृति में, भगवान् एक वैश्व अविद्या के परदे से ढके हुए हैं और यहां जो कुछ होता है वह सीधा भागवत ज्ञान से नहीं आता। यह कहना कि हर चीज समान रूप से भगवान् की इच्छा से है, बहुत आसान सुझाव है और यह उन विरोधी प्रभावों का सुझाव है जो चाहते हैं कि सृष्टि उसी कुरूपता और अव्यवस्था के साथ जोर से चिपकी रहे जिसमें उसे पहुंचा दिया गया है। तुम पूछोगे कि फिर क्या किया जाये? सुनो, ऊपर से 'प्रकाश' को नीचे बुलाओ और अपने-आपको रूपान्तर की शक्ति के प्रति खोलो। अनगिनत बार तुम्हें दिव्य शान्ति दी जा चुकी है और अनगिनत बार ही तुम उसे खो चुके हो—क्योंकि तुम्हारे अन्दर कोई चीज अपने अहंकारमय तुच्छ नित्यक्रम को समर्पित करने से इन्कार करती है। अगर तुम सदा जागरूक न रहो तो ऊपर से आनेवाले 'सत्य' से भर जाने के बाद भी तुम्हारी प्रकृति अपनी पुरानी पुनरुद्धार-वञ्चित आदतों की

ओर वापिस चली जायेगी। प्राचीन और नवीन का संघर्ष ही योग की मुख्य पहेली है; लेकिन अगर तुम अपने अन्दर प्रकट किये जानेवाले परम 'विधान' और 'व्यवस्था' के प्रति निष्ठा रखने के लिए कटिबद्ध हो तो धीरे-धीरे तुम्हारे वे भाग, जो संयोग के क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं, परिवर्तित होते जायेंगे और दिव्य बन जायेंगे।

—श्रीमां

व्यवस्था : सभी अच्छे कार्यों के लिए अनिवार्य

हे मां, मैं इस बात से सहमत हूं कि मेरा जीवन और मेरा कार्य व्यवस्थित नहीं हैं। क्या आप उन्हें व्यवस्थित करने में मेरी सहायता नहीं कर सकतीं?

पहला कदम है, अपने रोज के अनुशासन में **नियमितता** की आदत डालना।

*

... विचारणीय प्रश्न केवल समय का रह जाता है, जिसे दो तरह से हल किया जा सकता है : पहले तो अपने जीवन को आलोकित और व्यवस्थित ढंग से संगठित किया जाये और दूसरे समय को व्यर्थ न गंवाया जाये; अधिकतर लोग अपना समय निरर्थक प्रवृत्तियों में गंवा देते हैं—यदि ये निरर्थक प्रवृत्तियां गायब हो जायें तो सारे संसार के लिए एक आशीर्वाद होगा—और इन प्रवृत्तियों में मैं पहले नम्बर पर जिसे रखती हूं वह है गप्पें मारना, अर्थात् अपने मित्रों से, अपने साथियों से निरर्थक बातें करना... सभी प्रवृत्तियों में। बातचीत में जो समय खराब होता है वह बहुत ज्यादा होता है। जहां एक शब्द पर्याप्त होता है, तुम पचास बोलते हो और केवल

यही समय की एकमात्र क्षति नहीं है...। वस्तुतः जब किसी क समय की कमी प्रतीत होती है तो इसका मतलब होता है कि व अपने जीवन को व्यवस्थित करना नहीं जानता। अवश्य ही, ऐस लोग भी हैं जो बहुत सारे काम करते हैं पर वह भी यह दिखाता ह कि जीवन में व्यवस्था का अभाव है।

सच्ची व्यवस्था में प्रत्येक चीज को उसी अनुपात में स्थान प्राप्त होता है जितना उसे चाहिये। तुम सब अच्छी तरह जानते हो कि दस-पन्द्रह मिनट के सुसमन्वित व्यायाम से तुम शरीर को उसके लिए आवश्यक सब प्रशिक्षण दे सकते हो। यह तुम्हें यहां सिखाय गया है और तुम्हारे सामने प्रमाणित भी किया जा चुका है। शरीर की समुचित समतोलता के लिए इतना पर्याप्त है। अवश्य ही, खेलों से और भी कई प्रकार की योग्यताएं प्राप्त होती हैं, परन्तु तुम प्रतिदिन, जैसा कि मैं जानती हूं, अधिक-से-अधिक एक घण्टे से ज्यादा नहीं खेलते और दिन भर में इतना समय देना अधिक नहीं है।

यह एक बहाना है! अपने जीवन को व्यवस्थित करो और तुम देखोगे कि प्रत्येक चीज के लिए तुम्हारे पास अवकाश है...।

—श्रीम

कार्य में पथ-प्रदर्शन

यह सच है कि मेरी शक्ति हमेशा उसके साथ रहती है ताकि उसे अपना काम करने में सहायता दे; लेकिन मेरी शक्ति तत्त्वतः पूर्णता की शक्ति है और उसे पूरी तरह काम करने देने के लिए व्यक्ति के अन्दर काम में प्रगति करने के लिए सतत इच्छा होनी चाहिये।

*

अपने-आपको भगवान् की शक्ति के प्रति अधिकाधिक खोलो, तुम्हारा काम पूर्णता की ओर निरन्तर प्रगति करता रहेगा।

*

काम में तुम्हारा आदर्श पूर्णता से जरा भी कम न होना चाहिये। तब तुम निश्चय ही भगवान् के सच्चे यन्त्र बन जाओगे।

*

काम में व्यवस्था और सामञ्जस्य होने चाहियें, जो काम यूं देखने में बिलकुल नगण्य है उसे भी पूर्ण पूर्णता के साथ, सफाई, सुन्दरता, सामञ्जस्य और सुव्यवस्था के साथ करना चाहिये।

*

तुम जो कुछ करो, भरसक पूर्णता के साथ करो। मनुष्य के अन्दर भगवान् की यह सबसे अच्छी सेवा है।

*

तुम जो काम कर रहे हो उसे जारी रखो, लेकिन यह कभी न भूलो कि वह ज्यादा अच्छा हो सकता है और उसे होना चाहिये।

*

कुशल हाथ, यथार्थ सावधानी, अविच्छिन्न मनोयोग हों तो तुम 'जड़-पदार्थ' को 'आत्मा' की आज्ञा मानने के लिए बाधित करोगे।

*

"तुम कहते हो, 'मैं अपना संकल्प भगवान् को देता हूं...।

> *'भागवत संकल्प' उसे मेरे लिए क्रियान्वित करे।' तुम्हारे संकल्प को भी अनवरत कार्य जारी रखना होगा, किसी विशेष कर्म का चुनाव करते हुए अथवा किसी विशेष वस्तु की मांग करते हुए नहीं, बल्कि एक ऐसी तीव्र अभीप्सा के रूप में जो प्राप्तव्य लक्ष्य पर केन्द्रित हो।"*
>
> श्रीमां, खण्ड ३, पृ. १९

और बस यहीं हमें समस्या का समाधान मिलता है। तुम प्रत्येक मुहूर्त अपने संकल्प को एक अभीप्सा के रूप में अर्पित कर सकते हो जो बहुत सरल ढंग से, ठीक यह नहीं कि 'हे प्रभु! तेरी इच्छा पूर्ण हो," बल्कि यह रूप लेती है कि "ऐसी कृपा कर कि मैं यथासम्भव अच्छे-से-अच्छे रूप में उस चीज को सम्पन्न करूं जो सर्वोत्तम हो।"

हो सकता है कि तुम्हें प्रत्येक क्षण यह मालूम न हो कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है और उसे कैसे करना चाहिये, पर तुम अपनी इच्छा को भगवान् के हाथों में सौंप सकते हो जिससे कि सर्वोत्तम सम्भवनीय, सर्वोत्तम सम्भाव्य वस्तु सम्पन्न हो सके। तुम देखोगे कि इसके अद्‌भुत परिणाम होंगे। तुम चेतनता, सचाई और लगन के साथ इसे करो, और तुम अपने को विराट् पगों से आगे बढ़ते हुए पाओगे। यह ऐसी ही बात है, है न? मनुष्य को अपनी आत्मा के समस्त आवेग के साथ, अपने संकल्प के समस्त बल-सामर्थ्य के साथ कार्य करना चाहिये; प्रत्येक मुहूर्त अधिक-से-अधिक सम्भव, अधिक-से-अधिक सम्भव कार्य करो।

—श्रीमां

सोसायटी समाचार

शुभ नव वर्ष : "भूतकाल को भूतकाल ही रहने दो। केवल शाश्वत पर एकाग्रचित्त होओ।"—यह था श्रीमां का वह वाक्य जो पहली जनवरी २००६ को आश्रम में बंटे नये वर्ष के सन्देश पर अंकित था।

२१ फरवरी—श्रीमां की १२८वीं वर्ष-जयन्ती आश्रम तथा देश-विदेश के सोसायटी के केन्द्रों तथा शाखाओं में मनायी जायेगी।

श्रीमां के बारे में नलिनीकान्त गुप्त के एक अन्तर्दर्शन का कुछ हिस्सा देखें :

श्रीमां कह रही हैं : "देखो, मुझे देखो। यहां मैं अपने नये शरीर में वापिस आ गयी हूं—दिव्य, रूपान्तरित, भव्य शरीर में। मैं वही मां हूं, मानव मां। चिन्ता मत करो। अपने बारे में, अपनी प्रगति और उपलब्धि के बारे में संलग्न न रहो, न ही औरों के बारे में चिन्ता करो। मैं यहां उपस्थित हूं, मेरी तरफ देखो, मेरे अन्दर देखो, मेरे अन्दर पूरी तरह से प्रवेश करो, मेरी सत्ता में समा जाओ, अपने प्रेम के साथ मेरे प्रेम के अन्दर अपने-आपको शिथिल छोड़ दो। तुम देखोगे कि सारी समस्याएं सुलझ गयी हैं, सब कुछ किया जा चुका है। बाकी सब कुछ भूल जाओ, जगत् को भूल जाओ। बस मुझे याद करो, मेरे साथ, मेरे प्रेम के साथ एक हो जाओ...।"

२८ फरवरी को पृथ्वी पर अतिमानसिक अवतरण की ५०वीं जयन्ती मनायी जायेगी। यह अवतरण २९ फरवरी १९५६ को हुआ था। इस अवसर पर हम श्रीमां के इस वाक्य का स्मरण करें : "समस्त भय, समस्त संघर्ष, समस्त कलह को छोड़ दो, अपनी आंखें और अपने हृदय खोलो—अतिमानसिक शक्ति वहां है।"

२३ फरवरी से ५ मार्च २००६ तक डॉ. नडकर्णी पॉण्डिचेरी के सोसायटी बीच ऑफिस में सावित्री-(पर्व-२) अध्ययन-सत्र करेंगे। शिविर निःशुल्क है।

नवम्बर तथा दिसम्बर के मुख्य अवसरों पर बंटे सन्देश ये थे–

१७ नवम्बर २००५ (श्रीमां का महासमाधि दिवस)

श्रीमां की सतत उपस्थिति का अनुभव अभ्यास से आता है; साधना की सफलता के लिए भागवत कृपा अनिवार्य है, लेकिन अभ्यास ही कृपा के अवतरण की तैयारी करता है।

तुम्हें केवल बाहरी चीजों में रमे नहीं रहना चाहिये, अन्दर जाना सीखना होगा, मन को अचञ्चल बनाओ और अपने अन्दर श्रीमां की क्रियावली के बारे में सचेतन होने की अभीप्सा करो। —श्रीअरविन्द

२४ नवम्बर २००५ (सिद्धि-दिवस)

वह आत्मा जो अपने-आपको पूरी तरह प्रभु को सौंप देती है, प्रभु भी स्वयं को पूरी तरह उसे दे देते हैं। केवल वही जो अपनी समस्त प्रकृति को अर्घ्य के रूप में अर्पित करता है, अपने 'स्व' को पाता है। केवल वही जो सब कुछ दे सकता है, सर्वत्र सम्पूर्ण भगवान् का आनन्द उठाता है। —श्रीअरविन्द

५ दिसम्बर २००५ (श्रीअरविन्द का महासमाधि-दिवस)

मर्त्य हृदय में शाश्वत जीवन छिपे हैं;
वह तुम्हारी अन्तरात्मा के गर्भगृह में निगूढ़ रहता है,
वहां एक प्रकाश चमकता है
न दुःख, न दर्द वहां से गुजर सकता है। —श्रीअरविन्द

सोसायटी के चेयरमैन श्री प्रदीप नारंग ५ नवम्बर को लन्दन के सोसायटी केन्द्र में 'श्रीअरविन्द की दृष्टि में सनातन धर्म' विषय पर बोले। भाषण के बाद काफी समय तक प्रश्नोत्तर का सिलसिला चला।

नवजात जी की स्मृति में आयोजित वार्षिक भाषण ७ तथा ८ नवम्बर को पॉण्डिचेरी के बीच ऑफिस में हुए। इसमें बड़ौदा यूनिवर्सिटी के प्रधानाचार्य प्रो. शरत्चन्द्र एम. जोशी के भाषण हुए।

सोसायटी की नारी-आयोग की वार्षिक बैठक २१, २२ तथा २३ नवम्बर को बीच ऑफिस में हुई। बैठक का विषय था—"भागवत कृपा"।

E-Mail: aurobindo@vsnl.com
Phone: 011-26524810/26863741

mirambika

TEACHER EDUCATION INSTITUTE

Research Centre for Integral Education and Human Values

(A unit of Sri Aurobindo Education Society)
Sri Aurobindo Ashram – Delhi Branch
New Delhi - 110016

Announcing the Academic Session
2006-2009

3 years Training Course Content - Starting 15th July 2006

* Education & Principles of Education.
* Integral Five-fold Education & Free Progress Learning
* Study of Psychology & Principles.
* Planning, Implementation and Evaluation.
* Resources Management & Development of skills.
* Language & Communication.
* Theatre, Music, Art in Education, Physical Education.

Eligibility: (*Basic knowledge of English is essential.*)	**a) Nursery Teacher Education:** Class XII....45% **b) Elementary Teacher Education:** Graduation....45%
Application Procedure:	Application forms are available on payment of Rs.50/- either by cash or DD.
Fees:	No fees are charged since the course is based upon a spiritual philosophy. Free board & lodging is also provided.
Date to remember:	Last date for submission of the forms is 1st April 2006. You can apply even if you are waiting for your final results.
Selection:	Selection will be done at a camp in Nainital in the month of June.

पुरोधा तथा अग्निशिखा के हमारे ग्राहकों के लिए नयी रियायती दरें :

	अग्निशिखा		पुरोधा		अग्निशिखा एवं पुरोधा	
वर्ष	दरें		दरें		दरें	
	पुरानी	नयी	पुरानी	नयी	पुरानी	नयी
१	४०	४०	५०	५०	९०	८५
३	१२०	११०	१५०	१४०	२७०	२४०
५	२००	१८०	२५०	२३०	४५०	४००
१०	४००	३५०	५००	४५०	९००	७५०
२०	८००	६५०	१०००	८५०	१८००	१४५०
२५	१०००	८००	१२५०	१०५०	२२५०	१८००

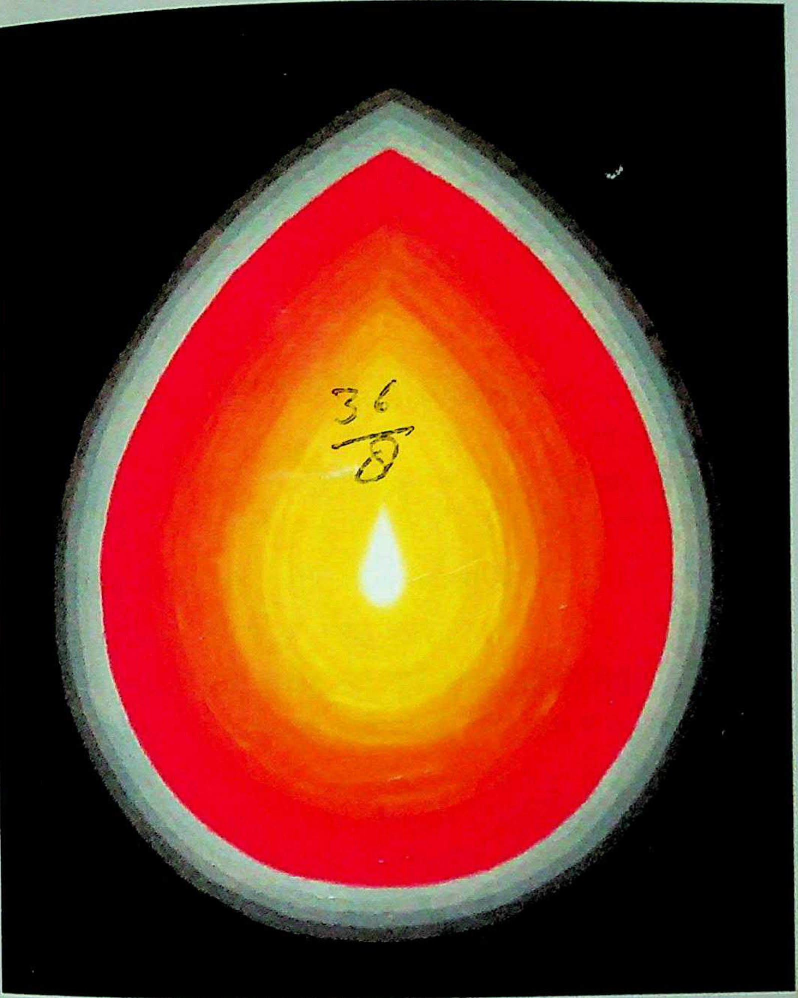

36/8

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मार्च २००६

Central Library
Gurukul Kangri Unive
Haridwar-2-
Dpart.
28/March/

अग्निशिखा मार्च २००६ वर्ष ३६, अंक ८, पूर्णांक ४२८

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां १
'सम्पादकीय' : युगल अवतार (२) अनुबेन २
दैनन्दिनी ५
सौ साल पहले ७
श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचार और गतिविधियां ८
सोसायटी समाचार ३७

मुखपृष्ठ का चित्र : **चित्रांकन वी. प्रेमा द्वारा**

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

श्रीअरविन्द धरती पर पुराने मतों अथवा पुरानी शिक्षाओं के साथ प्रतियोगिता करने के लिए कोई शिक्षा या मत लाने के लिए नहीं आये हैं, वे अतीत को पार करने का तरीका दिखाने और सन्निकट और अनिवार्य भविष्य के लिए मूर्त रूप में मार्ग बनाने आये हैं।

२२ फरवरी १९६७

श्रीअरविन्द जगत् के लिए दिव्य भविष्य का आश्वासन लाये हैं।

—श्रीमां

'सम्पादकीय' :

युगल अवतार

(२)

श्रीअरविन्द के महाप्रयाण के बाद चूंकि धरती का वातावरण अतिमानस को धारण न कर सका इसलिए उसका प्रभाव क्षीण हो गया। माताजी और श्रीअरविन्द ने आपस में निर्णय किया था कि अगर दोनों में से एक को प्रयाण करना पड़े तो जो धरती पर रहेगा वह साहस-यात्रा जारी रखेगा। माताजी ने पूर्व-निर्धारित वचन के अनुसार पूरी दृढ़ता के साथ साहस-यात्रा जारी रखी।

आन्तरिक लोक के अनछुए, बीहड़ अरण्य में प्रथम प्रवेश करनेवाले इन दो दुःसाहसी वीरों ने आंशिक सफलता पायी और माताजी ने जो यात्रा जारी रखी उसका परिणाम यह हुआ कि युगों से जो न हुआ था, वह हुआ। ईश-उपनिषद् में हमारे ऋषि-मुनि अपनी रहस्यमयी भाषा में गूढ़-गहन आध्यात्मिक सत्य को प्रकट करते हैं। उस सुन्दर श्लोक का अर्थ हम सचमुच समझ नहीं पाते। देखें, ईशोपनिषद् का वह सुन्दर श्लोक जो कितनी गहरी, सच्ची और आध्यात्मिक अनुभूति को वहन करता है। माताजी अपनी साधना की ऐसी ऊंचाई पर जा पहुंचीं कि उन्हें इस श्लोक का साक्षात् दर्शन हुआ। वह है ईशोपनिषद् का १५हवां श्लोक—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

(सत्य का मुख सुनहरे ढक्कन से ढका है। हे पूषन्, सत्य धर्म के दर्शन के लिए तुम उसे हटा दो।)

श्रीअरविन्द ने इस मन्त्र का सविस्तार भाष्य किया है। यह देख कर

हम शायद मन्त्र का कुछ रहस्य समझ पायें। सूर्य या दृष्टि का अर्थ है स्वयं उद्घाटित ज्ञान। उसका क्षेत्र सत्यम् यानी ऋतम् है। वह दृष्टि मनुष्य की अन्धकारमयी और सीमित सत्ता को उद्घाटित कर ज्योतिर्मयी और असीम चेतना में बदल देती है। वही दृष्टि ऋषि की दृष्टि है, वही सत्य दिव्य ऐक्य का प्रतीक है, आत्मा का ज्ञाता है और वह मनुष्य को उसके उच्चतम क्षेत्र तक पहुंचाता है। वही अपने अन्दर से दिव्य पुरुष को प्रकट करता है जिससे अन्य सभी सत्ताएं अभिव्यक्त होती हैं। उस दिव्य पुरुष से जो ज्योतिर्मयी किरणें विकीरित हुईं वे मन के प्रतिबिम्बक और विभाजक नियम के कारण चालित हो गयीं, अस्तव्यस्त होकर अपने पथ से विमुख हो गयीं। उन किरणों के टूटे-फूटे टुकड़ों ने सत्य के मुख को स्वर्णिम आवरण से ढक दिया है। इस मन्त्र में हम सूर्य से प्रार्थना करते हैं कि वह उस ढक्कन को हटा दे ताकि हम सत्य का दर्शन कर सकें। यह आन्तरिक प्रक्रिया ऐसी दृष्टि प्रदान करती है जो विश्व की दिव्य आत्मा में सभी सत्ताओं को ऐक्य में देख पायेगी।

युगों पहले ऋषि-मुनियों ने इस मन्त्र का उच्चारण किया था। उस मन्त्र की शक्ति बनी रही। श्रीअरविन्द और माताजी का लक्ष्य था अतिमानस तक पहुंच कर उसे धरती के वातावरण में सक्रिय बनाना।

२९ फरवरी १९५६ को माताजी ने सामूहिक ध्यान के समय सत्य के ऊपर ढके स्वर्णिम ढक्कन को देखा; अब देखें माताजी अपने अनुभव का वर्णन कैसे करती हैं—

"आज की सांझ तुम्हारे बीच भगवान् की ठोस और भौतिक उपस्थिति थी। मेरा रूप जीवित स्वर्ण का था—सारे विश्व से भी बड़ा। मैं एक बहुत बड़े विशालकाय सोने के दरवाजे के सामने खड़ी थी जो जगत् को भगवान् से अलग रखता है।

जैसे ही मैंने दरवाजे पर नजर डाली, चेतना की एक ही गति में मैंने जाना और संकल्प किया कि 'अब समय आ गया है,' और दोनों

हाथों से एक बहुत बड़ी सोने की हथौड़ी उठाकर मैंने एक चोट की दरवाजे पर एक प्रहार किया, दरवाजा चूर-चूर हो गया।

फिर अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और चेतना धरती पर अबाध प्रवाह के रूप में बह निकलीं।"

माताजी ने आन्तरिक जगत् में यह जो बृहद् चरण बढ़ाया उसके कारण धरती पर उथल-पुथल तो बहुत हुई किन्तु कई शुभ कार्य भी हुए जिनकी मानवता को प्रतीक्षा थी।

इस तरह इस अवतरण ने शुभ और अप्रत्याशित बृहत् कार्य किये किन्तु कई मानव-संघ इतने अचेतन रहे कि बिना समझे-बूझे उन्होंने उसका स्वागत नहीं किया। अब जो भूकम्प, बाढ़ और अकारण ही विभिन्न देशों, प्रदेशों में तकरार, झगड़े हो रहे हैं ये सब उस अचेतन अवस्था के चिह्न हैं।

श्रीअरविन्द के शरीर में अतिमानस के अवतरण के कई वर्ष बाद माताजी ने जब मनुष्यों की चेतना में प्रगति नहीं देखी, तब उन्होंने एक सन्देश हमें चेतावनी के रूप में दिया था। देखें वह सन्देश कितने स्पष्ट शब्दों में हमें चेतावनी देता है,

"मनुष्यो, देशो और महाद्वीपो!
चुनाव अनिवार्य है :
सत्य या फिर रसातल।"

१९६७ के इस सन्देश से पता लग रहा है कि माताजी को पूरा विश्वास है कि अभी तक सोये हुए मनुष्य, देश और महाद्वीप अवश्य जाग उठेंगे, लेकिन कब?

इस प्रश्न का उत्तर कौन दे पायेगा? उपाय एक ही है; जाग्रत् लोग अपने निद्राग्रस्त मनुष्यों, प्रदेशों, महाद्वीपों को जगाने का प्रयत्न करें!

हम अतिमानस के अभियान के इन दो अग्रदूतों को कृतज्ञता अर्पित कर उनसे प्रार्थना करें कि हम उनकी राह पर चलते चलें।

—अनुबेन

दैनन्दिनी

मार्च

१. हमारे जीवन की एकमात्र आवश्यकता यही हो—भगवान् को पाना।
२. हम चाहे जो करें, हमें सदा अपने लक्ष्य को याद रखना चाहिये।
३. तुम जो भी करो, भगवान् को सदा याद रखो।
४ रात की नीरवता में भगवान् की आवाज सुरीले राग की तरह सुनायी देती है।
५. सचाई भगवान् के दरवाजों की चाबी है।
६. सरल सचाई : समस्त प्रगति का आरम्भ।
७. भगवान् हमेशा उनके साथी होते हैं जो उत्साही और सच्चे हैं।
८. कपट विनाश के पथ की ओर ले जाता है।
९. अभीप्सा करते चलो तो आवश्यक प्रगति आकर रहेगी।
१०. हृदय की नीरवता में अभीप्सा की निष्कम्प ज्वाला जलती है।
११. श्रद्धा और विजय का संकल्प रखना अनिवार्य है।
१२. बालक के सरल विश्वास में बड़ी शक्ति होती है।
१३. श्रद्धा और विश्वास रखो और प्रसन्न रहो।
१४. सच्ची भक्ति गंगाजल से कहीं अधिक प्रभावकारी है।
१५. भगवान् की सेवा से बढ़कर हर्ष और कोई नहीं हो सकता।
१६. भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही सच्ची विश्रान्ति है।
१७. नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है।
१८. विद्रोह ग्रहणशीलता के द्वार बन्द कर देता है।
१९. सरलता में महान् सौन्दर्य है।
२०. स्थिर प्रयास हमेशा महान् परिणाम लाते हैं।
२१. अपने दोषों को पहचानना श्रेष्ठतम साहस है।

२२. भगवान् के साथ पूरी तरह स्पष्ट और सच्चा होने का साहस करो।
२३. अगर कोई मुस्कुरा सके तो वह सदा युवा रहता है।
२४. सत्य के प्रति अपने समर्पण को पूर्ण और निरन्तर बनाओ।
२५. सफलता की अपेक्षा सत्य के लिए अधिक उत्सुक होओ।
२६. सत्य की एक बूंद मिथ्या सूचनाओं के सागर से ज्यादा मूल्यवान् है।
२७. हर एक अपने-आप अपने दुःखों का शिल्पी होता है।
२८. किसी कठिनाई को नयी प्रगति के अवसर में बदलना अच्छा है।
२९. आलस्य : यह खतरनाक बीमारी है।
३०. सच्चे भाव से किया गया कार्य ध्यान है।
३१. रुकावटों की क्या परवाह, हम सदा आगे बढ़ेंगे।

अधः लोक की अन्ध शक्तियां
अब भी किन्तु प्रबल हैं।
आरोहण की गति धीमी है,
लम्बा बहुत समय है।
तब भी सत्य उठेगा ऊपर,
तब भी शान्ति बढ़ेगी,
आयेगा वह दिन जन-जन
हिलमिल जब एक बनेंगे।
इसीलिए तो एक कदम
बढ़ना भी बड़ी विजय है।
जरा-जरा कर दिव की ओर
मही को मुड़ना होगा।
धूमिल आत्मा एक रोज
ज्योतिर्जग में जागेगी। *—श्रीअरविन्द*

सौ साल पहले

भारत की स्वाधीनता की लड़ाई में खुले तौर पर हिस्सा लेने श्रीअरविन्द सौ साल पहले ५ मार्च १९०६ को बड़ौदा से कलकत्ता आये थे। लॉर्ड कर्ज़न द्वारा बंग-भंग वह पहला सुस्पष्ट कदम था जिसने भारतीय राजनीति में ऐसी साम्प्रदायिक फूट डाल दी कि उसके द्वारा श्रीअरविन्द ने औपनिवेशिक विरोधी आन्दोलन के इतिहास में एक नया पहलू जोड़ा।

यह वह समय था जब अधिकतर भारतीयों के लिए स्वतन्त्रता एक सपना, ख-पुष्प थी। काँग्रेस का आदर्श केवल 'प्रार्थना, याचिका और विरोध' में ही सीमित था।

श्रीअरविन्द ही भारत मां की पहली सन्तान थे जिन्होंने राष्ट्र के लक्ष्य के रूप में खुले आम अप्रतिबन्ध स्वाधीनता की घोषणा की थी— और अपना यह विचार उन्होंने निर्भीक रूप से 'बन्दे मातरम्' के पृष्ठों में जोर-शोर से प्रस्थापित किया जो राष्ट्रवादियों का सफल मुखपत्र था। उन्होंने इस लक्ष्य को पाने के लिए योजनाओं का भी खाका खींचा था जिसमें विदेशी राज्य के प्रति निष्क्रिय विरोध और पूरी तरह से असहयोग शामिल थे।

"चारों तरफ से 'बन्दे मातरम्' की उमड़ती हुई उस गूंज ने सभी के मन में उत्साह का ऐसा शंख फूंक दिया था कि मनुष्यों को ऐसा अनुभव होता था कि कितने भाग्यशाली हैं हम जो इस युग में जी रहे हैं, भारत की स्वाधीनता के लिए हाथ में हाथ डाले, साहस के साथ आशा की डगर पर चल रहे हैं। वह पुरानी निराशा और भीरुता कोसों दूर भाग गयी थी और एक ऐसी शक्ति का निर्माण हो गया था जिसे कोई नहीं नष्ट कर सकता था।"

तीन-चार सालों में ही श्रीअरविन्द ने भारतीय राजनीति का चेहरा ही बदल दिया और राष्ट्र की आत्मा के अन्दर अब तक अज्ञात श्रद्धा और

विश्वास अनुप्राणित कर दिया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के इतिहासकार डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में : "श्रीअरविन्द की प्रतिभा उच्च आकाश पर उल्का की भांति भले ही कुछ समय के लिए चमकी, लेकिन उन्होंने कैलाश से कन्याकुमारी तक अपने प्रकाश की बाढ़ में सबको समेट लिया।"

अग्निशिखा के इस अंक में हम भारतीय राष्ट्रीयता के नायक श्रीअरविन्द के राजनीतिक जीवन का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचार और गतिविधियां

श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचारों और कार्यों के तीन पहलू थे। सबसे पहला था वह कार्य जिससे उन्होंने आरम्भ किया, अर्थात् वह गुप्त क्रान्तिकारी प्रचार और संगठन जिसका मुख्य उद्देश्य था सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करना। दूसरा था एक सार्वजनिक प्रचार जिसका प्रयोजन था सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वाधीनता के आदर्श की दीक्षा देना। जब वे राजनीतिक क्षेत्र में उतरे तब अधिकतर भारतीय इसे एक अव्यवहार्य और प्रायः पागलों की-सी कल्पना समझते थे। यह समझा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य अत्यन्त शक्तिशाली है और भारत अत्यन्त दुर्बल; उसे पूरी तरह निःशस्त्र कर दिया गया है और वह इतना निर्वीर्य हो गया है कि ऐसे प्रयत्न में सफल होने का स्वप्न भी नहीं देख सकता। तीसरा पहलू था जनता का संगठन करना जिससे कि अधिकाधिक बढ़ते हुए असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा विदेशी शासन का सार्वजनिक और संयुक्त रूप से विरोध करके उसकी जड़ें खोखली कर दी जायें।

उस समय बड़े-बड़े साम्राज्यों का सैनिक संगठन तथा उनकी सैनिक-सामग्री और साधन आज की तरह सबल और प्रत्यक्षतः अदम्य-से न थे। अभीतक राइफल ही निर्णायक अस्त्र था, वायुयान-शक्ति का अभी विकास नहीं हुआ था और तोप-बन्दूक की शक्ति इतनी प्रलयंकर नहीं थी जितनी कि यह अब हो गयी है। भारत निःशस्त्र कर दिया गया था, परन्तु श्रीअरविन्द का ख्याल था कि समुचित संगठन और बाहरी सहायता से यह कठिनाई पार की जा सकती है और भारत जैसे विशाल देश में तथा नियमित ब्रिटिश सैन्य की अल्पता को देखते हुए, एक देश-व्यापी प्रतिरोध और विद्रोह के साथ-साथ गुरिल्ला-युद्ध भी फलप्रद हो सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना में भी व्यापक विद्रोह कराने की सम्भावना थी। साथ ही उन्होंने ब्रिटिश लोगों के स्वभाव, उनके चरित्र की विशेषताओं तथा उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों के झुकाव का अध्ययन भी कर रखा था, और उनका विश्वास था कि यद्यपि वे भारतीय जनता के स्वतन्त्र होने के हर एक प्रयत्न का प्रतिरोध करेंगे और, बहुत हुआ तो, अत्यन्त धीमे-धीमे केवल ऐसे सुधार ही स्वीकार करेंगे जिनसे उनका साम्राज्यीय प्रभुत्व दुर्बल न होता हो, फिर भी वे इस प्रकार के नहीं हैं कि अन्त तक निष्ठुर पाषाण ही बने रहें। यदि उन्होंने यह देखा कि प्रतिरोध एवं विद्रोह व्यापक और अदम्य होते जा रहे हैं तो अन्त में, वे अपने साम्राज्य का जितना अंश बचा सकें उतना बचाने के लिए कुछ समझौता करने का यत्न करेंगे अथवा यदि विद्रोह पराकाष्ठा को पहुंच गया तो इसके बजाय कि स्वतन्त्रता उनके हाथों से जबर्दस्ती छीन ली जाये वे इसे स्वयमेव दे देना पसन्द करेंगे।

कहीं-कहीं यह धारणा फैली हुई है कि श्रीअरविन्द का राजनीतिक दृष्टिकोण पूर्ण रूप से शान्तिवादी था, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में वे हिंसामात्र के विरुद्ध थे और आतंकवाद तथा राजद्रोह आदि की यह कहकर निन्दा किया करते थे कि हिन्दू धर्म की भावना और उसके

शास्त्र इसका पूर्ण रूप से निषेध करते हैं। यहांतक कहा जाता है कि वे अहिंसावाद के अग्रदूत थे। यह सर्वथा असत्य है। श्रीअरविन्द न तो पौरुषहीन नैतिकतावादी हैं न दुर्बल शान्तिवादी।

राजनीतिक कार्य को निष्क्रिय प्रतिरोध तक ही सीमित रखने का नियम अहिंसा या शान्तिमय आदर्शवाद के सिद्धान्त के अंग के रूप में नहीं अपितु उस समय की स्थिति के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की सर्वोत्तम नीति के रूप में अपनाया गया था। शान्ति सर्वोच्च आदर्श का एक अंग अवश्य है, किन्तु इसे अपने मूल में आध्यात्मिक या कम-से-कम मनोवैज्ञानिक होना चाहिये; मानव-प्रकृति का परिवर्तन हुए बिना यह सुनिश्चित रूप में स्थापित नहीं हो सकती। यदि किसी अन्य आधार पर (नैतिक नियम या अहिंसा के सिद्धान्त या किसी अन्य सिद्धान्त के आधार पर) इसकी प्राप्ति के लिए यत्न किया जाये तो वह विफल होगा, इतना ही नहीं, बल्कि सम्भवतः वह स्थिति को पहले से भी अधिक खराब कर देगा। वे इस बात के पक्ष में हैं कि, यदि सम्भव हो तो, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के द्वारा युद्ध को दबाने का यत्न करना चाहिये, जिसकी कल्पना आज "नयी विश्व-व्यवस्था" में की गयी है, परन्तु वह अहिंसा नहीं होगी, वह तो अराजकता की शक्ति को वैधानिक शक्ति के द्वारा दबाना होगा और तब भी हमें इस बात का पक्का निश्चय नहीं हो सकता कि इसका फल चिरस्थायी ही होगा। राष्ट्रों की अपनी सीमा के अन्दर इस प्रकार की शान्ति प्राप्त की जा चुकी है, परन्तु यह समय-समय पर होनेवाले गृहयुद्धों एवं क्रान्तियों और राजनीतिक दंगों एवं दमनों को बिलकुल रोक नहीं देती जो कि कभी-कभी अत्यन्त रक्तपात करनेवाले होते हैं। इस ढंग की विश्व-शान्ति में भी ऐसी घटनाएं हो सकती हैं। श्रीअरविन्द ने अपने इस मत को कभी नहीं छिपाया कि किसी भी राष्ट्र को हिंसा द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने का पूरा अधिकार है—यदि वह ऐसा करने

में समर्थ हो या इसे छोड़कर और कोई उपाय ही न हो; उसे ऐसा करना चाहिये या नहीं यह किन्हीं नैतिक विचारों पर नहीं बल्कि इस बात पर निर्भर करेगा कि सर्वोत्तम नीति क्या है। इस विषय में श्रीअरविन्द का विचार एवं व्यवहार वैसा ही था जैसा तिलक तथा अन्य राष्ट्रीयतावादी नेताओं का जो किसी प्रकार भी शान्तिवादी या अहिंसा के पुजारी नहीं थे।

भारतवर्ष आकर कुछ वर्षतक श्रीअरविन्द ('इन्दु-प्रकाश' में लेख लिखने के सिवा) हर प्रकार की राजनीतिक प्रवृत्ति से अलग रहे और देश की स्थिति का अध्ययन करते रहे ताकि वे अधिक विवेकपूर्वक यह निर्णय कर सकें कि क्या किया जा सकता है। उसके बाद उन्होंने पहला कदम यह उठाया कि बड़ौदा की सेना के तरुण बंगाली सिपाही यतीन बनर्जी को तैयारी तथा आन्दोलन के कार्यक्रम के साथ अपने लेफ्टिनेंट के रूप में बंगाल भेजा। उनका ख्याल था कि इस कार्यक्रम के सफल होने में ३० वर्ष का समय लग सकता है। वास्तव में स्वतन्त्रता-आन्दोलन के फलप्रद होने तथा पूर्ण सफलता के आरम्भ तक पहुंचने में ५० वर्ष लग गये हैं। निश्चय यह हुआ था कि सारे बंगाल में गुप्त रूप से अथवा जहांतक प्रत्यक्ष कार्य करना सम्भव हो वहां तक नाना प्रकार के बहानों और आवरणों के साथ क्रान्तिकारी भावों के प्रचार और स्वयंसेवकों की भरती का कार्य किया जाये। यह कार्य तो देश के युवकों में करना था और प्रगतिशील विचारवाले तथा अपने पक्ष में लिये जा सकनेवाले वयस्कों से सहानुभूति और आर्थिक एवं अन्यविध सहयोग प्राप्त करना था। नगर-नगर में और फिर अन्त में गांव-गांव में केन्द्र स्थापित करने थे। सांस्कृतिक, बौद्धिक या नैतिक नानाविध प्रकट उद्देश्यों से युवकों के संघों की स्थापना करनी थी और जो संघ पहले से ही विद्यमान थे उन्हें क्रान्ति के कार्य के लिए अपने पक्ष में करना था। युवकों को घुड़सवारी, शारीरिक शिक्षा, नाना प्रकार

के व्यायाम, कवायद और संगठित गति आदि ऐसे कार्यों की शिक्षा देनी थी जो अन्त में सैनिक कार्रवाई में सहायक हों। इस विचार का बीज बोते ही प्रचुर फल दृष्टिगोचर होने लगा; युवकों के छोटे-छोटे दल और संघ, जिनके सामने क्रान्ति का कोई स्पष्ट विचार या निश्चित कार्यक्रम न था, वे इस दिशा में आने लगे और जिन थोड़े-से दलों का क्रान्तिकारी लक्ष्य था उनसे सम्बन्ध स्थापित किया गया और शीघ्र ही संगठित प्रणाली से कार्य-विस्तार होने लगा। और, 'थोड़े' शीघ्र ही 'बहुत' हो गये। इस बीच श्रीअरविन्द पश्चिमी भारत की एक गुप्त संस्था के एक सदस्य से मिले, इस संस्था की शपथ ली और बम्बई की कौंसिल से उनका परिचय कराया गया। उन्होंने अपने भावी कार्य का सञ्चालन इस कौंसिल के किन्हीं निर्देशों के अनुसार तो नहीं किया परन्तु बंगाल में, जहां अभी तक इसका एक भी सदस्य या अनुयायी नहीं था, इसके उद्देश्यों के लिए सार्वजनिक समर्थन प्राप्त करने के कार्य का भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। इस संस्था और इसके उद्देश्य की चर्चा उन्होंने पी. मित्तर तथा बंगाल के क्रान्तिकारी दल के अन्य नेताओं से की और उन्होंने भी इस संस्था की शपथ ली और श्रीअरविन्द के बताये ढंग से इसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए वे सहमत हो गये। मित्तर के दल ने संगठन के लिए जिस विशेष पर्दे का आश्रय लिया था वह था लाठी-संघ, और इसे बंगाल के युवकों में सरल घोषाल ने कुछ हद तक पहले से ही प्रचारित कर रखा था; परन्तु दूसरे दलों ने अन्य ऊपरी छद्मों का आश्रय लिया। सम्पूर्ण आन्दोलन को सुदृढ़ रूप से संगठित करने में श्रीअरविन्द सफल नहीं हुए, पर इससे स्वयं आन्दोलन को कोई क्षति नहीं पहुंची, क्योंकि सामान्य विचार को तो सभी ने अपना लिया था। और, अनेक विभिन्न दलों के पृथक्-पृथक् कार्य का परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिकारी प्रवृत्ति और उसका आन्दोलन अधिक प्रबल और व्यापक रूप में फैल गया।

उसके बाद बंग-भंग और विद्रोह के सार्वजनिक विस्फोट का समय आया जिसने उग्र दल और महान् राष्ट्रीय आन्दोलन को और भी आगे बढ़ा दिया। तब श्रीअरविन्द के प्रयत्न अधिकाधिक इस दिशा में मुड़ते गये और गुप्त कार्य गौण बन गया। फिर भी, भावी उग्र विद्रोह के विचार का प्रसार करने के लिए उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन से लाभ उठाया। बारीन के प्रस्ताव पर वे 'युगान्तर' नाम से एक पत्र चलाने के लिए सहमत हो गये जिसका उद्देश्य था खुले विद्रोह तथा अंग्रेजी राज्य के पूर्ण बहिष्कार का प्रचार करना, गुरिल्ला-युद्ध की शिक्षा देनेवाली लेखमाला निकालना तथा इसी प्रकार के अन्यान्य विषयों की चर्चा करना। शुरू के अंकों में श्रीअरविन्द ने स्वयं कुछ प्रारम्भिक लेख भी लिखे और इसकी नीति का सामान्य नियन्त्रण सदा उन्हीं के हाथ में रहा। जब स्वामी विवेकानन्द के भाई ने, जो उपसम्पादकीय विभाग के एक सदस्य थे, तलाशी के समय अपने-आपको सम्पादक बताकर पुलिस के हवाले कर दिया और उन पर मुकद्दमा चलाया गया, तब श्रीअरविन्द के आदेशानुसार 'युगान्तर' ने इस आधार पर कि वह विदेशी सरकार को नहीं मानता, ब्रिटिश अदालत में अपनी पैरवी न करने की नीति को अपनाया। इससे पत्र की प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ गया। बंगाल के तीन योग्यतम तरुण साहित्यिक इसके मुख्य लेखक और निर्देशक थे, फलतः इसका अपरिमित प्रभाव तुरन्त ही सारे बंगाल में फैल गया। यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि गुप्त संस्था ने आतंकवाद को अपने 'प्रोग्राम' में नहीं रखा था, परन्तु बंगाल में कठोर दमन तथा उसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप यह स्वयमेव उत्पन्न हो गया था...।

श्रीअरविन्द का सार्वजनिक कार्य 'इन्दु-प्रकाश' में लेख लिखने से आरम्भ हुआ था। इन सात लेखों में जो उक्त पत्र के सम्पादक तथा श्रीअरविन्द के केम्ब्रिज के मित्र के. जी. देशपाण्डे के अनुरोध से लिखे

गये थे, 'पुराने दीपकों के स्थान पर नये दीपक' शीर्षक से काँग्रेस की उस समय की आवेदन, निवेदन और प्रतिवाद की नीति की कड़े शब्दों में निन्दा की गयी थी और स्वावलम्बन तथा निर्भीकता पर आधारित सक्रिय नेतृत्व के लिए आह्वान किया गया था। परन्तु यह निर्भीक और अकाट्य आलोचना एक नरमदल के नेता के कार्य के फलस्वरूप बन्द हो गयी जिन्होंने सम्पादक को भय दिखलाया और इस तरह उस पत्र में उनके विचारों को पूर्ण रूप से विकसित नहीं होने दिया। उन्हें काँग्रेस की प्रवृत्तियों को मध्यम वर्ग के क्षेत्र से परे विस्तृत करने तथा उसमें सर्वसाधारण जनता को स्थान देने की आवश्यकता आदि सामान्य विषयों की ओर ध्यान देना पड़ा। अन्त में, उन्होंने इस प्रकार का सभी सार्वजनिक कार्य बन्द कर दिया और १९०५ तक केवल पर्दे के पीछे ही कार्य करते रहे। परन्तु उन्होंने तिलक से सम्पर्क स्थापित किया, जिन्हें वे क्रान्तिकारी दल के लिए एकमात्र सम्भवनीय नेता मानते थे और अहमदाबाद काँग्रेस में उनसे भेंट की। वहां तिलक उन्हें पण्डाल से बाहर ले गये और मैदान में एक घण्टे तक उनसे बातचीत की जिसमें उन्होंने सुधारवादी आन्दोलन के प्रति घृणा प्रदर्शित की तथा यह बतलाया कि महाराष्ट्र में वे किस तरह काम कर रहे हैं।

अपने क्रान्तिकारी कार्य में श्रीअरविन्द ने एक इस प्रकार की प्रवृत्ति भी सम्मिलित की जो बाद में राष्ट्रीय दल के सार्वजनिक कार्यक्रम का आवश्यक अंग बन गयी। उन्होंने केन्द्रों में काम करनेवाले युवकों को स्वदेशी की भावना का प्रचार करने के लिए उत्साहित किया जो भावना उन दिनों अपने शैशव में थी और इने-गिने लोगों की धुन तक ही सीमित थी। इन क्रान्तिकारी दलों के अत्यन्त योग्य व्यक्तियों में सखाराम गणेश देवस्कर नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वे बंगला के कुशल लेखक थे (उनका परिवार बहुत दिनों से बंगाल में बसा हुआ था)। उन्होंने बंगला में शिवाजी का एक लोकप्रिय जीवन-चरित

लिखा था जिसमें उन्होंने पहली बार 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था और बाद में इसे ही राष्ट्रीयतावादियों ने 'इण्डिपेण्डेन्स' (Independence) के पर्याय के रूप में अपना लिया—स्वराज्य चतुःसूत्री राष्ट्रीय 'प्रोग्राम' का एक अंग बन गया था। उन्होंने 'देशेर कथा' नाम की एक पुस्तक भी प्रकाशित की थी जिसमें भारत में अंग्रेजों द्वारा किये गये औद्योगिक एवं व्यापारिक शोषण का पूरे विस्तार से वर्णन था। इस पुस्तक ने बंगाल में बड़ी भारी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, बंगाल के तरुणों के मन को वश में कर लिया और स्वदेशी आन्दोलन की तैयारी में अन्य सभी चीजों से बढ़कर सहायता पहुंचायी। स्वयं श्रीअरविन्द का भी सदा यह विचार रहा था कि इस आर्थिक जूए को दूर फेंकना तथा भारतीय उद्योग एवं व्यापार का विकास करना क्रान्तिकारी प्रयास के दो आवश्यक अंग हैं।

जबतक श्रीअरविन्द बड़ौदा राज्य की सेवा में रहे वे राजनीति में खुल्लम-खुल्ला भाग नहीं ले सकते थे। इसके अतिरिक्त, उन्हें पर्दे के पीछे रहकर अपना काम करना और यहांतक कि जनता में अपना नाम प्रकट किये बिना पीछे से ही पथप्रदर्शन करना ज्यादा पसन्द था; 'बन्दे मातरम्' के सम्पादक के रूप में सरकार ने उनपर जो मुकद्दमा चलाया वही उन्हें जबर्दस्ती जनता के सामने ले आया। और, फिर उस समय से वे खुले रूप में—जैसा कि कुछ समय पहले से ही परोक्ष भाव से थे—राष्ट्रीय दल के एक प्रमुख नेता और बंगाल में इसका कार्य-सञ्चालन करनेवाले सर्वप्रधान नेता तथा वहां इसकी नीति और कार्य-पद्धति के संगठनकर्ता बन गये। उन्होंने अपने मन में उस कार्य-पद्धति की रूपरेखा निश्चित कर ली थी जिसके अनुसार वे देश के आन्दोलन को चलाना चाहते थे। जो योजना उन्होंने बनायी वह बहुत कुछ वही थी जिसका विकास आगे चलकर सिन-फ़िन आन्दोलन के रूप में आयर्लैंड में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि श्रीअरविन्द ने

अपने विचार आयलैंड से लिये। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, क्योंकि आयलैंड का आन्दोलन बाद में जाकर विख्यात हुआ और उन्हें पॉण्डिचेरी जाने से पहले तक इसके विषय में कुछ भी मालूम नहीं था। और, फिर, भारत और आयलैंड में एक बड़ा भारी अन्तर था जिससे उनका कार्य अत्यधिक कठिन हो गया। आयलैंड के पुराने इतिहास ने आयरिश लोगों को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अभ्यासी बना दिया था। यहांतक कहा जा सकता है कि इसका इतिहास स्वतन्त्रता के लिए एक ऐसे अनवरत संघर्ष का इतिहास है जो क्रियात्मक रूप से बीच-बीच में भले ही रुकता रहा हो, पर सिद्धान्त-रूप में हमेशा ही चलता रहा; भारत में ऐसी कोई चीज नहीं थी। श्रीअरविन्द को भारतीय जनता के मन में स्वाधीनता के विचार को प्रतिष्ठित और व्यापक बनाना था और साथ ही पहले एक दल को और फिर सारे राष्ट्र को एक ऐसे प्रबल एवं संगठित राजनीतिक आन्दोलन में प्रवृत्त करना था जो इस आदर्श की सिद्धि की ओर ले जाये। उनका विचार यह था कि वे काँग्रेस को अपने हाथ में कर लें, उसे क्रान्ति का एक यन्त्र बना दें जब कि वह अभी तक भीरुतापूर्ण वैधानिक हलचल का एक केन्द्र थी, जो केवल प्रस्तावों पर बहस करता, उन्हें पास करता और फिर विदेशी सरकार से सिफारिश करता रहता था। यदि काँग्रेस पर अधिकार न किया जा सके तो एक केन्द्रीय क्रान्तिकारी दल का निर्माण करना होगा जो इस कार्य को सम्पन्न कर सकता हो। वह दल राज्य के अन्दर एक ऐसा राज्य होना चाहिये जो जनता को आदेश-निर्देश दे तथा ऐसे संगठित दल और संस्थाएं बनाये जो इसके आन्दोलन के लिए साधन का काम करें; साथ ही एक ऐसा तीव्र असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध करना होगा जिससे कि विदेशी सरकार के लिए इस देश का शासन करना कठिन या पूर्ण रूप से असम्भव हो जाये, एक ऐसा देशव्यापी विक्षोभ पैदा करना होगा जो दमन को शान्त कर दे और अन्त में यदि

जरूरत हो तो, देश में सर्वत्र खुला विद्रोह भी करना होगा। ब्रिटिश व्यापार का बहिष्कार, सरकारी संस्थाओं के स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, ऐसी पञ्चायती अदालतों का निर्माण जिनमें जनता साधारण अदालतों की जगह अपने विवादों का निपटारा करा सके, स्वयंसेवक-संघों का संगठन जो खुला विद्रोह करनेवाली सेना के आधार-बिन्दु हो सकें—ये सब इस योजना के अन्तर्गत थे और साथ ही वे सब अन्य कार्य भी जो इस 'प्रोग्राम' को पूर्ण बना सकते हों। भारतीय राजनीति में श्रीअरविन्द ने बहुत थोड़े समय के लिए ही खुलकर भाग लिया, क्योंकि १९१० में वे इससे अलग होकर पॉण्डिचेरी चले गये। उनका बहुत-सा कार्यक्रम उनकी अनुपस्थिति में बन्द हो गया, परन्तु भारतीय राजनीति के सम्पूर्ण स्वरूप तथा भारतीय जनता की सम्पूर्ण भावना को इस प्रकार बदलने के लिए तबतक बहुत कुछ किया जा चुका था जिससे कि वह स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य और असहयोग एवं प्रतिरोध को अपनी प्रणाली बना ले। और इस नीति का अपूर्ण प्रयोग भी विभिन्न समयों पर विद्रोह का प्रचण्ड रूप धारण करके विजय लाने में पर्याप्त सिद्ध हुआ है। बाद के घटनाक्रम ने अधिकांश में श्रीअरविन्द की विचारधारा का ही अनुसरण किया। अन्ततोगत्वा काँग्रेस राष्ट्रीय दल के हाथों में आ गयी, उसने स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया, और आन्दोलन के लिए संगठन किया। मुसलमानों के अधिक भाग और कुछ दलित वर्गों को छोड़कर प्रायः सारे राष्ट्र ने इसके नेतृत्व को स्वीकार किया, आखिर भारत में पहली राष्ट्रीय, पर अभी स्वतन्त्र नहीं, सरकार की स्थापना की और ब्रिटेन से भारत की स्वाधीनता स्वीकार करा ली।

प्रारम्भ में श्रीअरविन्द काँग्रेस की राजनीति में पर्दे के पीछे से ही भाग लेते रहे, क्योंकि अभी उन्होंने बड़ौदा-राज्य की सेवा त्यागने का निश्चय नहीं किया था; परन्तु उन्होंने लम्बी अवैतनिक छुट्टी ले ली।

उन्हीं दिनों, वे व्यक्तिगत रूप से गुप्त क्रान्तिकारी कार्य करने के अतिरिक्त बारीसाल काँफ्रेंस में सम्मिलित हुए जिसे पुलिस ने भंग कर दिया। उसके बाद उन्होंने विपिन पाल के साथ पूर्वी बंगाल का दौरा किया तथा काँग्रेस के अग्रगामी दल के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हो गये। इसी समय उन्होंने 'बन्दे मातरम्' के सम्पादन में विपिन पाल को सहयोग दिया, बंगाल में नयी राजनीतिक पार्टी की स्थापना की और काँग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में भाग लिया। उस अधिवेशन में उग्र दल ने, अभी तक अल्पसंख्यक होते हुए भी, तिलक के नेतृत्व में अपने राजनीतिक 'प्रोग्राम' का कुछ भाग काँग्रेस पर लादने में सफलता प्राप्त कर ली। इस बीच बंगाल राष्ट्रीय महाविद्यालय की स्थापना ने उन्हें आवश्यक अवसर प्रदान कर दिया और वे बड़ौदा-राज्य के पद को छोड़कर उक्त महाविद्यालय के प्रिंसिपल का कार्यभार ग्रहण कर सके। सुबोध मल्लिक ने, जो गुप्त कार्य में और तदनन्तर काँग्रेस के राजनीतिक कार्य में भी श्रीअरविन्द के एक सहयोगी थे और जिनके घर में वे अपने कलकत्ता-निवास-काल में प्रायः रहा करते थे, इस महाविद्यालय की स्थापना के लिए एक लाख रुपये दिये थे और यह शर्त रखी थी कि श्रीअरविन्द को इस महाविद्यालय में १५० रु. के वेतन पर प्रोफेसर का पद दिया जाये। अब वे अपना सारा समय देश की सेवा में लगाने के लिए स्वतन्त्र थे। विपिन पाल ने, जो बहुत समय से अपने साप्ताहिक पत्र में स्वावलम्बन और असहयोग की नीति का प्रतिपादन करते आ रहे थे, अब, 'बन्दे मातरम्' नाम से एक दैनिक चलाना आरम्भ किया, पर इसके बहुत दिन चलने की आशा न थी, क्योंकि इसे शुरू करते समय उनकी जेब में केवल ५०० रु. ही थे और भविष्य के लिए आर्थिक सहायता का कोई दृढ़ आश्वासन भी उन्हें प्राप्त नहीं था। इस साहसिक कार्य में सहयोग देने के लिए उन्होंने श्रीअरविन्द से प्रार्थना की जिन्होंने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया, क्योंकि उन्होंने देखा कि अब

उन्हें अपने क्रान्ति के कार्य के लिए आवश्यक सार्वजनिक प्रचार आरम्भ करने का अवसर मिलेगा। उन्होंने काँग्रेस के अग्रगामी दल के युवकों की एक सभा बुलायी और उन सबने निश्चय किया कि महाराष्ट्र में तिलक के विख्यात नेतृत्व में काम करनेवाले अपने ही जैसे दल के साथ मिलकर वे अपने को प्रकट रूप से एक नयी राजनीतिक पार्टी के रूप में संगठित करेंगे और नरम दल का मुकाबला करेंगे जैसा कि उन्होंने कलकत्ता अधिवेशन में किया भी। साथ ही, श्रीअरविन्द ने उन्हें प्रेरणा दी कि वे दैनिक 'बन्दे मातरम्' को अपनी पार्टी का पत्र बना लें और पत्र की आर्थिक व्यवस्था के लिए बन्दे मातरम् कम्पनी खोल दी गयी जिसका सञ्चालन विपिन पाल की अनुपस्थिति में श्रीअरविन्द ही करते रहे, क्योंकि विपिन पाल को नयी पार्टी के उद्देश्य और कार्यक्रम की घोषणा करने के लिए जिलों का दौरा करने भेज दिया गया था। नयी पार्टी को अविलम्ब सफलता प्राप्त हुई और 'बन्दे मातरम्' भारतवर्ष में सर्वत्र जाने लगा। इसके कार्यकर्ताओं में केवल विपिन पाल और श्रीअरविन्द ही नहीं थे, बल्कि कई अन्य सुयोग्य लेखक, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, हेमेन्द्र प्रसाद घोष और विजय चटर्जी भी थे। श्यामसुन्दर और विजय अंग्रेजी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे, और प्रत्येक की अपनी विशिष्ट शैली थी; श्यामसुन्दर ने श्रीअरविन्द की लेखन-शैली को कुछ-कुछ पकड़ लिया, यहांतक कि कुछ समय बाद लोग उनके लेखों को श्रीअरविन्द के लेख समझने लगे। परन्तु कुछ दिनों बाद विपिन पाल तथा 'बन्दे मातरम्' कम्पनी के अन्य सहायकों और सञ्चालकों में मतभेद हो गया, क्योंकि उनके स्वभाव एक-दूसरे से मेल नहीं खाते थे और उनके राजनीतिक विचार भी भिन्न-भिन्न थे, विशेषकर गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन से जहां दूसरे लोग सहानुभूति रखते थे वहां विपिन पाल इसके विरुद्ध थे। इसका परिणाम यह हुआ कि विपिन पाल शीघ्र ही इस पत्र से अलग हो गये। श्रीअरविन्द उनके अलग होने को

स्वीकार न करते, क्योंकि वे पाल के गुणों को 'बन्दे मातरम्' की महान् सम्पत्ति समझते थे। कारण पाल चाहे अच्छे कार्यकर्ता नहीं थे और न राजनीतिक नेता बनने के ही योग्य थे, फिर भी वे देश में शायद सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त मौलिक राजनीतिक विचारक थे, उच्चकोटि के लेखक और महान् वक्ता थे। परन्तु श्रीअरविन्द की अनुपस्थिति में ही, जब कि वे ज्वर के भयानक आक्रमण के बाद शनैः शनैः स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे, पाल पत्र की सेवा से अलग हो गये। यहांतक कि श्रीअरविन्द की स्वीकृति के बिना ही उनका नाम 'बन्दे मातरम्' में इसके सम्पादक के रूप में घोषित कर दिया गया, परन्तु केवल एक दिन के लिए ही, क्योंकि उन्होंने तुरन्त अपना नाम वापिस ले लिया। कारण, अभी वे नियमानुसार बड़ौदा-राज्य की सेवा में थे और अपना नाम जनता के सामने लाने के लिए जरा भी उत्सुक नहीं थे। फिर भी, उसके बाद से 'बन्दे मातरम्' और बंगाल की पार्टी की नीति का नियन्त्रण वे ही करते रहे। विपिन पाल ने नयी पार्टी का लक्ष्य ब्रिटिश नियन्त्रण से मुक्त पूर्ण स्वराज्य बतलाया था; परन्तु इसका अभिप्राय औपनिवेशिक स्वराज्य का नरमदलीय लक्ष्य भी हो सकता था अथवा कम-से-कम वह भी इसके अन्तर्गत हो सकता था और दादा भाई नौरोजी ने काँग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति के रूप में स्वराज्य नाम को, जो उग्र दल का पूर्ण स्वतन्त्रता का द्योतक शब्द था, इस औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए हथियाने का सचमुच यत्न भी किया था। श्रीअरविन्द का सबसे पहला कार्य यह था कि उन्होंने खुले रूप में घोषित किया कि चरम और पूर्ण स्वतन्त्रता ही भारत के राजनीतिक आन्दोलन का लक्ष्य है और 'बन्दे मातरम्' के पृष्ठों में उन्होंने इसपर दृढ़तापूर्वक आग्रह किया; भारत में वे पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने सार्वजनिक रूप में यह कार्य करने का साहस किया और इसमें उन्हें तुरन्त सफलता भी प्राप्त हुई। नयी पार्टी ने स्वतन्त्रता के अपने आदर्श को प्रकट करने के लिए 'स्वराज्य' शब्द को

अपना लिया और यह शीघ्र ही सर्वत्र फैल गया; परन्तु काँग्रेस के आदर्श के रूप में इसे बहुत बाद में करांची अधिवेशन के समय ही ग्रहण किया गया जब कि राष्ट्रवादी नेतृत्व के अधीन इसका पुनर्गठन और पुनरुज्जीवन हो चुका था। 'बन्दे मातरम्' ने देश के लिए एक नया राजनीतिक 'प्रोग्राम' राष्ट्रवादी पार्टी के 'प्रोग्राम' के रूप में घोषित और विकसित किया, अर्थात् असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, कानूनी विवादों का लोकप्रिय मध्यस्थ के द्वारा निर्णय तथा श्रीअरविन्द की योजना के अन्य अंग। इस पत्र में श्रीअरविन्द ने एक लेखमाला 'निष्क्रिय प्रतिरोध' पर लिखी, दूसरी, क्रान्ति के राजनीतिक दर्शन पर; इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत-से अग्रलेख भी लिखे जिनका उद्देश्य था नरम दल के मूलमन्त्रों और अन्धविश्वासों पर, उदाहरणार्थ, भारत में विदेशी सरकार द्वारा पहुंचाये हुए लाभों तथा ब्रिटिश न्याय में विश्वास, भारत के सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा की उपयुक्तता तथा ब्रिटिश अदालतों में आस्था आदि पर कुठाराघात करना। विदेशी शासन के कारण भारत में जो नपुंसकता, प्रगति में अवरोध या शिथिलता, दरिद्रता, आर्थिक दासता और समृद्ध उद्योग-धन्धों का अभाव आदि बुरे परिणाम पैदा हुए थे उनकी आलोचना श्रीअरविन्द ने ऐसे तीव्र शब्दों में और ऐसी दृढ़ता के साथ की जिस प्रकार पहले कभी नहीं की गयी थी। इस बात पर उन्होंने विशेष रूप से बल दिया कि विदेशी शासन कैसा भी उदार और हितकारी क्यों न हो, वह स्वतन्त्र एवं स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन का स्थान कभी नहीं ले सकता। इस प्रकार के लेखों की सहायता से राष्ट्रवादियों के विचारों की सर्वत्र विजय हुई, विशेषकर पंजाब में, जो पहले प्रधान रूप से नरमदली था। एक जाति के विचारों को पलटने और उसे क्रान्ति के लिए तैयार करने में 'बन्दे मातरम्' ने जो प्रभाव डाला उसकी दृष्टि से वह पत्रकारिता के इतिहास में प्रायः अद्वितीय ही था। परन्तु आर्थिक दृष्टि से वह दुर्बल था,

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

क्योंकि उग्र दल अभी तक निर्धनों का दल था। जबतक इस पत्र पर श्रीअरविन्द का सक्रिय नियन्त्रण रहा, वे इसे चलाने के लिए जैसे-तैसे पर्याप्त सार्वजनिक सहायता का प्रबन्ध करते रहे, पर अपनी इच्छा के अनुसार इसे विस्तारित नहीं कर सके। और जब उन्हें गिरफ्तार करके एक वर्ष के लिए जेल में डाल दिया गया तो इसकी आर्थिक स्थिति निराशापूर्ण हो गयी। अन्त में यह निश्चय किया गया कि यदि पत्र को मरना ही हो तो अर्थाभाव से मरने के बजाय शान से मरना चाहिये और इसलिए विजय चटर्जी को एक ऐसा लेख लिखने के लिए नियुक्त किया गया जिसके कारण सरकार पत्र का प्रकाशन निश्चित रूप से बन्द कर दे। श्रीअरविन्द ने सदा इस बात का ध्यान रखा कि 'बन्दे मातरम्' के सम्पादकीय लेखों में ऐसा एक भी छिद्र न रहने दें जिससे सरकार को इसपर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाने या और कोई उग्र कार्रवाई करने का मौका मिले और इसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाये। 'स्टेट्समैन' के एक सम्पादक ने यह शिकायत की थी कि इस पत्र की प्रत्येक पंक्ति से स्पष्ट रूप में राजद्रोह की गन्ध आती है, परन्तु वह इतनी चतुराई से लिखी होती है कि कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती। पत्र को बन्द करने की युक्ति सफल हो गयी और उसका जीवन श्रीअरविन्द की अनुपस्थिति में ही समाप्त हो गया।

राष्ट्रवादी 'प्रोग्राम' अभी कुछ-कुछ शुरू ही हो पाया था कि कठोर सरकारी दमन के कारण यह कुछ समय के लिए भंग हो गया। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक अंग स्वदेशी और बहिष्कार था; स्वदेशी की भावना को व्यापक बनाने के लिए बहुत कुछ किया जा चुका था और कुछ आरम्भिक सफलता भी प्राप्त हुई थी, परन्तु इसके बृहत्तर परिणाम बाद में समय आने पर ही प्रकट हुए। श्रीअरविन्द की बड़ी इच्छा थी कि आन्दोलन के इस भाग को केवल विचार-रूप में प्रसारित ही नहीं करना चाहिये, बल्कि इसको सक्रिय रूप में संगठित करना

तथा इसे वास्तविक बल प्रदान करना चाहिये। उन्होंने बड़ौदा से लिखकर पूछा कि क्या यह सम्भव नहीं है कि व्यापारियों और मिल-मालिकों को अपने साथ मिलाकर तथा प्रतिष्ठित जमींदारों से आर्थिक सहायता प्राप्त करके एक ऐसा संगठन बनाया जाये जिसमें केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् व्यापार और उद्योग-धन्धों की योग्यता और अनुभव रखनेवाले व्यक्ति भी स्वदेशी की नीति का कार्य-सञ्चालन कर सकें और इसे सफल करने के उपायों का अनुसन्धान कर सकें। परन्तु उन्हें बताया गया कि यह सम्भव नहीं है, व्यापारी और जमींदार इतने भीरु हैं कि वे आन्दोलन में सम्मिलित नहीं होंगे और बड़े-बड़े व्यवसायी, सब के सब, ब्रिटिश माल के आयात में ही रुचि रखते हैं, अतएव, वे वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में हैं। इसलिए स्वदेशी और बहिष्कार के संगठन का विचार उन्हें त्याग देना पड़ा। तिलक और श्रीअरविन्द दोनों ब्रिटिश माल के पूर्ण बहिष्कार के पक्ष में थे—परन्तु केवल ब्रिटिश माल के ही; क्योंकि विदेशी वस्तुओं का स्थान लेने के लिए देश में कुछ था ही नहीं। इसलिए उन्होंने इंग्लैण्ड के स्थान पर जर्मनी, ऑस्ट्रिया और अमरीका से विदेशी सामान मंगाने के लिए सम्मति दी जिससे कि इंग्लैण्ड पर अधिक-से-अधिक दबाव डाला जा सके। बहिष्कार को वे स्वदेशी का सहायक ही नहीं, बल्कि एक राजनीतिक अस्त्र बनाना चाहते थे। सभी विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार एक अव्यवहार्य विचार था और काँग्रेस के प्रस्तावों में इसके जिस अति सीमित प्रयोग की सिफारिश की गयी थी वह राजनीतिक रूप में फलप्रद होने के लिए पर्याप्त नहीं था। उनकी राय थी कि प्रधान उद्योगों में हमारे राष्ट्र को स्वावलम्बी होना चाहिये और केवल आवश्यक पदार्थ ही नहीं बल्कि सभी शिल्प-द्रव्य, जिनके लिए प्राकृतिक साधन हमारे देश में हैं, हमें अपने देश में ही तैयार करने चाहियें, परन्तु पूर्ण स्वावलम्बन या व्यापारिक स्वातन्त्र्य व्यवहार्य नहीं प्रतीत हुए और न वे वाञ्छनीय ही

थे, क्योंकि स्वतन्त्र भारत को भी माल का निर्यात करने तथा अपने यहां खपत के लिए माल जुटाने की आवश्यकता होगी ही और इसके लिए माल का आयात करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को बनाये रखना उसके लिए आवश्यक होगा। परन्तु सभी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने के लिए जनता में सहसा एक व्यापक और अदम्य उत्साह जाग उठा और नेताओं को इस सार्वजनिक पुकार का समर्थन करना पड़ा तथा इससे स्वदेशी की भावना को जो बल-वेग प्राप्त हुआ उससे उन्हें सन्तोष करना पड़ा। राष्ट्रीय शिक्षा दूसरा कार्य था जिसपर श्रीअरविन्द ने बहुत बल दिया। स्कूलों, कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों में पाश्चात्य पद्धति के अनुसार जो शिक्षा दी जाती थी उससे उन्हें अत्यन्त घृणा हो गयी थी। बड़ौदा कॉलेज के प्रोफेसर के रूप में वे इस पद्धति का पूरा अनुभव कर चुके थे। वे महसूस करते थे कि यह भारतीयों की स्वभावतः तीव्र, उज्ज्वल और कोमल बुद्धि को कुन्द, दुर्बल और संकीर्ण बना देती है, उसके अन्दर बुरे बौद्धिक अभ्यास डाल देती है और संकुचित जानकारी तथा यन्त्रसम शिक्षण के द्वारा उसकी मौलिकता और उर्वरता को नष्ट कर डालती है। आन्दोलन का आरम्भ उत्साहजनक था और बंगाल में बहुत-से राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हो गये और अनेकों योग्य व्यक्ति शिक्षक का कार्य करने लगे, परन्तु फिर भी इसकी प्रगति पर्याप्त नहीं हुई और स्कूलों की आर्थिक स्थिति भी संकटमय थी। श्रीअरविन्द ने इस आन्दोलन को स्वयं अपने हाथ में लेने का निश्चय किया था और वे देखना चाहते थे कि इसे अधिक व्यापक विस्तार और दृढ़तर आधार प्रदान किया जा सकता है या नहीं, परन्तु उनके बंगाल से चले जाने के कारण यह योजना अधूरी रह गयी। दमन और उससे उत्पन्न व्यापक अवसाद में अधिकतर स्कूलों का जीवन समाप्त हो गया। परन्तु भावना हमेशा जीवित रही और यह आशा की जा सकती है कि एक दिन यह अपना उपयुक्त रूप और

आकार ग्रहण कर ही लेगी। जनता के अपने न्यायालयों के विचार को भी कुछ जिलों में कार्य-रूप देने के लिए यत्न किया गया और उसमें कुछ सफलता प्राप्त हुई, पर वह भी दमन की आंधी में मटियामेट हो गया। स्वयंसेवक-दलों के संगठन के विचार में अधिक प्रबल जीवनी शक्ति थी; यह निरन्तर जीवित रहा, इतना ही नहीं, बल्कि, इसने साकार रूप ग्रहण किया और अपने संगठनों को बढ़ाया। स्वतन्त्रता-संग्राम में जब-जब खुले रूप में आन्दोलन हुआ, इन स्वयंसेवक-दलों के कार्यकर्ता ही उसके अग्रणी नेता रहे। राष्ट्रवादी कार्यक्रम और प्रवृत्तियों के विशुद्ध राजनीतिक तत्त्व चिरस्थायी रहे और दमन तथा अवसाद की प्रत्येक लहर के बाद उन्होंने स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की जीवन-धारा को पुनः-पुनः प्रवाहित किया और लगभग पचास वर्ष के संघर्ष में इसे प्रत्यक्ष रूप से अविच्छिन्न बनाये रखा। परन्तु उन वर्षों में जो सबसे बड़ा कार्य सम्पन्न हुआ वह यह कि देश में एक नयी भावना जागरित हो गयी। सर्वत्र उत्साह की लहरें दिखायी देने लगीं और समस्त दिग्दिगन्त 'वन्दे मातरम्' के निनाद से गुञ्जायमान हो उठा। ऐसे वायुमण्डल में जीना, साहस दिखाना, मिलकर काम करना और आशा रखना लोगों को गौरवपूर्ण अनुभव होता था। पुरानी उदासीनता और कायरता विलुप्त हो गयी और एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई जिसे कोई मिटा नहीं सकता था और जो एक के बाद एक तरंग के रूप में पुनः-पुनः उठती रही जबतक कि वह भारत को पूर्ण विजय के निकट नहीं ले आयी।

'बन्दे मातरम्' के मुकद्दमे के बाद श्रीअरविन्द बंगाल में राष्ट्रीयता के सर्वमान्य नेता बन गये। मिदनापुर में बंगाल प्रान्तीय सभा के अधिवेशन में उन्होंने राष्ट्रवादी दल का नेतृत्व किया। वहां दोनों दलों में बड़ा प्रबल संघर्ष हुआ। अब वे पहली बार सार्वजनिक मञ्च पर वक्ता के रूप में सामने आये, सूरत में उन्होंने बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण दिये और राष्ट्रवादी सम्मेलन का सभापतित्व भी किया।

कलकत्ता वापिस आते हुए वे बीच में अनेक स्थानों पर ठहरे और अपने भाषणों के लिए आयोजित सभाओं में विराट् जन-समूहों के सम्मुख उन्होंने भाषण दिये। हुगली में प्रान्तीय सभा के अधिवेशन में उन्होंने पुनः अपने दल का नेतृत्व किया। वहां पहली बार यह स्पष्ट पता चला कि राष्ट्रवाद का सितारा बुलन्द हो रहा है, क्योंकि अधिकतर प्रतिनिधि इसी दल के थे और विषय-समिति में श्रीअरविन्द नरमदलवालों के उस प्रस्ताव को, जिसमें उन्होंने सुधारों का अभिनन्दन किया था, पराजित करने में समर्थ हुए और अपना वह प्रस्ताव पास करा लिया जिसमें उन्हें सर्वथा अपर्याप्त तथा अवास्तविक बतला कर उनकी निन्दा करते हुए अस्वीकृत किया गया था। परन्तु नरमदल के नेताओं ने धमकी दी कि यदि यह प्रस्ताव रहने दिया गया तो वे सदस्यता से पृथक् हो जायेंगे और इस आपस की फूट से बचने के लिए श्रीअरविन्द ने नरमदल के प्रस्ताव को पास होने देना स्वीकार कर लिया, परन्तु खुले अधिवेशन में इस विषय पर एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने अपने निर्णय का कारण समझाया और राष्ट्रवादियों से कहा कि वे अपनी विजय के होते हुए भी नरमदल का प्रस्ताव स्वीकार कर लें ताकि बंगाल की राजनीतिक शक्तियों में एक प्रकार की एकता बनी रहे। राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों ने, जो पहले विजय के उल्लास में कोलाहल मचा रहे थे, वह निर्णय स्वीकार कर लिया और श्रीअरविन्द के आदेशानुसार चुपचाप सभा-भवन से उठकर चले गये जिससे उन्हें नरमदल के प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में मत न देना पड़े। इससे नरमदली नेताओं को मन-ही-मन बड़ा आश्चर्य हुआ और निराशा भी। उन्होंने शिकायत की कि जनता ने अपने पुराने और सुपरिचित नेताओं की बात तो ध्यान से नहीं सुनी और उनके विरुद्ध हो-हल्ला मचाया, किन्तु राजनीति के एक नौसिखिए युवक की आज्ञा का पालन एक ही अखण्डित दल की भांति अनुशासन एवं शान्ति के साथ किया।

लगभग इन्हीं दिनों श्रीअरविन्द ने एक बंगाली दैनिक 'नवशक्ति' का कार्य-भार अपने हाथ में लेने का निश्चय किया और अपने 'स्कॉट्स लेन' वाले किराये के मकान से, जहां वे अपनी पत्नी और बहन के साथ रहा करते थे, इस पत्र के दफ्तर के कमरों में चले आये। वहां यह नया कार्य आरम्भ कर सकने से भी पहले, एक दिन बहुत सवेरे जब कि वे अभी सोये हुए थे, पुलिस रिवॉल्वर हाथ में लिये ज़ीने पर चढ़ आयी और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन्हें पहले पुलिस स्टेशन ले जाया गया और फिर अलीपुर जेल। वहां वे एक वर्ष रहे जबतक कि मजिस्ट्रेट की जांच-पड़ताल और अलीपुर के सत्र-न्यायालय (Sessions Court) में उन पर चलाया हुआ मुकद्दमा समाप्त नहीं हो गया। पहले उन्हें कुछ समय एकान्तवास में रखा गया, परन्तु फिर वहां से बदलकर जेल के एक बड़े विभाग में भेज दिया गया जहां वे उस मुकद्दमे के अन्य कैदियों के ही साथ एक लम्बे-चौड़े कमरे में रहे। बाद में जेल में एक सरकारी गवाह की हत्या हो जाने के कारण, सब कैदियों को पृथक्-पृथक् किन्तु संलग्न कोठरियों में बन्द कर दिया गया और वे केवल कचहरी में या दैनिक व्यायाम के समय इकट्ठे होते थे, पर वहां भी एक-दूसरे से बातचीत नहीं कर सकते थे। इनमें से दूसरे काल में श्रीअरविन्द ने अपने साथी अभियुक्तों में से बहुतों से परिचय प्राप्त किया। जेल में वे अपना प्रायः सारा समय गीता और उपनिषदों के स्वाध्याय, गम्भीर ध्यान तथा योगाभ्यास में व्यतीत करते थे। यह क्रम उन्होंने उस दूसरे काल में भी जारी रखा जब उन्हें अकेले रहने का सुयोग प्राप्त नहीं था और सब साथियों की बातचीत, हंसी-मजाक, खेल-कूद तथा अत्यधिक कोलाहल और विघ्न-बाधा के बीच ध्यान का अभ्यास करना पड़ता था। पहले और तीसरे काल में उन्हें पूर्ण सुयोग प्राप्त हुआ और उसका उपयोग भी उन्होंने पूर्ण रूप से किया। सत्र-न्यायालय में अभियुक्तों को एक बड़े कठघरे में बन्द रखा जाता था

और वहां श्रीअरविन्द सारे समय ध्यान में लीन रहते थे, मुकद्दमे की ओर कान नहीं देते थे न गवाहों के बयान ही सुनते थे। सी. आर. दास, जो उनके एक राष्ट्रवादी सहयोगी और एक विख्यात वकील थे, अपनी भरी-पूरी वकालत को एक तरफ रखकर तन-मन से श्रीअरविन्द की पैरवी में जुट गये और महीनों इसी कार्य में लगे रहे। श्रीअरविन्द ने अपने मुकद्दमे का भार पूरी तरह से उनपर छोड़ दिया और इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं की; क्योंकि उन्हें अन्दर से आश्वासन मिल चुका था और वे जानते थे कि वे छूट जायेंगे। इस काल में उनकी जीवन-दृष्टि आमूल परिवर्तित हो गयी; आरम्भ में उन्होंने योग का अवलम्बन अपने जीवन-कार्य के लिए आध्यात्मिक बल और शक्ति तथा दिव्य मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के विचार से किया था। परन्तु अब आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन एवं अनुभव ने, जो अपनी बृहत्ता और विश्वमयता में अनवरत बढ़ता और अधिक व्यापक स्थान ग्रहण करता आ रहा था, उन्हें पूर्ण रूप से अपने अन्दर समा लिया और उनका काम इसका एक अंग और परिणाम बन गया, इतना ही नहीं, बल्कि वह देश की सेवा और स्वतन्त्रता के कार्य को अतिक्रम कर बहुत ऊंचे स्तर पर चला गया और एक ऐसे ध्येय में केन्द्रित हो गया जिसकी पहले केवल एक झांकी ही मिली थी और जो अपने प्रभाव में विश्वव्यापी होने के साथ-साथ मानवजाति के सम्पूर्ण भविष्य से सम्बन्ध रखता था।

श्रीअरविन्द जब जेल से बाहर आये तो वे क्या देखते हैं कि देश की सम्पूर्ण राजनीतिक स्थिति कुछ-की-कुछ हो गयी है; बहुत-से राष्ट्रवादी नेता जेल में पड़े हैं और कई देश छोड़कर चले गये हैं तथा सर्वत्र निरुत्साह और विषाद छाया हुआ है, यद्यपि देश से स्वतन्त्रता की भावना नष्ट नहीं हो गयी है, बल्कि केवल दब गयी है और दबाये जाने के कारण और भी बढ़ रही है। उन्होंने संघर्ष जारी रखने का निश्चय किया; कलकत्ते में प्रति सप्ताह सभाएं करने लगे, परन्तु जहां पहले

उपस्थिति सहस्रों की संख्या में होती थी और उत्साह का सागर उमड़ा पड़ता था, वहां अब वह केवल सैकड़ों की संख्या तक रह गयी और उसमें पहले जैसा उत्साह एवं जीवन भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। उन्होंने जिले-जिले में घूम-घूमकर कई स्थानों में भाषण दिये; इन्हीं में से एक स्थान (उत्तरपाड़ा) में दिया हुआ भाषण 'उत्तरपाड़ा अभिभाषण' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने पहली बार जनता के सामने अपने योग और आध्यात्मिक अनुभवों की चर्चा की। उन्होंने 'कर्मयोगिन्' और 'धर्म' नाम से दो साप्ताहिक भी चलाये, एक अंग्रेजी में और दूसरा बंगला में। इनकी ग्राहक-संख्या काफी अधिक थी और, 'बन्दे मातरम्' के विपरीत, ये अनायास ही अपना खर्च आप निकालने लगे। १९०९ में वे बारीसाल की प्रान्तीय सभा में सम्मिलित हुए और वहां भाषण दिया; क्योंकि हुगली में जो समझौता हुआ था उसके कारण बंगाल में दोनों दल सर्वथा पृथक्-पृथक् होने से बच गये थे और दोनों ही सभा में सम्मिलित हुए यद्यपि केन्द्रीय नरम दल की सभा में, जिसने काँग्रेस का स्थान ले लिया था, राष्ट्रवादी दल का एक भी प्रतिनिधि स्थान नहीं पा सका। बनारस के अधिवेशन में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने दोनों पार्टियों को मिलाने तथा नरम दलवालों के प्रबल दक्षिण पक्ष के साथ संयुक्त मोर्चा लेने की योजना पर विचार करने के लिए एक निजी सभा जरूर बुलायी थी जिसमें श्रीअरविन्द तथा दो-एक अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने भी भाग लिया था; क्योंकि वे (सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी) सदा ही उग्र दल को अपना सबल दायां हाथ बनाकर पुनः संयुक्त बंगाल के नेता बनने के स्वप्न देखा करते थे। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि बंगाल के नरमदली राष्ट्रवादियों को प्रतिनिधि चुनें और राष्ट्रवादी सूरत में लादे गये संविधान को स्वीकार कर लें। श्रीअरविन्द ने इससे इन्कार कर दिया; वे उस संविधान में परिवर्तन चाहते थे जिससे कि नव-संगठित दलों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्राप्त हो

और फलतः राष्ट्रवादी अखिल-भारतीय अधिवेशन में स्वतन्त्र रूप से अपने प्रतिनिधि भेज सकें और इस बात पर सन्धिवार्ता भंग हो गयी, फिर भी श्रीअरविन्द ने इस विषय पर विचार-मन्थन आरम्भ कर दिया कि बदली हुई अवस्थाओं में राष्ट्रीय आन्दोलन को कैसे पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। उन्होंने देखा कि 'होम रूल' का आन्दोलन पुनः आरम्भ किया जा सकता है जिसे सरकार दबा नहीं सकेगी, परन्तु इसका अर्थ स्वराज्य के आदर्श को स्थगित करना और उससे नीचे उतरना होता,—यद्यपि कालान्तर में श्रीमती बेसेंट ने इस आन्दोलन को सचमुच ही पुनः जीवित किया था। श्रीअरविन्द ने यह भी देखा कि एक संगठित और उद्दाम निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन भी शुरू किया जा सकता है जैसा कि बाद में गांधीजी ने चलाया था। किन्तु उन्होंने देखा कि वे स्वयं किसी ऐसे आन्दोलन के नेता नहीं बन सकते।

उस समय सरकार देश के शासन में सुधारों का जो दिखावामात्र करना चाहती थी उसपर कुछ भी विचार करने को श्रीअरविन्द कभी सहमत नहीं हुए। उन्होंने तो सदा 'कोई समझौता नहीं' अथवा, जैसा कि उन्होंने अब 'कर्मयोगिन्' में प्रकाशित देशवासियों के नाम अपनी "खुली चिट्ठी" में कहा, 'नियन्त्रण के बिना सहयोग नहीं' का ही नारा बुलन्द किया। ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों पर वे तभी विचार करने को तैयार थे यदि एक निर्वाचित व्यवस्थापिका-परिषद् में लोकप्रिय मन्त्रियों को सचमुच राजनीति, प्रशासन और आर्थिक नियन्त्रण पर अधिकार दे दिया जाता। इसका उन्हें कोई चिह्न नहीं दिखायी दिया जबतक कि मोण्टेग्यु सुधारों का प्रस्ताव देश के सामने नहीं रखा गया जिसमें पहली बार उक्त प्रकार के कुछ अधिकार दिये जाते हुए प्रतीत हुए। उन्हें इसका पूर्वाभास मिल गया था कि ब्रिटिश सरकार को राष्ट्र की आकांक्षा के साथ समझौता करने का यत्न आरम्भ करना ही पड़ेगा, परन्तु उस अवसर के आने से पहले उन्होंने उसकी प्रत्याशा

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

नहीं की। मोण्टेग्यु सुधार श्रीअरविन्द के पॉण्डिचेरी जाने के नौ वर्ष बाद आये और तबतक वे अपने को आध्यात्मिक कर्म के प्रति अर्पित करने के लिए समस्त बाह्य और सार्वजनिक राजनीतिक कार्य छोड़ चुके थे। उसके बाद वे देश के आन्दोलन की गतिविधि पर केवल अपने आत्मबल से ही कार्य करते रहे जबतक कि ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं में सच्ची सन्धिवार्ता की उनकी भविष्यदृष्टि क्रिप्स प्रस्ताव तथा बाद की घटनाओं द्वारा चरितार्थ नहीं हो गयी।

इस बीच सरकार ने श्रीअरविन्द से अपना पिण्ड छुड़ाने का निश्चय कर लिया था, क्योंकि वह उन्हें अपनी दमन-नीति के सफल होने में एकमात्र बड़ा बाधक समझती थी। पर चूंकि वह उन्हें अंडमान नहीं भेज सकती थी, उसने उन्हें देश-निकाला देने का निश्चय किया। भगिनी निवेदिता को इस बात का पता चल गया और उन्होंने श्रीअरविन्द को इसकी सूचना देते हुए उनसे कहा कि वे ब्रिटिश भारत से बाहर कहीं चले जायें और वहीं से काम करें ताकि उनका काम बन्द या सर्वथा अवरुद्ध न हो जाये। इसपर श्रीअरविन्द ने 'कर्मयोगिन्' में अपने हस्ताक्षर-सहित एक लेख प्रकाशित करके सन्तोष माना, जिसमें उन्होंने देश-निर्वासन की योजना का उल्लेख किया और देश के लिए अपनी अन्तिम इच्छा और आज्ञा सूचित कर दी। उन्हें निश्चय था कि इससे सरकार को देश-निर्वासन का विचार छोड़ना पड़ेगा और वास्तव में हुआ भी यही। देश-निर्वासन टल गया; किन्तु अब सरकार उनपर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाने के लिए अवसर की खोज करने लगी और जब श्रीअरविन्द ने उसी पत्र में राजनीतिक स्थिति की समालोचना करते हुए अपने हस्ताक्षर-सहित एक और लेख प्रकाशित किया तो सरकार को मौका मिल गया। वह लेख काफी नरम स्वर में लिखा गया था और बाद में हाईकोर्ट ने भी उसे विद्रोहपूर्ण मानने से इन्कार कर दिया और मुद्रक को छोड़ दिया। एक रात 'कर्मयोगिन्' के कार्यालय में

श्रीअरविन्द को सूचना मिली कि सरकार कार्यालय की तलाशी लेने और उन्हें गिरफ्तार करने का निश्चय कर चुकी है। जब वे इसपर विचार ही कर रहे थे कि ऐसे समय उन्हें अपने मन में क्या भाव धारण करना चाहिये, उन्हें सहसा ऊपर से एक आदेश मिला कि वे फ्रेंच भारत में चन्दननगर चले जायें। उन्होंने तुरन्त उस आदेश का पालन किया, क्योंकि तब उन्होंने यह नियम बना रखा था कि भगवान् उन्हें जैसी प्रेरणा देंगे उसके अनुसार ही वे कार्य करेंगे, उसका प्रतिरोध कभी नहीं करेंगे, न उससे विचलित ही होंगे। उन्होंने किसी से सलाह करने के लिए प्रतीक्षा नहीं की, बल्कि दस मिनट में ही नदी के घाट पर पहुंच गये और गंगा में चलनेवाली नौका पर सवार हो लिये। कुछ ही घण्टों में वे चन्दननगर पहुंच गये जहां वे एक गुप्त स्थान में रहने लगे। उन्होंने बहन निवेदिता को एक सन्देश भेजा कि मेरी अनुपस्थिति में 'कर्मयोगिन्' के सम्पादन का कार्य आप सम्भाल लें। उस दिन से अपने दो पत्रों के साथ उनका सक्रिय सम्बन्ध समाप्त हो गया। चन्दननगर में वे पूर्ण रूप से एकान्त ध्यान में डूब गये और अन्य सब काम-काज बन्द कर दिया। वहां उन्हें पॉण्डिचेरी चले जाने के लिए पुकार आयी। उत्तरपाड़ा के कुछ युवक क्रान्तिकारियों ने नौका में उन्हें कलकत्ते पहुंचाया; वहां से 'ड्यूप्ले' जहाज पर सवार होकर वे ४ अप्रैल १९१० को पॉण्डिचेरी पहुंच गये।

पॉण्डिचेरी आने पर श्रीअरविन्द प्रथम दिन से ही योगाभ्यास में अधिकाधिक तल्लीन होते गये। किसी भी सार्वजनिक राजनीतिक कार्य में भाग लेना उन्होंने बिलकुल बन्द कर दिया। पुनर्जीवित अखिल-भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशनों का सभापतित्व करने के लिए उनसे अनेक बार प्रार्थना की गयी, पर उन्होंने उसे अंगीकार नहीं किया। उन्होंने यह नियम बना लिया कि वे सार्वजनिक रूप से ऐसा कुछ भी नहीं बोलेंगे जो उनके आध्यात्मिक कार्य से सम्बन्ध न रखता

हो, और न कोई लेख आदि ही लिखेंगे—आगे चलकर "आर्य" के लिये उन्होंने जो कुछ लिखा वह अपवाद-रूप है। कुछ वर्षों तक उन्होंने दो-एक व्यक्तियों के द्वारा उन क्रान्तिकारी दलों के साथ, जिनके वे नेता रहे थे, कुछ गुप्त सम्बन्ध जारी रखा, परन्तु कुछ समय बाद वह भी छोड़ दिया और राजनीति से पूर्णरूपेण सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। भविष्य के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि ज्यों-ज्यों स्पष्ट होती गयी, त्यों-त्यों उन्हें यह दिखायी देने लगा कि उन शक्तियों की, जिनसे अब वे सचेतन हो गये थे, प्रगति के द्वारा भारत अन्ततः स्वतन्त्र होकर रहेगा, भारत-वासियों के प्रतिरोध और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के दबाव से ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्रता देने के लिए विवश हो जायेगा और, चाहे कितने भी विरोध एवं अनिच्छा के साथ क्यों न हो, वह इस परिणाम की ओर बढ़ना शुरू भी कर चुका है। उन्होंने अनुभव किया कि सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता नहीं होगी और इसकी गुप्त तैयारी बन्द की जा सकती है और इससे राष्ट्रीय कार्य को कोई हानि नहीं पहुंचेगी, यद्यपि क्रान्ति की भावना को सुरक्षित रखना होगा और उसे अक्षुण्ण रखा ही जायेगा। अतएव, राजनीति में उनके वैयक्तिक हस्तक्षेप की अब कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होगी। इस सबके अतिरिक्त उनके सम्मुख जो आध्यात्मिक कार्य उपस्थित था उसकी महानता उनके सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी और उन्होंने देखा कि इसमें अपनी समस्त शक्तियों को एकाग्र कर देना आवश्यक है। हां, जब आश्रम की स्थापना हुई, उन्होंने इसे समस्त राजनीतिक सम्बन्धों या कार्यों से पृथक् रखा; यहांतक कि जब आगे जाकर दो विशेष अवसरों पर उन्होंने राजनीति में हस्तक्षेप किया भी तो वह शुद्ध रूप से वैयक्तिक था और उससे आश्रम का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। ब्रिटिश सरकार तथा और भी बहुत-से लोग इस पर विश्वास ही नहीं कर पाते थे कि श्रीअरविन्द ने समस्त राजनीतिक कार्य से सम्बन्ध तोड़ लिया है। उनका ख्याल था

कि वे क्रान्ति की प्रवृत्तियों में गुप्त रूप से भाग ले रहे हैं और यहांतक कि फ्रेंच भारत के आश्रय में एक गुप्त संगठन का निर्माण कर रहे हैं। परन्तु यह सब केवल कोरी कल्पना एवं किंवदन्ती थी और वास्तव में इस प्रकार की किसी भी चीज का नाम तक नहीं था। राजनीतिक कार्य से वे उसी प्रकार पूर्णरूपेण निवृत्त हो गये थे जिस प्रकार १९१० में उन्होंने पूर्णरूपेण एकान्तवास आरम्भ कर दिया था।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था, जैसा कि बहुत-से लोग समझते थे, कि वे आध्यात्मिक अनुभव के किसी शिखर पर रहने लग गये थे और अब उन्हें जगत् में तथा भारत के भाग्य में कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। इसका यह अर्थ हो भी नहीं सकता था, क्योंकि उनके योग का असली तत्त्व केवल भगवान् का साक्षात्कार तथा पूर्ण आध्यात्मिक चेतना प्राप्त करना ही नहीं था, बल्कि समस्त जीवन और समस्त जगत्-व्यवहार को भी इस आध्यात्मिक चेतना तथा कर्म के क्षेत्र के अन्तर्गत करना तथा जीवन को आत्मा पर आधारित करके इसे आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करना था। अपने एकान्तवास में भी श्रीअरविन्द जगत् तथा भारत में घटनेवाली सभी घटनाओं का बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण करते रहे और जब कभी आवश्यकता हुई उन्होंने सक्रिय हस्तक्षेप भी किया, परन्तु केवल आध्यात्मिक बल तथा मौन आध्यात्मिक क्रिया के द्वारा ही; क्योंकि जो योग में काफी आगे बढ़े हुए हैं उन सभी का यह अनुभव है कि जड़ प्रकृति में मन, प्राण और शरीर की साधारण शक्तियों और व्यापारों के अतिरिक्त अन्य बल एवं शक्तियां भी हैं जो पीछे से तथा ऊपर से कार्य कर सकती हैं और करती ही हैं। इसी प्रकार एक आध्यात्मिक कर्म-शक्ति भी है जिसे वे लोग, जो आध्यात्मिक चेतना में आगे बढ़े हुए हैं, प्राप्त कर सकते हैं, यद्यपि इसे प्राप्त करने अथवा प्राप्त करके प्रयोग में लाने की परवाह सब योगी नहीं करते, और यह शक्ति अन्य किसी भी शक्ति की अपेक्षा अधिक महान् तथा

फलोत्पादक है। इसी शक्ति को श्रीअरविन्द ने प्राप्त करते ही प्रयोग में लाना आरम्भ कर दिया, पहले तो केवल वैयक्तिक कार्य के सीमित क्षेत्र में परन्तु बाद में सांसारिक शक्तियों पर अनवरत क्रिया के रूप में। उन्हें इसके परिणामों से असन्तुष्ट होने या किसी अन्य प्रकार से कार्य करने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई। फिर भी दो अवसरों पर उन्होंने इसके साथ-साथ सार्वजनिक ढंग का एक और कार्य करना उचित समझा। पहला अवसर द्वितीय विश्व-युद्ध का था। आरम्भ में उन्होंने इससे किसी प्रकार का सक्रिय सम्बन्ध नहीं रखा, परन्तु जब ऐसा दीखने लगा मानों हिटलर अपना विरोध करनेवाली सभी शक्तियों को कुचल डालेगा और संसार पर नाज़ीवाद का प्रभुत्व हो जायेगा, तब उन्होंने हस्तक्षेप आरम्भ किया। उन्होंने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि मैं मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हूं, युद्ध-कोष के लिए अपील के प्रत्युत्तर में उन्होंने कुछ आर्थिक सहायता की और जिन्होंने सेना में भरती होने या युद्ध-प्रयत्नों में भाग लेने के लिए उनसे परामर्श मांगा उन्हें प्रोत्साहित किया। आभ्यन्तरिक रूप में डनकर्क (Dunkirk) के समय से, जब कि प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर रहा था कि इंग्लैण्ड का शीघ्र पतन हो जायेगा और हिटलर की निश्चित रूप से जीत होगी, वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मित्रराष्ट्रों की सहायता करने लगे और उन्हें यह देखकर सन्तोष हुआ कि जर्मनी की विजय का वेग लगभग तुरन्त ही रुक गया और युद्ध का पासा पलट गया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि उन्हें यह प्रत्यक्ष दर्शन हो गया था कि हिटलर और नाज़ीवाद के पीछे अन्धकारमयी आसुरिक शक्तियां कार्य कर रही हैं और उनकी सफलता का अर्थ यह होगा कि मनुष्य-जाति दुष्टों के अत्याचारपूर्ण शासन के अधीन हो जायेगी और उसका सामान्य क्रमविकास तथा विशेष रूप से आध्यात्मिक विकास रुक जायेगा। इसके परिणामस्वरूप केवल यूरोप ही नहीं बल्कि एशिया और इसके अन्दर भारत भी गुलाम

हो जायेगा। भारत की यह गुलामी उन सब गुलामियों से, जिन्हें यह पहले कभी भोग चुका है, कहीं अधिक भयानक होगी और इससे वह सब कार्य जो इसकी स्वतन्त्रता के लिये किया जा चुका है मिट्टी में मिल जायेगा। यह भी एक कारण था जिससे प्रेरित होकर उन्होंने क्रिप्स प्रस्ताव का सार्वजनिक रूप से समर्थन किया और इसे स्वीकार करने के लिए कॉंग्रेस के नेताओं पर दबाव डाला। कई कारणों से उन्होंने जापान के आक्रमण के विरुद्ध अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग तबतक नहीं किया जबतक कि यह स्पष्ट नहीं हो गया कि वह भारत पर आक्रमण करना और यहांतक कि उसे आक्रान्त करके जीत लेना चाहता है। हिटलर के विरुद्ध युद्ध के समर्थन में श्रीअरविन्द ने कुछ पत्र भी लिखे जिनमें उन्होंने हिटलरवाद की आसुरी शक्ति तथा उसके अनिवार्य परिणाम के विषय में अपने विचारों का प्रतिपादन किया और बाद में उन्हें प्रकाशित करने की अनुमति भी दे दी। उन्होंने क्रिप्स के प्रस्तावों का अनुमोदन किया, क्योंकि उनके स्वीकृत हो जाने से भारत और ब्रिटेन संयुक्त होकर आसुरी शक्तियों का सामना कर सकते थे और क्रिप्स का समाधान स्वतन्त्रता के एक सोपान के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता था। परन्तु जब सन्धिवार्ता असफल रही तो श्रीअरविन्द ने पुनः आक्रान्ता के विरुद्ध केवल आध्यात्मिक शक्ति के प्रयोग पर ही निर्भर रहने का विचार किया और उन्हें यह देखकर सन्तोष हुआ कि जापान की विजय की धारा, जो उस समय तक अपने आगे आनेवाली सभी चीजों को बहाये लिये जा रही थी, तुरन्त ही एक द्रुत एवं ध्वंसक और अन्ततः एक गुरुतर एवं दुर्दान्त पराजय की लहर में बदल गयी। कुछ समय बाद उन्हें यह जानकर भी प्रसन्नता हुई कि भारत के भविष्य के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ देखा था वह सब सत्य सिद्ध हो रहा है और फलस्वरूप वह आज, कितनी ही आभ्यन्तरिक कठिनाइयों के होते हुए भी, एक स्वतन्त्र राष्ट्र है।

सोसायटी समाचार

सोसायटी के सदस्यों (Members) के लिए एक खुशखबरी यह है कि जो सदस्य अंग्रेजी की All India Magazine की जगह हिन्दी की अग्निशिखा लिया करते हैं उनके पास अप्रैल २००६ से अग्निशिखा के साथ-साथ पुरोधा मासिक पत्रिका भी जायेगी। अग्निशिखा महीने की शुरुआत में और पुरोधा महीने के बीच में उन्हें प्राप्त होगी।

महंगाई की वजह से सोसायटी अपने सदस्यता-शुल्क में कुछ बढ़ोतरी करने को बाधित हो गयी है। पहली अप्रैल २००६ से सदस्यता-शुल्क एक साल के लिए १०० रु. से १२५ रु. हो जायेगा।

हमारे अग्निशिखा के जो ग्राहक हैं, यानी जो सोसायटी के सदस्य नहीं हैं, उनपर यह नियम लागू नहीं होगा। और अगर आप सोसायटी के सदस्य बनना चाहते हैं तो कृपया पूरी जानकारी के लिए श्री के. सी. आनन्द, सम्पादक ऑल इण्डिया मैगज़ीन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी ६०५००२ से सीधा पत्र-व्यवहार करें।

पत्रिकाओं के साथ सदस्यता-शुल्क की बढ़ोतरी इस प्रकार है—

एक साल के लिए — १२५ रु.
तीन साल के लिए — ३६० रु.
पांच साल के लिए — ६०० रु.
दस साल के लिए — १,२०० रु.

*

६० चित्रों के फूलों के सेट उपलब्ध हैं जिनमें पुष्पों के वानस्पतिक नाम, प्रचलित नाम तथा श्रीमां द्वारा उन्हें दिये गये आध्यात्मिक अर्थ सब हैं। प्रत्येक सेट का दाम १,००० रु. है (डाक-व्यय अतिरिक्त)। सोसायटी के केन्द्रों को १० प्रतिशत की छूट मिलेगी। कृपया अधिक जानकारी के लिए Splendour, Auroservice, 16, Goubert Avenue, Pondicherry 605001 से पत्र-व्यवहार करें। दूरभाष : (०४१३) २३३६३९८.

E-Mail–splendour@sriaurobindosociety.org.in

Statement about ownership and other particulars about Newspaper (Agnishikha) to be published in the first issue every yea after the last day of February.

Form IV (see Rule 8)

1. Place of publication	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605 002
2. Periodicity of its publication	Monthly
3. Printer's Name	Amiyo Ranjan Ganguli
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Press Pondicherry - 605 002
4. Publisher's Name	Pradeep Narang
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605 002
5. Editor's Name	Anuben
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605 002
6. Names and Addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605 002

I, Pradeep Narang *hereby declare that the particulars given abov are true to the best of my knowledge and belief.*

March 2006

(sd) Pradeep Narang
Signature of Publishe

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

36
9

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)
Abpant
26/04/06

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अप्रैल २००६

अग्निशिखा अप्रैल २००६ वर्ष ३६, अंक ९, पूर्णांक ४

विषय-सूची

सन्देश श्रीअरविन्द
'सम्पादकीय' : अपूर्व रत्न (१) अनुबेन
दैनन्दिनी
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क नीरदवरण १

श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचारों तथा भारत के बारे में:

श्रीअरविन्द—अपने राजनीति छोड़ने के कुछ कारणों के बारे में १५
तीखा सत्य २६
लाला लाजपत राय को देश-निकाला २७
ऋषिवर बोले : भारत माता २७
हमारा ध्येय श्रीअरविन्द ३१
सोसायटी समाचार ३५

मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

देवों की सुरक्षा

(उज्ज्वल और स्पष्टदर्शी)

अंग्रेजी नाम—Bougainvillea

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

... अगर हम इस सत्य को चरितार्थ कर लें, जो कुछ घटित हो रहा है अगर हम उसमें महान् और महत्त्वपूर्ण रूपान्तर को देखें जो न केवल हमारे लिए बल्कि समस्त संसार के लिए आवश्यक है, तो हम अपने-आपको भय और हिचकिचाहट के बिना वर्तमान समय में झोंक देंगे। भारत राष्ट्रों का गुरु है, मानव की आत्मा की गभीरतम बीमारियों का चिकित्सक है; एक बार फिर वह संसार के जीवन को नये सांचे में ढालने के लिए और मानव-आत्मा की शान्ति को फिर से स्थापित करने के लिए नियत है।

—श्रीअरविन्द

'सम्पादकीय' :

अपूर्व रत्न

(१)

हमारे पूर्वज धरती को 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' कहा करते थे और उनके ये शब्द अबतक भारतवर्ष में गूंज रहे हैं। क्या उनका यह अभिप्राय था कि ठोस जमीन की गहराई में हीरे, नीलम, पन्ने जैसे बहुमूल्य रत्न हैं या फिर उनकी दृष्टि इन सबसे दूर किन्हीं अपूर्व रत्नों की ओर देख रही थी?

मनुष्यों की कई श्रेणियां हैं जिनमें एकदम निम्न स्तर के लोगों से लेकर उच्चतम श्रेणी का समावेश है। उच्चतम श्रेणी में अमीर ही नहीं, गरीब, अज्ञानी और अशिक्षित इन सबका भी समावेश होता है। इनमें से कौन जनता का नेता बनता है यह उसके अन्तरतम ज्ञान पर निर्भर करता है। अगर हम कबीर को देखें तो उनकी सहज वाणी अभी तक जीवन्त है। अनपढ़ कबीर ऐसी गहन वाणी कहते हैं जिसका मर्म हमें समर्पण का चरम रूप स्पष्टतः समझाता है। वे कहते हैं, "कबीर कुत्ता राम का मुतिया मेरो नाम, गले राम की जेबड़ी जित खींचे तित जाऊं।"

उसी तरह हम महाराजा जनक का भी उदाहरण देख सकते हैं जो पूरे राजसिक ठाठ-बाट से रहते हुए भी विदेह कहलाते थे। किसी युवा शिष्य के मन में शंका जागी कि इतनी शानो शौकत के बीच रहते हुए भी राजा जनक विदेह, अनासक्त क्यों कहलाते हैं भला? अपने गुरु से उसने पूछा कि आप उन्हें विदेह क्यों कहते हैं? गुरु ने उसे राजा जनक के पास, उन्हीं से रहस्य जानने के लिए भेजा। युवक ने राजा जनक के सामने जब अपने मन की शंका रखी तो महाराज ने कहा, "इसका रहस्य मैं तुम्हें बतलाऊंगा, लेकिन जरा कुछ सुस्ता लो, मेरी विशाल नगरी

जनकपुरी देख आओ।" फिर राजा ने अपने सेवक को तेल से लबालब भरा कटोरा लाने के लिए कहा। कटोरा उस युवक के दोनों हाथों में सावधानी से थमाते हुए वे बोले, "वत्स, इसे पूरी सावधानी के साथ पकड़े हुए नगर का निरीक्षण करके आना। देखना, कहीं बूंद भर भी तेल न गिरने पाये।" युवक घूम-फिर कर लौटा तो जनक ने पूछा, "वत्स! कैसी लगी जनकपुरी?" युवक सकुचाते हुए बोला, "महाराज, मेरा सारा ध्यान तो केवल कटोरे पर ही था कि कहीं तेल छलक न जाये। जनकपुरी तो देख ही न पाया।" राजा जनक मुस्कुरा कर बोले, "तुम्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया न? सब कुछ करते हुए भी मैं अपने काम से आसक्त नहीं होता, टकटकी बांधे अपने उस ईश को देखता रहता हूं ताकि चौबीसों घण्टे अपना कर्तव्य-कर्म करते हुए भी मैं उन्हें क्षण भर के लिए भी भुला न दूं।"

ये हैं रत्नगर्भा वसुन्धरा के विरल रत्न!

हम देखते आये हैं कि क्रम-विकास में नदी की लहरों की भांति कभी उत्थान तो कभी पतन होता रहा है। भारत के मध्य-युग में उसकी अभीप्सा, उसके पुरुषार्थ का ह्रास हो गया था, उसका उत्साह ठण्डा पड़ गया था, उच्चतर आदर्श और जीवन के प्रति उसकी ललक प्रायः लुप्त हो गयी थी, ऐसे समय भारत पर विदेशी शक्तियों का आक्रमण हुआ और उस पर कालरात्रि-सा अंधेरा छा गया। कई सदियों तक भारत लड़खड़ाता रहा। ऐसी प्रतीति हो रही थी कि अब वह कभी फिर से उठ न पायेगा, तब उस निबिड़ अन्धकार में कई छोटे-छोटे स्फुलिंग चमक उठे। मीराबाई के हृदय की गहराई से प्राणदायक शब्द निकले—"पायो जी मैंने रामरतन धन पायो," तो दयाराम की सुन्दर वाणी भी गूंज उठी। भक्ति-गंगा बहने लगी। सन्त दयाराम अपनी एक कविता में भोली-भाली, भक्त ग्वालिन का वर्णन किस तरह करते हैं, जरा देखें—

"दही बेचने निकली ग्वालिन चिल्ला रही है, 'कोई माधव ले लो,

कोई माधव ले लो!' वह तो अपने माधव में इतनी रमी रहती थी कि द के बजाय माधव, माधव ही बरबस उसके मुंह से निकल रहा था। गली-गली, नुक्कड़-नुक्कड़ से लोगों की टोलियां आकर उसके पास जुट गये “क्या तू माधव को बेच रही है” की गुहार से सारा गांव मानों गूंज उठा

अपने माधव में खोई ग्वालिन ने जो दही के मटके का ढक्कन उठाया तो क्या देखा हक्के-बक्के गांववालों ने? दही पर कृष्ण-कन्हैया खड़े बंसी बजा रहे थे!!

अपने भक्त की बात सच करने के लिए वे धरती पर उतर आये थे।”

भक्ति-सागर की लहरें भारत के तटों को दुलारती रहीं, फिर सदियों बाद भारत में विवेकानन्द जैसा विरल संन्यासी जागा जिसने भारत को झकझोर कर उठा दिया। अपनी पराधीनता से विक्षुब्ध देश संघर्ष करने लगा; फिर भी उसे स्वाधीन होने के लिए कई नये उपाय करने पड़े। पहली बार एक पराधीन राष्ट्र अहिंसक युद्ध करके स्वाधीन हो पाया।

यह तो था एक चमत्कार! किन्तु यह थी केवल चमत्कारों की शुरुआत!

उसके बाद राजनीति की सफल योजना को छोड़ कर, लोकप्रियता के शिखर से उतरकर जिन्होंने श्रीकृष्ण द्वारा इंगित पथ को अपनाया वे श्रीअरविन्द अपूर्व योग-पथ पर चल पड़े। श्रीकृष्ण का आदेश था कि वे मन से ऊपर विद्यमान क्षेत्र को मानवजाति के बीच उतारें। वह था अधिमानस क्षेत्र। उसे धरती के वातावरण में उन्होंने उतारा, फिर उन्होंने अतिमानस की ओर चरण बढ़ाये। अपने जीवन के अन्तिम समय में वे अतिमानस-शक्ति को अपने शरीर में उतारने में सफल हुए। फिर उन्होंने अतिमानस की पूरी शक्ति को उतारने का कार्य माताजी के हाथों में सौंप दिया। वे भी धरती पर उसके अवतरण का कार्य सतत करती रहीं और २९ फरवरी १९५६ को वे इसे धरती पर उतारने में सफल हुईं। इस नयी

शक्ति के अवतरण का प्रभाव मायावी जादू-सा नहीं हुआ, किन्तु जैसे-जैसे मनुष्य उसके प्रति खुलते गये उसका चमत्कार स्पष्ट दीखने लगा। एक ठोस उदाहरण है जर्मनी का—बर्लिन की दीवार जो बरसों तक जर्मन-जनता को दो हिस्सों में विभक्त कर खड़ी थी, हठात् जनता के आक्रोश के कारण ढह गयी। जैसा कि बहुत-से लोग मानते हैं, उस दीवार को तोड़ने के लिए एक अदृश्य शक्ति ने लोगों में ऐसा साहस भर दिया कि कोई भी उस विराट्-जनता का सामना न कर पाया। वह अदृश्य शक्ति थी अतिमानस की शक्ति और जब-जब जो-जो उसकी ओर खुलता है उसका आशातीत लाभ प्राप्त करता है।

इसके कुछ अन्य उदाहरण हम अगले अंक में देखेंगे।

(क्रमशः) —अनुबेन

दैनन्दिनी

अप्रैल

१. तुम प्रगति के लिए प्रयत्न करते हो क्योंकि तुम अपने अन्दर इसकी आवश्यकता महसूस करते हो, प्रयत्न और प्रगति करने के लिए **अनिवार्य** आवश्यकता का अनुभव करते हो। यह प्रयत्न वह भेंट है जो तुम अपने अन्दर स्थित दिव्य चेतना को, विश्व की दिव्य चेतना को अर्पित करते हो, यह अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने का, अपने-आपको दे देने का तुम्हारा तरीका है; और फलस्वरूप यह कोई प्रगति लाता है या नहीं इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। तुम तभी प्रगति करोगे जब यह निर्णय हो जायेगा कि प्रगति का समय आ गया है, इसलिए नहीं कि तुम चाहते हो।

२. थोड़ा-सा सीखना बहुत बुरा है। तुम्हें अधिक सीखना चाहिये, यहांतक कि तुम उस स्थिति में आ जाओ जहां तुम देख सको कि तुम्हें कुछ नहीं आता...।

३. पार्थिव जीवन का औचित्य यही है कि पृथ्वी पर मनुष्य भगवान् को उपलब्ध करने के लिए है।

४. यदि भगवान् को पुनः खोज लेने और भगवान् का ही बन जाने का, उन्हें अभिव्यक्त करने का, उन्हें बाह्य रूप में उपलब्ध करने का यह सर्वोच्च हेतु न होता तो पार्थिव जीवन, जैसा कि यह है, एक राक्षसी जीवन हो जाता।

५. यदि तुम भगवान् की ओर मुड़ो और उन पर पूरा भरोसा रखो और उनसे मांगो, तो तुम उस चीज को पा लोगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है—आवश्यक रूप में वह चीज नहीं जिसके विषय में तुम कल्पना करते हो कि तुम्हें उसकी जरूरत है; परन्तु यथार्थ में जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता है उसे पा लोगे। लेकिन तुम्हें उनसे मांगना होगा।

"मेरे लिए वही करो जो आवश्यक है और मुझे मेरी सत्ता के परम 'सत्य' तक ले चलो। मुझे वही वस्तु दो जिसे तुम अपने सर्वोच्च ज्ञान के द्वारा मेरी आवश्यक वस्तु के रूप में देखते हो।"

६. आत्म-प्रभुत्व का अर्थ है अपने और अपनी गतिविधियों के बारे में सचेतन होना, वही करना जिसे करने का तुमने निश्चय किया है, वह नहीं जिसे दूसरे करवाना चाहते हैं।

७. सच्चे, सद्हृदय बनो तो तुम्हें सहायता प्राप्त होगी।

८. वास्तव में विराट् 'आत्मा', आध्यात्मिक चेतना और भागवत उपस्थिति ही वे चीजें हैं जो जीवन को उसका समस्त मूल्य प्रदान करती हैं और इस आध्यात्मिक चेतना तथा भागवत

उपस्थिति के बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं है।

९. किसी भी बाहरी दृश्य और बाहरी वस्तु का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। एकमात्र वस्तु जो मूल्यवान् है वह है दिव्य चेतना तथा परमात्मा के साथ एकत्व।

१०. प्रश्न : क्या आनन्द कामना से मिलता है?

उत्तर : नहीं, कामना केवल क्रम-विकास के आरम्भ में चेतना को उसकी जड़ता से जगाने के लिए उपयोगी थी, लेकिन कामना तुम्हें आनन्द तक नहीं पहुंचा सकती—केवल आत्मदान ही यह कर सकता है।

११. प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी पथ का अपने निजी ढंग से अनुसरण करता है, और कोई दो पथ एक जैसे नहीं हैं; और प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी मार्ग है।

१२. जीवन में आलसी व्यक्तियों को दूसरों की अपेक्षा दसगुना अधिक कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है, क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, बुरी तरह करते हैं, अतएव वे उसे फिर से करने के लिए बाध्य होते हैं।

१३. मैं यह चाहूंगी कि तुममें से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी आन्तरिक अभीप्सा तथा आत्मोपलब्धि के संकल्प की सच्चाई के साथ, अपना अनुशासन स्वयं खोज निकाले।

१४. मनुष्य को पहले की अपेक्षा थोड़ा अधिक करने का प्रयास, **सर्वदा** करते रहना चाहिये। तब मनुष्य ऊपर की ओर जाने के पथ पर होता है।

१५. काम अच्छी तरह करने का सन्तोष ही सबसे अच्छा इनाम होता है और बुरी तरह करने पर आदमी अपने-आपको दण्ड दे लेता है, इस तरह कि वह अपने-आपको अभागा, दुःखी और बेचैन अनुभव करता है, और सचमुच उसके लिए यह

सबसे ज्यादा ठोस दण्ड है।

१६. जिस चीज की तुम्हारी चेतना में प्रधानता होती है, वह बड़ी तेजी से उपलब्ध हो सकती है।

१७. भौतिक जगत् में, समस्त वस्तुओं में सौन्दर्य ही वह वस्तु है जो भगवान् को सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त करती है।

१८. परम सुख है भगवान् का सच्चा सेवक बनने में।

१९. शुद्धि के बिना हमारी प्रकृति हमारी कामनाओं, हमारे आवेगों, अस्मिताओं, भयों और दुर्बलताओं के कारण बोझिल और विकृत होती है।

२०. भौतिक स्वास्थ्य की तरह मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य भी है। जैसे शरीर और क्रिया-कलाप की सुन्दरता होती है उसी तरह संवेदनों में भी सुन्दरता और सामञ्जस्य होता है।

२१. अवचेतना में सत्य की शक्ति : यह तभी कार्य कर सकती है जब तुम्हारी निष्कपटता पूर्ण हो।

२२. भौतिक शरीर में आनन्द : पूर्ण समानता और समर्पण में, समस्त कामनाओं और विरक्तियों से शुद्ध होकर भौतिक शरीर भागवत 'आनन्द' का रसपान करने को प्रस्तुत हो।

२३. भौतिक में शान्ति : भगवान् जो चाहते हैं वही चाहना, सबसे अच्छी स्थिति है।

२४. कोषाणुओं की शुद्धि कामनाओं पर विजय के बिना नहीं पायी जा सकती। अच्छे स्वास्थ्य के लिए यही सच्ची स्थिति है।

२५. भौतिक में सत्ता का आनन्द भगवान् के प्रति कृतज्ञता की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति है।

२६. प्राण में उचित वृत्ति :
आत्म-विश्वास—
मानसिक और प्राणिक अचञ्चल श्रद्धा—

अपनी सिद्धि में और भागवत सहायता में श्रद्धा।

२७. प्रश्न : व्यक्ति अन्धकारमय प्राण को कैसे जीत सकता है? या अन्धकारमय प्राण को आलोकमय प्राण में बदलना कैसे सम्भव है?

उत्तर : प्राण के समर्पण द्वारा, प्रकाश के प्रति उद्घाटन और चेतना की वृद्धि द्वारा।

२८. प्राणिक उत्सर्ग : आनन्ददायक रूप से विनम्र और सुगन्धित, यह अपनी ओर ध्यान खींचने की चाह के बिना जीवन की ओर मुस्कुराता है।

२९. तुम्हें हमेशा पूरी, पूरी सहायता दी जाती है, लेकिन तुम्हें उसे अपने बाहरी साधनों द्वारा नहीं बल्कि अपने हृदय की नीरवता में ग्रहण करना सीखना होगा। तुम्हारे हृदय की नीरवता में ही भगवान् तुमसे बोलेंगे, तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगे और तुम्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचायेंगे। लेकिन इसके लिए तुम्हारे अन्दर 'भागवत कृपा' और 'प्रेम' में पूरी श्रद्धा होनी चाहिये।

३०. हमारे हृदय की गहराई में हमेशा महान् आनन्द रहता है और हम उसे हमेशा वहां पा सकते हैं।

मैं यह अधिकाधिक स्पष्ट रूप में देख रहा हूं कि मानवजाति जिस व्यर्थ के घेरे में सदा से चक्कर काट रही है उसमें से मनुष्य तबतक कदापि बाहर नहीं निकल सकता जबतक वह अपने को ऊंचा उठाकर नये आधार पर प्रतिष्ठित नहीं कर लेता। मेरा यह भी विश्वास है कि इस महान् विजय को संसार के लिए साधित करना भारत का ध्येय है।

—श्रीअरविन्द

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

'मेडिकल' साधना

चिकित्सा के विषय में मेरे लिए बहुत कुछ सीखना बाकी था। सचमुच माताजी की पाठशाला ने ही मुझे रोगी को नीरोग करने की दीक्षा दी थी। औषधियों के बारे में माताजी का ज्ञान सामान्य बुद्धिमान् डॉक्टर से कहीं ज्यादा था। मेरी पुस्तक 'श्रीअरविन्द के साथ बारह वर्ष' में मैंने उल्लेख किया है कि माताजी ने अपने ज्ञान से शल्य-चिकित्सक को भी चौंका दिया था। उनका यह ज्ञान मुख्यतः अन्तर्बोध से आया था और कुछ अंश में उनके विस्तृत अनुभवों से भी आया था। मेरे ख्याल से इस क्षेत्र में यूरोपीय व्यक्ति हम लोगों से आगे होते हैं। दवाओं के बारे में अपने परिचित और अभ्यस्त सिद्धान्तों को मुझे भुलाना पड़ा या बदलना पड़ा था। मुझे उन दवाओं का उपयोग करना छोड़ना पड़ा या उनका उपयोग कम करना पड़ा। मुझे यह सीखना पड़ा कि दवाइयों का उपयोग कम-से-कम करके प्रकृति को बीमार को नीरोग करने का अवसर दूं। श्रीअरविन्द ने मुझे 'रॉयल कॉलेज ऑफ फिज़िशियंस' के विख्यात अध्यक्ष का एक लेख भेजा जिसमें उन्होंने इस सिद्धान्त का समर्थन किया था कि प्रकृति हमारी ९० से ९९ प्रतिशत बीमारियों को दूर कर देती है और उनका कहना था कि डॉक्टर केवल प्रकृति के सहायक मात्र हैं। इसके अतिरिक्त मैंने जो महान् रहस्य सीखा वह यह था कि कीटाणु बीमारी नहीं लाते और न ही दवाई बीमारी को दूर करती है बल्कि डॉक्टर यानी मनुष्य का, व्यक्तित्व का ही महत्त्व होता है; दूसरे शब्दों में कहें तो चिकित्सक तो एक उच्चतर शक्ति का माध्यम है, जो उसका उपयोग करती है, दवाइयों की भूमिका तो गौण ही रहती

है। यह पढ़ने के बाद मैंने कभी-कभी योगी-डॉक्टर बनने की कोशिश की तो मुझे बायें हाथ से लोगों ने बधाई दी कि मैं डॉक्टर की अपेक्षा साधक ज्यादा हूं। मैंने साधारण अस्वस्थता के लिए दवाई देनी छोड़ दी और मैं आशा करता था कि बीमार अपनी श्रद्धा के बल से या आन्तरिक प्रतिरोध करने की अपनी शक्ति से स्वस्थ हो पायेगा।

बाद में मैंने सीखा कि बीमारियों के पीछे कई शक्तियां भी होती हैं। ये शक्तियां मनोवैज्ञानिक या तान्त्रिक भी हो सकती हैं जो शरीर से लिपटे सूक्ष्म आवरण पर पहले आक्रमण करके आवरण को अशक्त कर देती हैं, तभी कीटाणु शरीर में प्रवेश कर बीमारी लाते हैं। जिसका आवरण मजबूत और दृढ़ हो, ऐसा व्यक्ति महामारी से दूषित स्थान पर भी क्यों न पहुंच जाये फिर भी बीमारी की छूत से मुक्त रहता है। इस तरह केवल ब्रिटिश औषधशास्त्र की हजारों दवाइयों और उनकी नीरोग करने की शक्ति से भरे मेरे परम्परागत डॉक्टरी मन के लिए यह नूतन ज्ञान ज्योतिर्दायक बन गया। लेकिन तब भी मैं समझ नहीं पाता था कि मनुष्य को अपने सूक्ष्म आवरण का ज्ञान हो, फिर भी वह उसका व्यावहारिक उपयोग कैसे कर पायेगा! एक व्यक्ति यदि किसी बीमारी के आक्रमण को अपने शरीर में प्रवेश करते हुए अनुभव करे और शरीर में प्रवेश करने से पहले उसे रोक भी पाये तो ऐसी परिस्थिति में डॉक्टर की भूमिका क्या होगी? हां, अगर डॉक्टर भी गुह्य ज्ञान जानता हो, तो क्या गुह्य तरीके से वह उस व्यक्ति की मदद कर पायेगा?

मैंने जो सबसे महान् रहस्य पाया वह यह था कि आध्यात्मिक शक्ति बीमारियों को दूर कर सकती है। मैं अपने-आप तो इस बात पर विश्वास करता हूं, लेकिन मेरी डॉक्टरी बाह्य मानसिक सत्ता को शायद पूर्ण श्रद्धा न थी। या ऐसा भी हो सकता है कि मेरा शंकाशील

स्वभाव रास्ते में रोड़ा बना खड़ा था। गुरु को बार-बार मेरे दिमाग को छेद कर उसमें ज्यादा-से-ज्यादा श्रद्धा उंडेलनी पड़ती थी।

आश्रम में चिकित्सा करना बाहर चिकित्सा करने के जैसा आसान या सरल नहीं था। बीमार साधक को माताजी के हाईकोर्ट में अपील करने का अधिकार था। मान लो उसे अपनी चिकित्सा में विलम्ब होता महसूस हो या उसने मान लिया कि डॉक्टर उसे गलत या ज्यादा उग्र दवाई दे रहा है तो वह झट अपील कर देता। संक्षेप में, हर तरह की शिकायत, वह सच्ची हो या काल्पनिक, माताजी के पास भेजी जाती क्योंकि उसके लिए कोई दाम तो देना नहीं पड़ता था! उसके बाद श्रीअरविन्द मज़ाकिया ढंग से उसके बारे में पूछ-ताछ करते या मुझे खुश करने के लिए मज़ेदार आदेश भेजते। "श्रीअरविन्दोज़ ह्यूमर" नामक मेरी पुस्तक में ऐसे कई उल्लेख हैं। लेकिन माताजी हमेशा खेल के सब नियमों का पालन करतीं। अगर उन्होंने किसी को अधिकार दिया तो फिर अपने पूर्ण अधिकार का प्रयोग कभी-कदास ही करतीं।

मैंने बताया था कि माताजी मेरी चिकित्सा की रिपोर्ट बड़े ध्यान से पढ़ती थीं और साथ ही बीमार व्यक्ति की प्रगति का ब्योरा भी प्रत्येक दिन पढ़ती थीं। प्रणाम के समय भी माताजी की दृष्टि न केवल उस (बीमार) की चैत्य सत्ता को ही भेदती थी बल्कि साथ ही भौतिक सत्ता को भी भेदती थी और वे कहीं कुछ गड़बड़ देखतीं तो उसकी चर्चा हमसे करतीं। उसका प्रमाण एक उदाहरण से मैं देता हूं। एक साधक की गरदन पर सूजन हो गयी थी। मैंने उन्हें ऑपरेशन करवाने की सलाह दी, किन्तु वे हिचकिचा रहे थे। श्रीअरविन्द ने उत्तर दिया, "माताजी प्रणाम के समय उसकी गरदन पर लगे 'आम' को देख रही थीं और लगा कि वह आम काफी गहरा है और केवल उसी जगह सुन्न कर देने से काम न चलेगा; कुछ अधिक ही दवाई

देनी पड़ेगी। अगर वह ऑपरेशन से घबड़ाता है तो ऑपरेशन से उसे कुछ फायदा न होगा।" बहुत वर्षों के बाद आखिर उस व्यक्ति का ऑपरेशन हुआ। सामान्यतः माताजी का झुकाव ऑपरेशन के प्रति नहीं होता था। उन्हें "हमारी मानव दवाइयों" पर "दिव्य आपत्ति" होती थी।

एक बार मैंने लिखा, "मैं देखता हूं कि बीमारियों के लिए जिन चीजों की सिफारिश की जाती है उन्हें 'प्रभु' पसन्द नहीं करते, तो फिर ज्यादा अच्छा है कि दवाइयां देने से पहले आपकी राय जान ली जाये।" श्रीअरविन्द ने उत्तर लिखा, "कुछ दवाइयां ऐसी होती हैं जो अस्थायी रूप से बीमारी ठीक कर देती हैं, किन्तु शरीर के लिए बुरी होती हैं, जैसे कुनैन कुछ ऐसी ही है। कुछ दवाइयां ऐसी होती हैं जो कइयों के लिए अनुकूल होती हैं और कइयों को हानि पहुंचाती हैं। कुछ दवाइयां एक ओर से अच्छा प्रभाव डालती हैं किन्तु दूसरी तरह से हानिकर होती हैं। इसी कारण माताजी दवाइयों का अंधाधुंध उपयोग नापसन्द करती हैं। कई दवाइयों के लिए उनकी पूरी-पूरी अस्वीकृति है, जैसे कुनैन। उन्हें विरेचन का अतिशय उपयोग भी नापसन्द है।" मैं यह भी जोड़ दूं कि कई दवाइयां और भी हैं जिन्हें वे 'काले भूत' की तरह वर्ज्य मानती हैं। एक बार माताजी के पास किसी ने एरण्ड के तेल की शीशियां भेजीं। माताजी ने मेरी ओर देखा और कहा, "अब तुम एरण्ड देकर अपने बीमारों को विष दे सकते हो!" और छोटे बच्चों को एरण्ड देना उनकी दृष्टि में उनकी हत्या करने के बराबर था। ऐसी एक और बात थी, वे क्षय को छूत की बीमारी नहीं मानती थीं। जब मैंने यह बात पहली बार सुनी और फरासीसी विशेषज्ञों की राय उद्धृत की गयी तो मेरा डॉक्टरी खून खौल उठा। मैं चुनौती देने के लिए तत्पर हो रहा था, लेकिन सद्बुद्धि जाग गयी। उसके बाद हमारे यहां एक महिला क्षयरोग से पीड़ित पायी गयीं। उन्हें अन्य

आश्रमवासियों के साथ रखा गया और सभी सामूहिक कार्यों में भी वे हिस्सा लेती थीं; केवल एक ही अपवाद था, वह यह कि वे अपना भोजन घर पर ही लेती थीं। क्षयरोग के विशेषज्ञ डॉक्टर राम अधिकारी जब यहां आये तो मैंने उन्हें बीमार स्त्री को दिखलाया। वे उसे सब के साथ मिलते-जुलते देखकर चकित हो गये; उन्होंने माताजी से अनुरोध किया कि उसे 'सैनेटोरियम' में भेजा जाये। माताजी ने उनकी बात चुपचाप सुनी और मुझसे एकान्त में कहा कि हमें उन विशेषज्ञ की बात पर ध्यान न देना चाहिये। वह स्त्री अब तक जीवित है और अन्य स्त्रियों की तरह चलती-फिरती है। जहां तक मुझे पता है, किसी को उसकी बीमारी की छूत नहीं लगी।

जहां तक छोटे बच्चों की बात थी, माताजी ज्यादा रूढ़िवादी थीं। कभी-कभी गुरु और मेरे बीच राय में मतभेद हो जाता था। श्रीअरविन्द चिकित्सक की राय को मान देते हुए भी, अपनी और माताजी की राय का ही समर्थन करते थे। एक बार वे कुछ चिढ़ से गये जब मैंने लिखा, "जो कुछ थोड़ा-बहुत चिकित्सकों ने अपने अनुभव से प्रभावकारी पाया है वह आपको स्वीकार्य नहीं है, उदाहरण के लिए, कालोमेल (एक विशेष बीमारी के लिए दवाई) के लिए डॉक्टर सिफारिश करते हैं किन्तु आप उसके लिए मना करते हैं।" उन्होंने लिख भेजा, "इन मामलों की चर्चा करना बेकार है—माताजी का दृष्टिकोण रूढ़िगत दवाओं से इतनी दूर है कि चिकित्सक-मन उसे समझ नहीं पाता। केवल वे ही समझ पाते हैं जो रूढ़िगत लीक से बाहर निकल आये हैं या फिर ऐसे लोग जो अपने दीर्घकालीन डॉक्टरी-अनुभव के पश्चात्, बहुत कुछ जानने-समझने के बाद अपनी 'साइंस' की सीमाओं के प्रति विध्वंसकारी रूप से स्पष्टवादी होने की क्षमता रखते हैं।

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द—अपने राजनीति छोड़ने के कुछ कारणों के बारे में

मैं कह... सकता हूं कि मैंने राजनीति इसलिए नहीं छोड़ी कि मुझे लगा कि मैं वहां और अधिक कुछ नहीं कर सकता था, ऐसा विचार तो मुझसे कोसों दूर है। मैं राजनीति से विरत हुआ क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि कोई भी चीज मेरे योग में विघ्न डाले, और इसलिए कि इस मामले में मुझे बहुत स्पष्ट आदेश प्राप्त हुआ था। मैंने राजनीति से पूरी तरह सम्बन्ध काट लिया, परन्तु ऐसा करने से पहले मुझे अन्दर से पता लग गया था कि जिस काम को मैंने शुरू किया है उसका मेरी पूर्व योजना के अनुसार ही दूसरों के द्वारा आगे ले जाना विधिविहित है और मेरे चलाये इस आन्दोलन की, मेरे व्यक्तिशः इसमें भाग लेने या मेरी वैयक्तिक उपस्थिति के बिना भी अन्तिम विजय सुनिश्चित है। मेरे निवृत्त होने के पीछे रञ्चमात्र भी निराशा या निःसारता-बोध का कोई कारण न था। बाकी के लिए, मैंने कभी ऐसा नहीं देखा कि संसार की गतिविधि से सम्बन्धित किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना-चक्र के लिए मैंने संकल्प किया हो और वह अन्ततः सफल न हुआ हो, हो सकता है जागतिक शक्तियों को उसे पूरा करने में लम्बा समय लगा हो।

अक्तूबर १९३२

पॉण्डिचेरी आने के करीब ७ महीने बाद, ७ नवम्बर १९१० में श्रीअरविन्द ने मद्रास के एक पत्र 'हिन्दू' को अपने राजनीति से निवृत्त होने के बारे में लिखा :

यदि आप अपने दैनिक पत्र द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को, जिसे मेरी खोज-

खबर में रुचि है, यह सूचना देने कि अनुमति दे सकें कि मैं पॉण्डिचेरी में हूं और यहीं रहूंगा तो मैं आपका आभारी होऊंगा। मेरे विरुद्ध कार्यवाही होने से एक माह पूर्व ही मैं ब्रिटिश भारत को छोड़ चुका था, और चूंकि मैं एक उद्देश्य से यहां आया हूं कि मैं राजनीतिक कार्य या कारोबार के झंझट में पड़े बिना अपने योग का अनुशीलन कर सकूं और चूंकि मैंने पहले ही राजनीतिक कार्य से अपने सम्बन्ध काट लिये थे अतः राजद्रोह के वॉरण्ट पर मुझे अपने-आपको सुपुर्द कर देने की कोई जरूरत नहीं लगती, जैसा कि यदि मैं राजनीतिक क्षेत्र में होता तो यह मेरे लिए अत्यावश्यक होता। क्योंकि मैं यहां एक धर्मनिष्ठ एकान्तवासी के रूप में रह रहा हूं, मैं केवल थोड़े-से फरासीसी एवं भारतीय मित्रों से ही मिलता हूं, पर मेरा अता-पता एक प्रकट रहस्य है, सरकार के कार्यकर्ताओं को इसकी बहुत पहले से जानकारी है, मद्रास में इसकी आम चर्चा है और पॉण्डिचेरी में तो हर कोई इसे खूब अच्छी तरह जानता है। कुछ-कुछ अपनी इच्छा के विरुद्ध मैं अपने को विवश पाता हूं कि मैं अपने यहां रहने के बारे में खुले तौर पर सबको बता दूं। कुछ लोगों ने किसी गुप्त उद्देश्य से यह बात गढ़ डाली है कि मैं पॉण्डिचेरी में नहीं हूं, बल्कि ब्रिटिश भारत में हूं, तो मैं जोर देकर, बल के साथ यह बता देना चाहता हूं कि मैं गत मार्च से ब्रिटिश भारत में नहीं रहा और भविष्य में तब तक एक पल के लिए भी ब्रिटिश भारत में पैर नहीं रखूंगा जब तक मैं खुले आम, सार्वजनिक रूप से नहीं लौटता। किसी भी व्यक्ति द्वारा अब या भविष्य में इसके विपरीत दिया गया वक्तव्य मिथ्या होगा। इसके साथ ही मैं यह भी पूरी तरह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि फिलहाल मैं सब प्रकार की राजनीतिक गतिविधि से निवृत्त हो गया हूं और राजनीतिक मामलों से सम्बन्धित किसी व्यक्ति से नहीं मिलूंगा, न पत्र-व्यवहार रखूंगा। ब्रिटिश भारत छोड़ने के

अपने कदम के बारे में कोई स्पष्टीकरण या सफाई देना मैं तब तक के लिए स्थगित करता हूं जब तक कि कलकत्ता-हाईकोर्ट 'कर्मयोगी' में छपे लेखों पर, जिन्हें लेकर मुझ पर आरोप लगाया गया है, मुझे अपराधी या निर्दोष घोषित नहीं कर देता।

('हिन्दू', १३ नवम्बर १९१०)

श्रीअरविन्द के भारतीय राजनीतिक मञ्च से हटकर पॉण्डिचेरी में बस जाने के लगभग दस वर्ष बाद दो प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं ने उन्हें लिखकर प्रार्थना की कि वे ब्रिटिश भारत आकर भारतीय राजनीति के नेतृत्व का कार्य फिर से सम्भाल लें।

उनमें एक थे जोसेफ़ बैप्टिस्टा जिन्होंने श्रीअरविन्द से प्रार्थना की कि ब्रिटिश भारत लौटकर एक अंग्रेजी दैनिक के सम्पादन का कार्य हाथ में लें। इस दैनिक को एक नयी राजनीतिक पार्टी के, जिसे तिलक तथा अन्य नेता उस समय बनाने का इरादा कर रहे थे, यन्त्र के रूप में बम्बई से प्रकाशित करने का विचार था।

दूसरे थे डॉ. मुञ्जे, जिन्होंने श्रीअरविन्द से भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का अध्यक्ष-पद ग्रहण करने के लिए ब्रिटिश भारत वापस आने की प्रार्थना की थी। डॉ. मुञ्जे नागपुर काँग्रेस के अत्यन्त प्रमुख नेताओं में से एक थे। वे १९२० में पॉण्डिचेरी भी आये थे और श्रीअरविन्द से उस समय की भारतीय राजनीति पर लम्बी बातचीत की थी।

इन दोनों प्रार्थनाओं पर श्रीअरविन्द के उत्तर यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

प्रिय बैप्टिस्टा,

आपका प्रस्ताव लुभावना है, पर मुझे खेद है कि मैं इसका उत्तर हां में नहीं दे सकता। मेरा कर्तव्य है कि मैं आपको अपने

कारण साफ-साफ बता दूं। पहली बात तो यह है कि अभी मैं ब्रिटिश भारत लौटने को तैयार नहीं हूं। यह बात किसी राजनीतिक बाधा से बिलकुल अलग है। मैं जानता हूं कि गत सितम्बर तक बंगाल की सरकार (और सम्भवतः मद्रास की सरकार भी) मेरे ब्रिटिश भारत लौटने के विरोध में थी और व्यवहारतः इस विरोध का अर्थ है कि यदि मैं लौट आऊं तो मैं कृपालु कानूनी धाराओं... में से किसी एक या दूसरी के अन्तर्गत नज़रबन्द या कैद कर लिया जाऊंगा। मुझे नहीं लगता कि दूसरी सरकारें भी उनके अपने प्रान्तों में मेरे आने से अधिक प्रसन्न होंगी। शायद राजा की घोषणा से कुछ फर्क पड़े, पर वह निश्चित नहीं है क्योंकि जैसा कि मैं समझता हूं, इसका अर्थ पिछली बातों को बिसरा देना नहीं है बल्कि यह एक सदाशयतापूर्ण रियायत और कृपा है और वह भी वायसरॉय के विवेक के साथ प्रतिबद्ध है। मेरे हाथ में इतना अधिक काम है कि मैं बिन चाहे सरकार का मेहमान बनकर खाली आराम में अपना समय नहीं गंवा सकता। परन्तु यदि मुझे यह आश्वासन दे भी दिया जाये कि मुझे अपना कार्य एवं अपनी गतिविधि अपनाने की पूरी छूट है तो भी मैं अभी न आ सकूंगा। मैं पॉण्डिचेरी इसलिए आया हूं कि एक निश्चित कार्य को पूरा करने के लिए स्वतन्त्र और शान्त अवस्था पा सकूं। इस कार्य का वर्तमान राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां आने के समय से मैंने राजनीति में कोई सीधा भाग नहीं लिया है, यद्यपि अपने ढंग से मैं अपने देश के लिए जो कुछ कर सकता था बराबर करता रहा हूं। जब तक मेरा यह काम नहीं हो जाता, किसी भी प्रकार के सार्वजनिक कार्य को अपने हाथ में लेना मेरे लिए सम्भव नहीं है। यदि मैं ब्रिटिश भारत में होऊं तो मुझे विवश होकर नाना प्रकार के कार्यों में व्यस्त हो जाना पड़ेगा। पॉण्डिचेरी मेरी साधना-स्थली है, मेरी तपोभूमि है, वैरागियों की-सी

नहीं, बल्कि मेरी आविष्कृत अपने ही प्रकार की। पहले मुझे वह काम समाप्त करना है, इससे पहले कि मैं इस जगह को छोड़ूं मुझे अन्दर से सज्जित और सन्नद्ध हो जाना होगा।

अब अपने-आपमें काम के विषय में। मैं राजनीति या राजनीतिक कार्य को बिलकुल भी नीचा नहीं समझता, और न ही यह मानता हूं कि मैं इनसे ऊपर उठ गया हूं। मैंने आध्यात्मिक जीवन पर सदा ही बहुत अधिक बल दिया है और अब तो मैं सारा बल उसी पर देता हूं। परन्तु मेरा अध्यात्म-विषयक विचार वैरागियों का-सा सांसारिक चीजों से हटाव या घृणा या अरुचि का नहीं है। मेरे लिए कोई भी चीज ऐसी नहीं है जो केवल संसार से सम्बन्ध रखती हो, सभी मानव क्रिया-कलाप मेरे लिए ऐसे हैं जो पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में शामिल हो जाते हैं, और राजनीति का महत्त्व आज के समय में बहुत अधिक है। पर राजनीतिक कार्य की मेरी दिशा और कार्य के पीछे की भावना इस क्षेत्र में इस समय प्रचलित किसी भी चीज से बहुत भिन्न होगी। मेरे राजनीतिक कार्य में प्रवेश करने और १९०३ से १९१० तक उसे जारी रखने में एक, और केवल एक ही उद्देश्य था, और वह था उस समय प्रचलित काँग्रेस के प्रभावहीन और आराम के साथ धीरे-धीरे कार्य करने के तरीके के स्थान पर जनता के मन में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प की और उसे पाने के लिए संघर्ष की आवश्यकता की स्थापना करना। वह काम अब पूरा हो गया है और अमृतसर काँग्रेस ने उस पर मोहर भी लगा दी है। संकल्प जितना होना चाहिये उतना व्यावहारिक और गठित नहीं है, न ही यह किसी प्रकार संगठित और कार्य को स्थिरतापूर्वक बनाये रखनेवाला है। फिर भी संकल्प वहां है और ऐसे बहुत-से समर्थ और सुयोग्य नेता भी हैं जो मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। मेरे विचार में सुधारों के पर्याप्त न होने पर भी, आत्म-निर्णय का संकल्प

शीघ्र विजयी होगा, यदि देश अपने मौजूदा आवेग को बनाये रखे, और मुझे इसमें सन्देह नहीं कि वह बनाये रखेगा। जो प्रश्न इस समय मुझे घेरे हुए है वह है कि वह अपने आत्म-निर्णय के अधिकार का क्या करेगा, अपनी स्वतन्त्रता का कैसे उपयोग करेगा, और अपने भविष्य का निर्धारण किन लकीरों पर करेगा?

आप पूछ सकते हैं कि मैं स्वयं क्यों बाहर नहीं आता, जहांतक बन पड़े सहायता नहीं करता और नेतृत्व नहीं करता? पर मेरे मन को, कुछ असुखकर होते हुए भी, समय से आगे दौड़ने की आदत है, कोई कह सकता है समय से एकदम बाहर आदर्श-जगत् में दौड़ लगाने की। आप कहते हैं कि आपकी पार्टी समाजमूलक जनतन्त्रीय पार्टी होने जा रही है। अब मेरा विश्वास एक ऐसी चीज में है जिसे समाजमूलक जनतन्त्र कहा जा सकता है, पर उसके आजकल जो रूप प्रचलित हैं उनमें से किसी में नहीं, उसके यूरोपीय रूप से तो मेरा तनिक भी प्रेम नहीं, चाहे भूतकाल की अपेक्षा उसमें कितना भी सुधार क्यों न हो गया हो। भारत की अपनी एक आत्मा है, और अपनी सभ्यता के अनुरूप उसका एक विशिष्ट प्रभुत्वशाली स्वभाव भी है। तो मैं मानता हूं कि अन्य प्रत्येक वस्तु की भांति राजनीति में भी उसे अपना मौलिक मार्ग काट कर तैयार करना चाहिये। यूरोप के पीछे-पीछे चलकर ठोकरें नहीं खानी चाहियें। लेकिन अगर उसे अपने मन की वर्तमान अस्त-व्यस्त और तैयारी-रहित अवस्था में मार्ग पर पग रखना है तो वह ठीक यही करने को बाधित होगा। निःसन्देह, लोग भारत के बारे में कहते हैं कि वह अपनी ही पद्धतियों का उपयोग करेगा, परन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नहीं लगता जिसके सामने बहुत स्पष्ट और उपयुक्त विचार हों कि वे पद्धतियां क्या होंगी। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ही कुछ आदर्श और सुनिश्चित विचार बनाये हैं, इनमें इस समय मेरा अनुसरण, लगता है, बहुत कम लोग ही

करेंगे। चूंकि वे विचार रूढ़ियुक्त ढंग के और अटल आध्यात्मिक आदर्श से शासित होंगे, अतः बहुतों को तो समझ में ही नहीं आयेंगे और कितनों ही की भावनाओं को इनसे चोट पहुंचेगी और उनके लिए ये बाधा-रूप भी होंगे। परन्तु इनके व्यावहारिक रूप का मेरे पास कोई स्पष्ट और पूरा-पूरा विचार नहीं है, मेरे पास कोई बना-बनाया प्रोग्राम नहीं है। एक शब्द में, मैं अपने मन में तो अपना मार्ग देख रहा हूं पर उसे प्रचारित करने या क्रियारूप देने के लिए तैयार नहीं हूं। चाहे मैं तैयार होता तो उसका अर्थ होता कुछ काल के लिए अपनी अलग लीक बनाना या कम-से-कम अपने ही तरीके से चलने की स्वतन्त्रता। आपके दैनिक पत्र के सम्पादक के रूप में मैं अपने मत को ताक में रखकर दूसरों के मत की तूती बजाने के लिए बाध्य होऊंगा और जहां मैं वर्तमान समय की कार्यवाही के सम्बन्ध में उन्नत पार्टियों के सामान्य विचारों से पूरी सहानुभूति रखता हूं और, यदि मैं कार्यक्षेत्र में होता तो उनकी सहायता के लिए जो भी बन पड़ता करता, वहां मैं अपने स्वभाववश, अपने को इस प्रकार घेरे में बांध देने में असमर्थ-सा हूं, कम-से-कम जितना मुझे बंधना पड़ेगा उतना बंधकर नहीं रह सकता।

इस लम्बी-चौड़ी कहानी के लिए क्षमा करना। मैंने पूरी तरह खोलकर समझाना आवश्यक समझा ताकि आप यह न मान बैठें कि मैंने आध्यात्मिक तटस्थता के किसी दिखावे अथवा सचाई के कारण या देश की पुकार से कतराने की इच्छा से या आप और अन्य इतने सराहनीय तरीके से जो काम कर रहे हैं उससे सहानुभूति न होने के कारण आपकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। मैं पुनः खेद प्रकट करता हूं कि मुझे बाध्य होकर आपको निराश करना पड़ रहा है।

सच्चे हदय से आपका,
अरविन्द घोष

पॉण्डिचेरी
३० अगस्त, १९२०

प्रिय डॉ. मुञ्जे,

जैसा कि मैं आपको तार कर चुका हूं, नागपुर-काँग्रेस के सभापतित्व के लिए आपका प्रस्ताव स्वीकार करने में मैं अपने को असमर्थ अनुभव करता हूं। स्वयं राजनीतिक क्षेत्र में भी कुछ ऐसे कारण हैं जो हर हालत में मेरे मार्ग में आड़े आते। सर्वप्रथम, मैंने काँग्रेस के सिद्धान्त-पत्र पर विश्वास की वैयक्तिक घोषणा के रूप में कभी हस्ताक्षर नहीं किये और न कभी करना ही चाहूंगा, क्योंकि मेरा अपना विश्वास और ही प्रकार का है। दूसरे, ब्रिटिश भारत छोड़, एकान्त में चले जाने के बाद से मैंने ऐसे दृष्टिकोण एवं विचारों का विकास किया है जो मेरे उस समय के दृष्टिकोण एवं विचारों से अत्यधिक भिन्न हैं और, क्योंकि वे वर्तमान समय की यथार्थ अवस्थाओं से बहुत दूर हैं और राजनीतिक कार्य की वर्तमान धारा का अनुसरण नहीं करते, अतएव मैं काँग्रेस के सामने क्या कहूं इस विषय में मैं अपने को अत्यन्त हतप्रभ अनुभव करूंगा। जो कुछ आप लोग कर रहे हैं, उस सबके साथ वहां तक मेरी पूरी-पूरी सहानुभूति है जहांतक उसका उद्देश्य भारत के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना है, पर किसी भी पार्टी के प्रोग्राम के साथ एकमत होने में मैं अक्षम होऊंगा। काँग्रेस का सभापति वास्तव में काँग्रेस का प्रवक्ता होता है और सभापति के आसन से एक ऐसी शुद्ध वैयक्तिक घोषणा करना जो काँग्रेस की विचारधारा और कार्य से कोसों दूर हो, भद्दे रूप से अनुपयुक्त होगा। इतना ही नहीं, बल्कि आजकल अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमेटी का, सारे वर्ष में काँग्रेस की नीति का तथा दूसरे जो भी आकस्मिक संकट या प्रसंग उठ खड़े हों उन सबका भार सभापति के ऊपर होता है। मेरी वैधानिक आपत्ति को और, बहुत सम्भवतः, पद-सम्बन्धी

किसी प्रकार के कर्तव्यों को निभाने या किसी प्रकार का बीड़ा उठाने में मेरी असमर्थता को छोड़ भी दिया जाये तो भी मैं उक्त कार्यभार का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकूंगा, क्योंकि अपने सुनिश्चित प्रोग्राम को सहसा छोड़-छाड़, तुरन्त ब्रिटिश भारत में जा बसना मेरे लिए असम्भव है। ये कारण, हर हालत में, मेरे लिए आपका प्रस्ताव स्वाकीर करने के मार्ग में बाधक होते।

परन्तु केन्द्रीय कारण यह है कि मैं अब पहले की तरह प्रथम और प्रधान रूप से राजनीतिज्ञ नहीं हूं, बल्कि मैंने निश्चित रूप से एक और प्रकार का कार्य शुरू कर दिया है जिसका आधार आध्यात्मिक है और जो प्रायः क्रान्तिकारी प्रकार का, एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पुनर्निमाण का कार्य है, और साथ ही मैं इस अर्थ में एक प्रकार का क्रियात्मक या प्रयोगात्मक परीक्षण भी कर रहा हूं या कम-से-कम उसका अधीक्षण कर रहा हूं। यह कार्य मेरे सारे ध्यान और शक्ति की, जितनी कि मैं अधिक-से-अधिक लगा सकता हूं, अपेक्षा करता है। शुरू-शुरू में इस कार्य को और प्रचलित ढंग के राजनीतिक कार्य को मिलाना मेरे लिए असम्भव है। क्रियात्मक रूप से मुझे इसको एक ओर रख देना होगा, और ऐसा मैं नहीं कर सकता, क्योंकि इसे मैंने अपने शेष जीवन के लिए ध्येय के रूप में अपनाया है। आपकी पुकार के अनुरूप कार्य करने में मेरी असमर्थता का सच्चा कारण यही है।

मैं कह सकता हूं कि, जो भी हो, मेरे विचार से तिलक के स्थान पर मुझे आपका नेतृत्व करने के लिए कहकर आप एक गलत चुनाव कर रहे होंगे। भारत में इस समय जीवित कोई भी व्यक्ति, या कम-से-कम अबतक ज्ञात कोई भी व्यक्ति उनका स्थान ग्रहण करने में समर्थ नहीं, मैं तो सबसे कम सक्षम हूं। मैं तो रग-रग से आदर्शवादी हूं, और केवल तभी उपयोगी हो सकता हूं जब

कोई अमोघ उपाय करना हो, एक मूलगामी या क्रान्तिकारी (इस शब्द से मेरा मतलब हिंसात्मक ढंग से क्रान्तिकारी नहीं) दिशा का अनुसरण करना हो, आदर्श लक्ष्य और प्रत्यक्ष पद्धतिवाले किसी आन्दोलन की प्रेरणा देनी और संगठन करना हो। तिलक की नीति है "प्रत्युत्तरशील सहयोग", अनवरत आन्दोलन और जरूरत पड़ने पर प्रतिरोध—और वर्तमान परिस्थितियों में तो बहुधा आन्दोलन एवं प्रतिरोध की ही जरूरत होगी। यह नीति निःसन्देह किसी प्रकार के असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोध का एकमात्र विकल्प है। पर इसे फलप्रद बनाने के लिए इसके नेतृत्व के लिए एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत होगी जिसमें उनकी तरह नमनीयता, निपुणता और संकल्प की दृढ़ता का संयोग हो। मेरे अन्दर वह नमनीयता और निपुणता नहीं—कम-से-कम जिस ढंग की चाहियें वैसी नहीं हैं। मैं तो केवल संकल्प की दृढ़ता ही जुटा सकता हूं। मान लो कि मैंने यह नीति स्वीकार कर भी ली,—जैसा कि मैं वस्तुतः क्रियात्मक रूप से नहीं कर सकता, क्योंकि, मेरे कुछ निजी कारणों से, कोई भी चीज मुझे नयी कौंसिलों (विधान-परिषदों) में प्रवेश करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती,— फिर भी इस नीति को सफल बनाने के लिए अपेक्षित गुण मुझमें नहीं हैं। दूसरी ओर, केवल पंजाब के कुछ अफसरों को दण्ड दिलाने या विगत और मृत तुर्की साम्राज्य को फिर से स्थापित करने के लिए असहयोग का विराट् आन्दोलन, सन्तुलन और साधारण बुद्धि के विषय में मेरे विचारों को गहरी चोट पहुंचाता है। मुझे तो यह केवल तभी समझ में आ सकता है यदि यह "सरकार को हैरान करने" का और तात्कालिक शिकायतों के मौके से लाभ उठाकर स्वायत्त-शासन के लिए मिस्र और आयरलैण्ड के ढंग का प्रचण्ड संघर्ष—पर निःसन्देह हिंसा के तत्त्व से रहित संघर्ष—चलाने का साधन हो। फिर भी, यदि वह दूसरा कारण न होता जिसकी मैंने

ऊपर चर्चा की है तो मैं केवल एक ऐसे प्रोग्राम के आधार पर ही राजनीतिक क्षेत्र में पुनः प्रवेश कर सकता जिसमें काँग्रेस के सिद्धान्त, कार्य, संगठन और नीति का सम्पूर्ण परिवर्तन अन्तर्गत हो और जो उसे केवल राजनीतिक आन्दोलन का नहीं अपितु राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का केन्द्र बना दे। दुर्भाग्यवश, काँग्रेस की अतीत पद्धतियों से निर्मित राजनीतिक चिन्तन और अभ्यासों के कारण इस समय वह प्रोग्राम व्यवहार्य नहीं हो सकता। मैं समझता हूं, आप देख पायेंगे कि इन विचारों को रखते हुए मेरे लिए अन्तःक्षेप करना सम्भव नहीं, सभापति के पद पर कार्य करना तो सबसे कम सम्भव है।

क्या मैं यह विचार प्रस्तुत कर सकता हूं कि काँग्रेस की सफलता किसी एक व्यक्ति की, और वह भी एक ऐसे व्यक्ति की, जो दीर्घकाल से पर्दे के पीछे रहा है, उपस्थिति पर कदाचित् ही निर्भर कर सकती है? जो मित्र मुझे आमन्त्रित करते हैं उनका यह सोचना निश्चित रूप से गलत है कि नागपुर-काँग्रेस मेरे बिना प्रेरणाप्रद नहीं होगी। राष्ट्रीय आन्दोलन अब निश्चय ही इतना शक्तिशाली है कि अपने ही विचार के द्वारा अनुप्राणित हो सकता है, विशेषकर आज जैसे दबाव के समय में। मुझे खेद है कि आपको निराश कर रहा हूं, पर मैंने वे कारण आपको बतला दिये हैं जिनसे मैं लाचार हूं, और मैं नहीं देख पाता कि उनसे कैसे बचा जा सकता है।

सच्चे हृदय से आपका,
अरविन्द घोष

'अग्निशिखा' जनवरी २००६ का विशेषांक उपलब्ध है। प्रत्येक प्रति का दाम २० रु. है। इच्छुक व्यक्ति कृपया सीधा वाक्, श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी ६०५००२ से पत्र-व्यवहार करें।

तीखा सत्य

मुझे शुरू में ही उन आधारभूत बातों को स्पष्ट कह देना चाहिये, जिन्हें लेकर मैं काँग्रेस पर उसके अनुपयुक्त होने का दोषारोपण करता हूं। ऐसा करते समय मैं पाता हूं कि मुझे ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ेंगी कि मुझ पर निन्दा के छींटे पड़े बिना न रहेंगे : मुझे विवश हो कई मर्मस्थलों पर आघात करना पड़ेगा, विवश हो कई अस्वीकार्य विचारों को प्रस्तुत करना होगा, और सबसे बुरी बात यह कि विवश हो मुझे कई प्रभावशाली व्यक्तियों के, जो अत्यधिक खुशामद और पूजा से फूल उठने के आदी हैं, गलत तरीकों पर प्रहार करना पड़ेगा। पर सब खतरे उठाकर भी यह काम पूरा तो होना ही है, और चूंकि चुनाव मुझ पर आ पड़ा है तो मैं केवल यही कर सकता हूं कि जितना मेरे हाथ में है अच्छे-से-अच्छे ढंग से और जितना मेरे लिए सम्भव है निर्भीकता के साथ इसे प्रस्तुत करूं। तो काँग्रेस के बारे में मैं कहता हूं—इसके उद्देश्य गलत हैं, जिस भावना के साथ यह उन्हें पाने के लिए कदम उठाती है वह सचाई और सम्पूर्ण हार्दिकता की भावना नहीं है, जो पद्धतियां इसने चुनी हैं वे सही पद्धतियां नहीं हैं, जिन नेताओं पर यह भरोसा करती है वे सही रूप में नेता बनने लायक मनुष्य नहीं हैं—संक्षेप में, इस समय हम अन्धे लोगों के नेतृत्व में हैं, यदि वे अन्धे नहीं तो कम-से-कम एक आंख के तो हैं ही।

—श्रीअरविन्द

लाला लाजपत राय को देश-निकाला

मि. मोरले की सहृदय सरकार ने अभी के लिए—परन्तु केवल अभी के लिए—अपना प्रमाण पा लिया है। लाला लाजपत राय को देश-निकाला दे दिया गया है। सरकार की अपनी टिप्पणी ही स्थिति को प्रकट कर रही है। तार में कहा गया है कि रोष-सभाओं पर चार दिन के लिए पाबन्दी लगा दी गयी है। रोष-सभाएं? वक्तृताओं और उत्तम लेखों का समय गुजर गया। नौकरशाही ने चुनौती भेजी है और हम इसे स्वीकार करते हैं। ओ पंजाब के लोगो! शेरेदिल लोगो! इन लोगों को, जो तुम्हें धूल में मिला देना चाहते हैं, जता दो कि तुमने एक लाजपत को हमसे लिया है, सैकड़ों लाजपत उस स्थान पर खड़े हो जायेंगे। शतगुणा ऊंची तुम्हारी रण-भेरी उन्हें सुनने को मिले—जय हिन्दुस्तान।

—'बन्दे मातरम्' १० मई, १९०७

'ऋषिवर बोले':

भारत माता

आज ऋषिवर के यहां सारा वातावरण उत्साह और आनन्द से भरा हुआ था। ऐसा लगता था कि किसी बड़े समारोह की आयोजना है। उनके द्वार के सामने भारत की आध्यात्मिक पताका लहरा रही थी और इधर-उधर भारत माता के नक्शे लगे थे। चारों तरफ बड़े-बड़े चित्र शोभायमान थे जिनमें भारत के स्वाधीनता-संग्राम के विभिन्न दृश्य अंकित थे।

दो चित्र खास तौर पर विद्यार्थियों को आकर्षित कर रहे थे।

शायद दोनों पहली बार ही लगाये गये थे। एक है बड़ौदा का। सूरत-काँग्रेस के बाद श्रीअरविन्द बड़ौदा आये। लोगों के उत्साह का ठिकाना न रहा। सूरत-काँग्रेस के यह वीर सेनानी उनके अपने प्यारे प्रोफेसर अरविन्द बाबू ही तो थे! विद्यार्थी-समूह उनके स्वागत के लिए टूट पड़े। सारे बड़ौदा नगर में उनका जुलूस निकलनेवाला था।

रेल से उतर कर श्रीअरविन्द स्टेशन के बाहर खड़ी बग्गी पर बैठने ही वाले थे कि विद्यार्थियों का नेता गोपाल दास (जो बाद में दरबार गोपाल दास के नाम से प्रसिद्ध हुआ) चिल्लाया, "नहीं, नहीं अरविन्द बाबू घोड़ों की बग्गी पर जायें, यह हम नहीं सह सकते। वे हमारी आत्मा की आत्मा, प्राणों के प्राण हैं। भारत मां के लाडले सपूत हैं। उनकी बग्गी हम चलायेंगे।" झट घोड़े खोल दिये जाते हैं और उनकी जगह युवा विद्यार्थी ले लेते हैं।

दूसरा चित्र कलकत्ते के पास उत्तरपाड़ा का है। श्रीअरविन्द एक वर्ष कारागार में रहकर आये हैं जो उनके लिए सचमुच कृष्ण-मन्दिर बन गया था। वे अपने अनुभव और अपना भावी कार्यक्रम सुनाने वाले हैं। उन दिनों 'लाउड स्पीकर' नहीं होते थे, फिर भी हज़ारों की भीड़ उनका भाषण सुनने के लिए, उनका सौम्य, शान्त आनन देखने के लिए इकट्ठी थी। पहले कुछ भजन हुए, फिर एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता एक बड़ा-सा रूमाल लेकर खड़े हुए जिस पर भारत का नक्शा अंकित था। उन्होंने वह रूमाल श्रीअरविन्द के गले में डालते हुए कहा, "यह देखिये, भारत माता अपनी दोनों भुजाएं फैला कर श्रीअरविन्द को अपने संरक्षण में ले रही है। अब भारत की स्वाधीनता और श्रीअरविन्द की सुरक्षा निश्चित है।"

थोड़ी देर में ऋषिवर भी आ गये। उन्होंने विद्यार्थियों से पूछा, "तुम बता सकते हो कि आज हमारे यहां यह समारोह क्यों हो रहा है?"

मारिया ने कहा, "जी, आज पन्द्रह अगस्त है, भारत की स्वाधीनता का दिन, कितने संघर्ष के बाद आज ही के दिन भारत ने स्वाधीनता पायी थी।"

और वन्दना बोल उठी, "और आज ही श्रीअरविन्द का जन्मदिन है जिन्होंने राजनीतिक मञ्च पर सबसे पहले पूर्ण स्वराज्य की मांग की थी, जिन्होंने देश के कोने-कोने में 'वन्दे मातरम्' का मन्त्र जगाया और चारों ओर एक लौ लगा दी। उन्होंने ही कहा था, "भारत की स्वाधीनता उतनी ही सुनिश्चित है जितना कल का सूर्योदय।" हमें तैयारी इस बात की करनी चाहिये कि भारतीय जनता स्वाधीनता का उचित उपयोग कर सके।"

ऋषिवर बोले, "ओह! देखता हूं, तुम लोग काफी कुछ जानते हो। अच्छा, तुम में से कौन बतायेगा कि भारत माता क्या है?"

अब कनिष्ठा की बारी थी। उसे विद्यार्थी हंसी में 'कालर-कालर' (यानी स्कॉलर) कहा करते हैं। उसने उत्तर भी वैसा ही दिया। उसने कहा, "ऋषिवर, मैं इस प्रश्न का उत्तर अपने शब्दों में न देकर श्रीअरविन्द के शब्दों में दूंगी। उन्होंने कहा है :

स्वाधीन भारत लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा नहीं है जिसे तराश कर राष्ट्र की प्रतिमा गढ़ी जा सके। भारत अपने चाहनेवालों के हृदय में बसता है और उन्हीं से उसका निर्माण होना चाहिये। हम स्वराज्य को अपने जीवन में कैसे ला सकते हैं? अपने अहं के विचार को त्याग कर उसकी जगह राष्ट्र के भाव को बिठाकर। जैसे चैतन्य निमाई पण्डित न रहकर कृष्ण बने, राधा बने और बलराम बने, इसी तरह हम में से हर एक को अपने पृथक् जीवन का मोह छोड़ कर राष्ट्र में जीना होगा। जैसे मुमुक्षु का मन मोक्ष में लगा रहता है उसी भांति हमारा मन राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की आशा में लगा रहना चाहिये। हमारा त्याग तपस्वी के त्याग की भांति हो, अपनी

मां के स्वाधीन और दीप्तिमान चेहरे को देखने के लिए हमारे अन्दर वही पागलपन हो जो चैतन्य के अन्दर था श्रीकृष्ण के चेहरे के लिए। देश के लिए हमारा बलिदान जगाई-मधाई जैसा हो जिन्होंने गौरांग के संकीर्तन के लिए अपने राज्य को छोड़ दिया। मां की वेदी पर हमारी बलि कार्थेज के उन माता-पिता की उदारता और आनन्द को लिये हुए होनी चाहिये जो अपने बच्चों को बिना किसी पश्चात्ताप के, खुशी से आग द्वारा मालोख तक पहुंचा देते थे। हम अभी तक सकुचाते हैं, अपने और देश के बीच चुनाव करते हुए ठिठकते हैं। हम रुपये में एक आना तो देश को देते हैं और पन्द्रह आने अपने लिए, अपने बीवी-बच्चों के लिए, अपनी जायदाद, अपने नाम, अपनी सुरक्षा और अपने आराम के लिए रखते हैं। मां अपने-आपको देने से पहले सब कुछ मांगती है।

हम जिन योजनाओं के द्वारा राष्ट्र को तैयार करना चाहते हैं, अपने बल पर, औद्योगिक पुनर्निर्माण, शिक्षा और राजनीति का पुनरुद्धार करना चाहते हैं—ये सब गौण हैं उस आन्तरिक और गहरे पुनरुद्धार के आगे जिसमें से गुजरना सचमुच स्वतन्त्र होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मां हमसे योजना, कल्पना और राजनीति की मांग नहीं करती। जब और जहां आवश्यकता होगी वह स्वयं हमसे कहीं अधिक योजनाएं, कल्पनाएं और विधि-विधान दे सकती है। वह हमसे केवल हमारे हृदय और हमारे जीवन की मांग करती है। उससे न कुछ कम और न कुछ ज्यादा।

पुनरुद्धार सचमुच पुनर्जन्म है। और यह पुनर्जन्म बुद्धि द्वारा या भरी हुई थैलियों, नीति या नयी-नयी मशीनरी के द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक नया हृदय पाने की जरूरत है। और यह तभी हो सकता है जब हम जो कुछ हैं या रहे हैं उस सबको अग्नि में होम कर दें और मां के अन्दर फिर से जन्म लें। हमसे आत्म-त्याग की

मांग की जा रही है। मां पूछती है, "तुममें से कितने मेरे लिए जियेंगे और कितने हैं जो मेरे लिए मरेंगे?"

वह उत्तर की प्रतीक्षा में है...।

आज हम जिस युद्ध में लगे हुए हैं वह पुराने जमाने की उन लड़ाइयों के जैसा नहीं है जिनमें राजा या नेता के गिरते ही सेना भाग खड़ी होती थी। हमारी मातृभूमि ही पवित्र और अमर राजा है जिसका हम अनुसरण करते हैं। हमारे इस अभियान में स्वयं सर्वशक्तिमान ही हमारे नेता हैं।...

वातावरण गम्भीरता से भरा रहा। सब उठकर ऋषिवर के पीछे-पीछे 'वन्दे मातरम्' के सहगान के लिए चल पड़े।

हमारा ध्येय

हमारा प्रयास यह होगा कि हम मार्ग तैयार करें और एक महान् और उच्च परिवर्तन की तैयारी शुरू कर दें और जाति तथा भारत के भविष्य को बनाने का लक्ष्य अपने सामने रखें। मानवता का आत्मा में नया जन्म ही हमारा आदर्श है। हमारा जीवन आध्यात्मिकता के द्वारा प्रेरित उस महान् नव जन्म और सर्जन के लिए कर्मशील शरीर उत्पन्न करने का प्रयास हो।

आध्यात्मिक आदर्श ही हमेशा से भारत का विशिष्ट भाव और प्रेरणा रहा है, किन्तु काल का प्रवाह और मानवता की आवश्यकता उस आदर्श के लिए एक नये दिशामान और नये रूप की मांग करते हैं। काल-पुरुष के प्रयोजन के लिए अब पुराने रूप और तरीके पर्याप्त नहीं हैं। भारत को भविष्य में जो महान् कदम उठाने हैं

उनकी परिपूर्ति उन लकीरों पर चलकर नहीं हो सकती जो अति संकीर्ण हैं। हमारी आध्यात्मिकता एक ऐसे जीवन की आध्यात्मिकता नहीं है जो बूढ़ा, दुनिया से थका-मांदा, और माया के तथा ईश्वरीय सृष्टि के दयनीय दारिद्र्य के भाव से लदा हुआ हो। हमारा आदर्श वह आध्यात्मिकता नहीं है जो जीवन से मुंह मोड़ती है बल्कि वह है जो आत्मा की शक्ति से जीवन पर विजय प्राप्त करती है। हमारा आदर्श संसार को भगवान् के आविर्भाव के प्रयास के रूप में स्वीकारना ही नहीं बल्कि अभीतक जो आविर्भाव हुआ है उससे अधिक के लिए प्रयास करके मानवता का रूपान्तर करना तथा मनुष्य और ईश्वर के बीच के परदे को हटाना है। तभी जिस दिव्य मनुष्यत्व की क्षमता हमारे अन्दर है उसका जन्म होगा और हमारा जीवन आत्मा के सत्य, ज्योति और शक्ति से पुनः गठित होगा। हमें अपने कार्य के स्वामी को अपनी सब क्रियाओं की आहुति देनी होगी, मानव के अन्दर उसकी महत्तर आत्मा की अभिव्यक्ति करनी होगी और समस्त जीवन को योग का रूप देना होगा।...

भारत ने इस रहस्य को प्राप्त कर लिया था परन्तु उसे पर्याप्त रूप में क्रियान्वित नहीं किया। गीता में इसे संक्षेप में **"योगस्थः कुरु कर्माणि"** कहा है। उसका सिद्धान्त है सभी कर्मों को योग में स्थित होकर, भगवान् के साथ एक होकर, उच्चतम आत्मा के आधार पर और सभी इन्द्रियों को आत्मा के शासन में रखकर करना। हम मानते हैं कि मनुष्य के लिए यह न केवल सम्भव है बल्कि यही उसकी सारी समस्याओं और कठिनाइयों का सच्चा हल है। हम यह सन्देश बार-बार दोहरायेंगे और उठते हुए तरुण भारत के सामने यह आदर्श बारम्बार रखेंगे। आध्यात्मिक जीवन मानव की सब प्रवृत्तियों का समावेश करेगा और आनेवाले महान् युग के लिए दुनिया के रूपान्तर को सुलभ बनायेगा। पुराने युग की इस वर्तमान सन्ध्या-

वेला में भारत ही, जो प्राचीन काल से इस रहस्य को ग्रहण किये हुए है, इस महान् रूपान्तर का नेतृत्व कर सकता है। यही भारत का उद्देश्य और उसकी मानव-सेवा होनी चाहिये। व्यक्ति के लिए जैसे उसने आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन की खोज की थी वैसे ही अब सारी जाति के लिए सर्वांगीण सामूहिक अभिव्यक्ति की खोज करनी होगी और मानवमात्र के लिए सामूहिक पद्धति और नयी आध्यात्मिकता का आधार बनाना होगा।

हमारा पहला ध्येय होगा इस आदर्श की घोषणा करना, पहले आवश्यक कदम के रूप में आध्यात्मिक परिवर्तन पर जोर देना, और जो उसे स्वीकार करते हैं तथा उसे परिपूर्ण करने के लिए सच्चाई से प्रयास करते हैं उन्हें इकट्ठा करना। दूसरा ध्येय होगा–सिर्फ वैयक्तिक ही नहीं वरन् इस सिद्धान्त पर आधारित सामूहिक जीवन का निर्माण करना। इतना ही नहीं, हमारी प्रत्येक बाह्य गतिविधि के साथ-साथ एक आन्तरिक परिवर्तन की भी आवश्यकता है और वह एक ही साथ आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक क्रिया होनी चाहिये। उसका कार्यक्षेत्र एक ही साथ वैयक्तिक और सामूहिक, प्रादेशिक और राष्ट्रीय होगा, और अन्त में यह कार्य न केवल देश के लिए वरन् समस्त मानवजाति के लिए होगा। इसका पहला परिणाम होगा नव-सर्जन, एक आध्यात्मिक शिक्षा और संस्कृति, एक विशालतर सामाजिक शक्ति —विभाजन पर आधारित नहीं बल्कि एकता पर—व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सम्पूर्ण विकास; इतना ही नहीं, दूसरों के साथ उसका ऐक्य और समूह की विशालतर आत्मा और मानवता के प्रति उसका समर्पण। आर्थिक समस्या के हल की ओर जो पहला प्रयास होगा वह पश्चिमी नमूने पर आधारित न होकर सामुदायिक

सिद्धान्त पर आधारित होगा जो भारत के लिए स्वाभाविक है।

हमारी पुकार तरुण भारत के लिए है। नयी सृष्टि के निर्माता युवक ही होने चाहियें, वे नहीं जो वैयक्तिक स्पर्धा को स्वीकार करते हैं या भारत के भावी आदर्श के रूप में पूंजीवादी या पश्चिम के पार्थिव कम्यूनिज़्म को अपनाते हैं, वे भी नहीं जो पुरानी धार्मिक रूढ़ियों में जकड़े हुए हैं और आत्मा द्वारा जीवन की स्वीकृति और उसके रूपान्तर को स्वीकार करते हैं, और वे सब जो मन में और हृदय में पूर्णतर सत्य को स्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र हैं और महत्तर आदर्श के लिए श्रम करने को तैयार हैं। वे ऐसे मानव होंगे जो अपने-आपको भूत या वर्तमान को नहीं बल्कि भविष्य को समर्पित करेंगे। उन्हें अपने समस्त जीवन को अपनी निम्न सत्ता से ऊपर उठाने के लिए एकाग्रचित्त होना होगा। अपने अन्दर और सब मानव प्राणियों में भगवान् को पाना होगा, और देश तथा मानवता के लिए समूचे मन, प्राण से अथक श्रम करना होगा। अभीतक यह आदर्श एक छोटा-सा बीजमात्र है, और जो जीवन इसे मूर्त रूप देता है वह स्वयं एक नन्हा-सा केन्द्रमात्र है, किन्तु हमारी ध्रुव आशा है कि यह बीज एक महान् वृक्ष बनेगा, और केन्द्र एक सदा-विस्तृत होती हुई रचना का हृदय होगा। इस विसर्जित होते हुए जगत् की अस्तव्यस्तता में जन्म लेने के लिए नयी मानवता संघर्ष कर रही है। जो भावना हमें प्रेरणा दे रही है उसमें दृढ़ विश्वास के साथ हम उस नयी मानवता के, और भावी भारत के ध्वजवाहकों में अपना स्थान लेते हैं। वह महत्तर भारत हमारी प्राचीन मां के विराट् किन्तु थके-मांदे शरीर का कायाकल्प करके उसे नया जीवन देगा।

—श्रीअरविन्द

सोसायटी समाचार

२१ फरवरी २००६—श्रीमां की १२८वीं वर्षगांठ मनायी गयी। सवेरे आश्रम में ध्यान हुआ। भक्तगणों ने श्रीमां तथा श्रीअरविन्द के कमरों के दर्शन किये। शाम को क्रीड़ांगण में दल के सदस्यों ने मार्च-पास्ट किया, उसके बाद ध्यान हुआ। इस दिन आश्रम में जो सन्देश बंटा उस पर श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' की कुछ पंक्तियां थीं।

२८ फरवरी—यह दिवस आश्रम में "पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति" की स्वर्ण-जयन्ती के रूप में मनाया गया, जो २९ फरवरी १९५६ में हुई थी। इस दिवस का अनुष्ठान भी अन्य दर्शन-दिवसों की तरह हुआ।

श्रीमां ने १९५७ में कहा था : "सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है इस तथ्य को स्मरण रखना, भले ही तुम्हें इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति न हुई हो फिर भी इसकी निश्चिति का होना और इसमें पूरी-पूरी श्रद्धा रखना... कि हम एक नये जगत् के जन्म के साक्षी हैं। हम इसमें हिस्सा ले सकते हैं, हम स्वयं यह नया जगत् बन सकते हैं।" इस अवसर पर बहुत ही सुन्दर सन्देश बंटा जिस पर श्रीमां तथा श्रीअरविन्द के प्रमोद कुमार द्वारा बनाये गये चित्र थे। इस चित्र के लिए श्रीमां ने शीर्षक दिया था "अतिमानसिक जगत् के अग्रदूत"।

इसके नीचे छपा था श्रीमां का यह वक्तव्य :

धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति

२९ फरवरी १९५६

"आज की सांझ तुम्हारे बीच भगवान् की ठोस और भौतिक उपस्थिति थी। मेरा रूप जीवित स्वर्ण का था, सारे विश्व से भी बड़ा, और मैं एक बहुत बड़े, विशालकाय सोने के दरवाजे के सामने खड़ी

थी जिसने जगत् को भगवान् से अलग कर रखा था।

जैसे ही मैंने दरवाजे पर नजर डाली, चेतना की एक ही गति में मैंने जाना और संकल्प किया कि **"अब समय आ गया है"**, और दोनों हाथों से एक बहुत बड़ा सोने का हथौड़ा उठाकर मैंने एक चोट की, दरवाजे पर एक प्रहार किया और दरवाजा चूर-चूर हो गया।

तब अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और चेतना धरती पर अबाध प्रवाह के रूप में बह निकलीं।"

सोसायटी के कई केन्द्रों तथा शाखाओं ने ये दोनों दिवस बहुत उत्साहपूर्वक मनाये।

वार्षिक 'ऑल इण्डिया' तरुण शिविर—इसका आयोजन ३ से ११ जनवरी तक पॉण्डिचेरी में हुआ जिसमें ५३ युवाओं ने (२६ लड़कियों और २७ लड़कों ने) भाग लिया। इनकी उम्र १६ से २५ वर्ष के बीच की थी। इसका प्रवर्तन किया था नयी दिल्ली के ONGC ने। इस शिविर का मुख्य लक्ष्य था युवकों में इस बात का उत्साह जगाना कि वे अपने जीवन के लक्ष्य के बारे में सचेतन हों, उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें और साथ ही उन्हें भारत की आध्यात्मिक धरोहर के बारे में भी काफ़ी बतलाया गया।

हिन्दी-क्षेत्र की वार्षिक सभा—यह सभा १७ और १८ दिसम्बर २००५ में नॉएडा में हुई। इसमें भाग लिया करीब २०० ने। इसके प्रमुख अतिथि थे श्री आर. सी. लाहोटी—उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायमूर्ति। संसद-सदस्य डॉ. मुरली मनोहर जोशी ने इसका सभापतित्व किया और महाबोधि सभा के अध्यक्ष डॉ. बी. के. मोदी विशेष अतिथि थे। श्रीअरविन्द तथा श्रीमां की शिक्षा के प्रकाश में डॉ. आलोक पाण्डे, डॉ. एन. श्रीवास्तव आदि विभिन्न व्यक्तियों के भाषण हुए।

नैरोबी (केन्या) में मैकमिलन पुस्तकालय में सोसायटी के नैरोबी केन्द्र के सदस्यों ने श्रीअरविन्द-साहित्य के २३ 'डीलक्स'-खण्ड तथा श्रीमां के १७ 'डीलक्स'-खण्ड भेंट-स्वरूप दिये।

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं

श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिए दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिए सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिए निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

पंकज बगड़िया
श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो० - झुंझुनूं – ३३३००१ (राजस्थान)
टेलीफोन – (०१५९२) २३५६१५, २३२८८७
e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com

VISVAS APARTMENTS

(An Approved Apartment Project Of Nufurn)

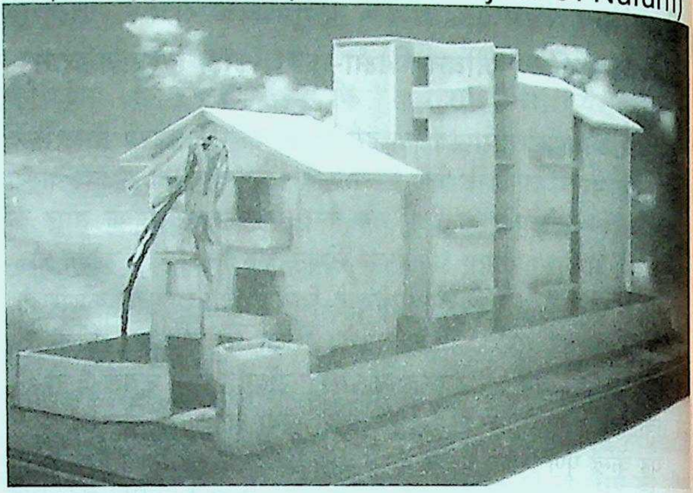

JUST 1.5 KM NORTH OF SRI AUROBINDO ASHRAM
PAPPAMMAL KOIL ST, VAITHIKUPPAM, PONDICHERRY.

APPROVED BY PONDICHERRY PLANNING AUTHORIT
VIDE NO: PPA/ 16691274Z(2)/SB/2005 DT: 3 NOV 200

Flexible unit plans (430s.ft to 1450 s.ft)
Costing 7 lacs to 23 lacs
Individual covered car parking (optional) for 1lac.
Await your booking

OCCUPATION AFTER 18 MONTHS OF BOOKING.

CONTACT:
NEEL RATN @ O9994378011
NUFURN
3, CHEVERAPET ROAD, (NEAR CLOCK TOWER)
MUTHAIALPET, PONDICHERRY 605003
PH: 0413-2236787, 2235732
E-mail supne @yahoo.co.uk

मई २००६

रु. ७.००

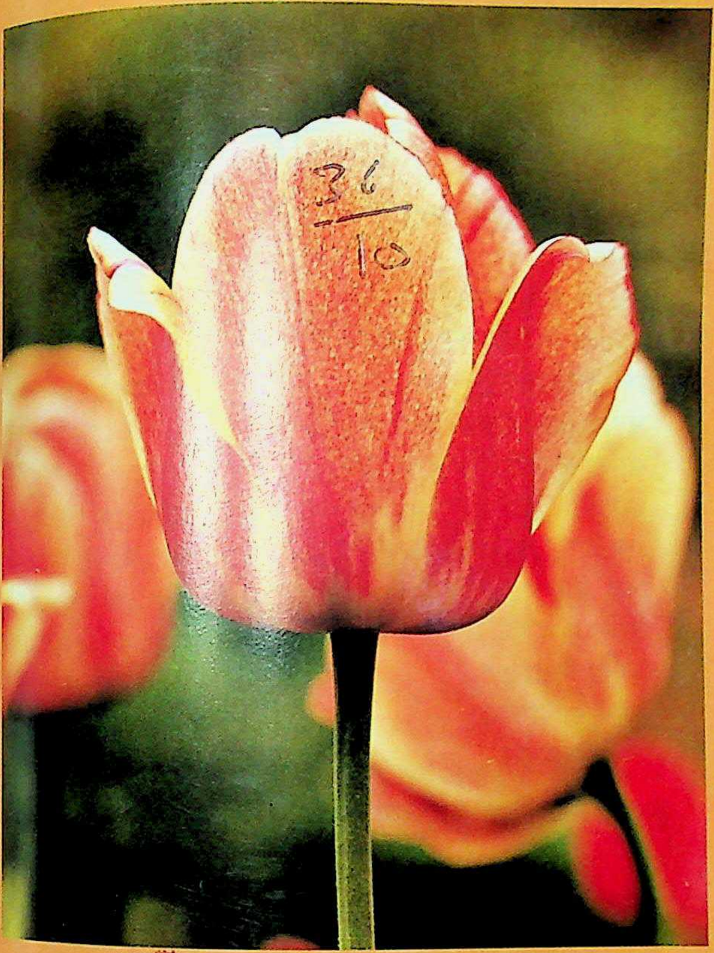

36/10

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

Dpant
9 may/06

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अग्निशिखा मई २००६ वर्ष ३६, अंक १०, पूर्णांक ४३०

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां १
'सम्पादकीय' : अपूर्व रत्न (२) अनुबेन २
दैनन्दिनी ६
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क : नीरदवरण ९
माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया

संगीत (श्रीमातृवाणी)

संगीत आध्यात्मिक कला है १४
संगीत के बाहरी रूप के पीछे १८
प्रेरणा के विभिन्न स्रोत २०
भारतीय और पाश्चात्य संगीत २३
कुछ संगीतज्ञों के बारे में २५
बैरलिऑज का संगीत २८
संगीत कैसे सुनें ३०
श्रीमां का संगीत ३२
सोसायटी समाचार ३५

मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

पुष्पण

(विश्वास और सफलता का परिणाम)

अंग्रेजी नाम—Tulip

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

प्यारी मां, आपका प्रेम ही मेरे लिए सच्चा आश्रय और एकमात्र बल है। मां, मैं आपको जो कुछ अर्पित करता हूं वह एक गंदला मिश्रण है जिसके बारे में मैं लज्जित हूं, लेकिन उसे आप ही शुद्ध कर सकती हैं।

मेरे बहुत प्यारे बच्चे,

अर्पण का रूप चाहे जैसा हो, जब वह सचाई के साथ किया जाता है तो हमेशा अपने अन्दर भागवत प्रकाश की एक चिंगारी लिये रहता है जो पूर्ण सूर्य में विकसित हो सकती और समस्त सत्ता को आलोकित कर सकती है। तुम मेरे प्रेम के बारे में विश्वस्त रह सकते हो, तुम मेरी सहायता के बारे में विश्वस्त रह सकते हो और हमारे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

—श्रीमां

'सम्पादकीय' :

अपूर्व रत्न

(२)

केवल बर्लिन की दीवार ही नहीं, कुछ समय बाद विशाल सोवियत का साम्राज्य बिना किसी आक्रमण के स्वतः टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। वह नयी शक्ति के प्रति जनता के उद्घाटन के कारण हुआ था।

अगर आज हम सारे संसार की ओर नज़र डालें तो पायेंगे कि प्रत्येक राष्ट्र की सरकार या नेता का जनता के ऊपर इतना प्रभाव नहीं रहा जितना पहले था। हम देखते हैं कि आज ज़नता अधिक जाग्रत् और सक्रिय है।

जनता-जनार्दन में कुछ लोग इस नयी शक्ति की ओर अधिक ग्रहणशील होते हैं। उनमें से एक लड़की, हनी की, कहानी नहीं, सच्ची घटना देखें। इन्डोनेशिया में 'इन्टरनैशनल स्कूल' में जेमि बिनशिप अंग्रेज़ी के अध्यापक हैं। उस स्कूल की शिक्षा गरीबों के लिए नहीं बल्कि उच्च वर्ग के अमीरों के बच्चों के लिए है। जेमि बिनशिप कहते हैं—एक दिन मैंने देखा कि मेरे सामने फटे-पुराने कपड़ों में एक लड़की आ रही है। पास आकर उसने अपनी अंग्रेज़ी सुधारने के लिए मेरी सहायता चाही। मैंने सोचा, "मेरे पास आने के लिए इस बच्ची में बड़ी हिम्मत होनी चाहिये।" मैंने उससे पूछा, "तुम ज़्यादा अच्छी अंग्रेज़ी क्यों सीखना चाहती हो?" मैंने मान लिया था कि वह किसी होटल में अच्छी नौकरी पाने के लिए ही सीखना चाहती होगी। किन्तु उसने पूरे विश्वास से कहा, "मैं अमरीकी विश्वविद्यालय में पढ़ना चाहती हूं।" लड़की के ऐसे आदर्श की बात सुनकर मेरी आंखें भर आयीं। मन में सोचा, "वाह, फटे-हाल

लड़की आकाश से तारे लायेगी!!"

अमीरों के विशिष्ट विद्याधाम में गलियों में रहनेवाली हनी को मैं कैसे ले जाता! मैंने हनी से कहा कि स्कूल के बाद अपने मुक्त समय में मैं उसे पढ़ाऊंगा। मुझे हनी की दिनचर्या का पता चला तो मैं समझ गया कि यह लड़की धुन की पक्की है। वह पांच बजे सवेरे हाई स्कूल जाने के लिए बस पकड़ती है। उस एक घण्टे के सफर में स्कूल के गृहकार्य करती और अंग्रेज़ी का जो काम मैंने दिया हो उसे भी कर लेती है। शाम के चार बजे थकी-मांदी हनी मेरी क्लास में हाज़िर हो जाती। मैं जैसे-जैसे हनी को हाई स्कूल और कॉलेज के स्तर की पढ़ाई के साथ संघर्ष करते देखता, उसके प्रति मेरी सहानुभूति और स्नेह बढ़ता जाता। मैंने देखा कि वह जितना परिश्रम कर रही थी उतना अमीरों के लाड़ले नहीं कर पा रहे थे।

एक दिन मैं हनी के घर गया। दो कमरों के उस छोटे-से घर में माता-पिता, और दो भाइयों के साथ हनी रहती थी। उसके पिता बढ़ई थे और मां किसी घर में नौकरानी थी। उन दोनों की कमाई इतनी कम थी कि घर का खर्च बड़ी मुश्किल से चलता था। उनकी कमाई से हनी का अमरीका जाने का स्वप्न आकाश-कुसुमवत् था। मैं उनकी यह परिस्थिति देखकर बहुत निराश हो रहा था, किन्तु हनी का उत्साह बढ़ता ही जा रहा था!!

१९९८ दिसम्बर को सवेरे-सवेरे अमरीका के बड़े विश्वविद्यालय से मेरे पास एक विद्यार्थी के लिए छात्रवृत्ति के साथ प्रवेश-पत्र आया। पढ़ते ही मैंने रख दिया। हनी किसी भी तरह इस विश्वविद्यालय की शर्तों के योग्य न हो पायेगी। उसके स्कूल में उसकी सहायता करने-योग्य कोई शिक्षक भी न था। विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षा में भी वह असफल ही रहेगी। हनी जब शाम को आयी, मैंने उसे पत्र दिखलाया और साथ-साथ उसे समझा दिया कि भले ही वह प्रवेश-

पत्र भेज दे, लेकिन निश्चित रूप से उसके चुनाव के आसार तो असम्भव ही नज़र आते हैं। मेरा निराशापूर्ण भाषण सुनने के बाद भी उसने पूछा, "आप मेरा नाम भेजेंगे न?" मैं उसे मना न कर पाया। मैंने उसके अल्प ज्ञान का, आर्थिक दृष्टि से उसकी अक्षमता का सच्चा चिट्ठा लिखा, साथ-साथ उसके संकल्प, परिश्रम करने की क्षमता की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की। इसके बाद मैंने उसे कम्प्यूटर की शिक्षा देनी शुरू कर दी। आशा-निराशा में डूबते-उतराते, मैं उस उत्साह की मूर्ति के साथ परिश्रम करता रहा। कुछ समय के बाद छात्रवृत्ति की संस्था से हनी के नाम पत्र आया। मेरे पास पत्र लाकर वह खड़ी रही। मन-ही-मन मैं सोच रहा था, "अस्वीकृति का पत्र ही होगा, और क्या हो सकता है?" मैंने उसे पढ़कर हनी को सुनाया। आश्चर्य! संस्था की ओर से स्वीकृति का पत्र था! सुखद, अप्रत्याशित पत्र से मैं कूदने-नाचने लगा किन्तु हनी? मुस्कुराती हुई मेरी उछल-कूद को शान्ति से देखती रही! शायद उसे पता नहीं, कैसे पता था कि वह चुनी जायेगी। किसने कहा होगा?

विदेशों में अतिमानस की शक्ति का प्रभाव स्पष्ट दिखायी दे रहा है किन्तु भारत का क्या?

श्रीअरविन्द ने एक शिष्य से कहा था कि बाहर के राष्ट्र शक्ति को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो जाते हैं किन्तु भारत जो इतना विशाल और विविध चरित्रों और परिस्थितियों की रंग-छटा से भरा है, उसे नयी शक्ति को स्वीकार करने में ज़्यादा समय लग रहा है क्योंकि इस विशाल राष्ट्र के कई प्रदेश प्रगतिशील हैं तो कई काफी पिछड़े हुए हैं; किन्तु अब भारत जाग उठा है।

जागृति की छोटी-छोटी चिंगारियां इधर-उधर दिख रही हैं। उसका एक उदाहरण तमिलनाडु में है। नौ वर्ष का एक बालक फिल्म का निर्देशन कर चुका है। देखनेवाले कहते हैं कि फिल्म अच्छी है।

उसी तरह तमिलनाडु में पुदुकोटैई के छोटे गांव की सरपंच एक महिला है—रानी सत्तप्पन। पुरुषों के साथ काम करना, उनसे अपनी बात मनवाना स्त्री के लिए कितना कठिन है, और गांव के पुरुषों से! इस बात की कल्पना हम आसानी से कर सकते हैं। रानी के पति ने उसकी मदद की क्योंकि भले गांव की राजनीति थी फिर भी रानी जैसी गृहिणी के लिए यह भगीरथ काम था। सबसे पहले पंचायत के पुरुषों की सहमति लेकर रानी ने तालाब को अधिक गहरा खुदवाया, तालाब के किनारे बने झोंपड़े हटवाये। आखिरकार तीन वर्ष की कड़ी मेहनत के बाद गांव के लोग स्वच्छ तालाब को देखकर खुशी से बाग-बाग हो गये।

रानी ने गांव की स्त्रियों को सारे गांव को साफ रखने के काम में लगाया। प्लास्टिक का बहिष्कार किया। अब यह गांव अन्य सब गांवों के लिए एक नमूना बन गया है।

माताजी का सन्देश था, "आनन्द की यह अद्‌भुत सृष्टि धरती पर उतरने के लिए हमारी पुकार की प्रतीक्षा में हमारे द्वारे खड़ी है।"

आजकल के बच्चे इस नये अवतरण के कारण बहुत विलक्षण, प्रतिभा-सम्पन्न निकलते हैं। लगता है मानों वे किसी अन्य क्षेत्र से आये हैं। उन्हें जितनी स्वतन्त्रता दी जाये उतने ही वे उच्च स्तर की ओर बढ़ते चले जायेंगे।

हमें उन्हें स्वाधीनता देनी चाहिये ताकि वे अपने ढंग से विकसित हो पायें।

—अनुबेन

दैनन्दिनी

मई

१. सामान्यतः प्रकृति से प्रेम करना सन्तुलित और शुद्ध होने का लक्षण है, जिसे आधुनिक सभ्यता नहीं समझती।

२. स्थिर अचञ्चल मन के मौन में तुम प्रकृति के साथ बहुत अच्छी तरह सम्पर्क साध सकते हो।

३. प्रकृति भगवान् की एक सीमित-सी अभिव्यक्ति मात्र है।

४. चेतना जितनी विशाल हो, वह उतनी ही अधिक वस्तुओं को और यथार्थताओं को अपने अंक में भर सकती है, और तब भौतिक आवश्यकताएं उतनी ही कम होती हैं।

५. नयी चेतना के बारे में बोलने के लिए तुम पहले उसे अपने अन्दर प्रकट होकर अपने रहस्यों का उद्घाटन करने दो। उसके बाद ही तुम उसके बारे में अधिकार के साथ कुछ कह सकते हो।

६. हम यहां अपने जीवन को सरल और सुखद बनाने के लिए नहीं हैं। हम यहां भगवान् को पाने के लिए, भगवान् बनने के लिए, भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए हैं।

७. हम यहां, धरती पर सत्य और प्रेम की विजय लाने के लिए हैं और यह अवश्य आयेगी।

८. एक परम दिव्य चेतना है। हम इस दिव्य चेतना को भौतिक जीवन में अभिव्यक्त करना चाहते हैं।

९. हठ, एक महान् गुण, लेकिन अध्यवसाय का गलत उपयोग है।

१०. प्रगति की ओर अपने प्रयास में हठी बनो और तुम्हारा हठ उपयोगी होगा।

११. गुस्से ने कभी किसी को कुछ नहीं बोलने दिया—सिवाय मूर्खताओं के।

१२. वस्तुतः कोई प्रभावकारी चीज़ करने से पहले न केवल एक नयी चेतना को दृढ़ता से प्रतिष्ठित करना होगा बल्कि नयी प्रक्रिया भी खोजनी होगी।

१३. मेरे बालकों में से हर एक, सभी के बारे में यह ठीक है कि वे जब कभी मिथ्यात्व के आवेश में सोचते, बोलते या क्रिया करते हैं तो वह मेरे शरीर पर प्रहार का काम करता है।

१४. भगवान् की खुशी से भर जाओ, मुझे खुश करने का सबसे अच्छा उपाय यही है।

१५. जब कोई पूरी तरह भगवान् को समर्पित हो तो उसके लिए दूसरों के मत का कोई महत्त्व नहीं होता।

१६. केवल परम प्रभु के मत का ही महत्त्व है।

१७. केवल एक सद्वस्तु है, केवल एक जीवन है। केवल एक चेतना है—वह है भगवान्।

१८. अग्नि-परीक्षाएं सबके लिए होती हैं, अन्तर बस इसमें होता है कि तुम उनका सामना कैसे करते हो, कुछ लोग मुस्कुराते हैं और कुछ शोर मचाते हैं।

१९. अग्नि-परीक्षाओं के लिए कृतज्ञ होओ, वे भगवान् की ओर जाने वाली सबसे छोटी राहें हैं।

२०. अपने चारों ओर व्यवस्था लाना अपने अन्दर व्यवस्था लाने में सहायता करता है।

२१. चीज़ें, हम जैसा मानते हैं उसकी अपेक्षा बहुत ज़्यादा अच्छी तरह व्यवस्थित हैं।

२२. दुनिया में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो अपने मूल में दिव्य न हो।

२३. जबतक तुम किसी के पक्ष में और किसी के विपक्ष में हो तबतक तुम निश्चित रूप से सत्य के बाहर हो।

२४. भूतकाल को चले जाने दो। बस अनन्त पर केन्द्रित रहो।

२५. जो भूतकाल को छोड़कर, बिना किसी भार के भविष्य की ओर दौड़ने को तैयार हैं वे अपने लक्ष्य तक ज़्यादा जल्दी पहुंचेंगे।

२६. आध्यात्मिक नियमों के अनुसार जीने में समय लगता है, लेकिन धैर्य के साथ परिणाम जल्दी आता है।

२७. दृढ़ और धीर बनो, सब कुछ ठीक होगा।

२८. अधीरता नहीं, सच्चाई के साथ धीरज रखो।

२९. साधक भगवान् से शान्ति पाता है, ऐसी शान्ति जो बाहरी परिस्थितियों से बिलकुल अछूती रहती है।

३०. भगवान् जो चाहते हैं वही चाहने से हम निरन्तर शान्ति पाते हैं। भगवान् की ओर अधिक मुड़ो, सच्ची आन्तरिक शान्ति के लिए अभीप्सा करो और तुम्हें बिना किसी क्षोभ के अपना काम करने के लिए काफी शक्ति मिल जायेगी।

३१. जो लोग वास्तव में बलवान् और प्रभावशाली होते हैं, हमेशा बहुत शान्त रहते हैं। केवल कमज़ोर ही बेचैन हो उठते हैं। सच्ची शान्ति हमेशा शक्ति का चिह्न है।

—श्रीमां

सच्ची आध्यात्मिकता जीवन का त्याग करना नहीं, बल्कि दिव्य परिपूर्णता के साथ जीवन को पूर्ण बनाना है।
यही चीज़ है जिसे अब भारत को संसार के सम्मुख रखना होगा।

—श्रीमां

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया

१९३७ में श्रीअरविन्द की आंखों में कुछ तकलीफ़ हुई, सब पत्र-व्यवहार बन्द करना पड़ा। मैं अपनी चिकित्सा का काम माताजी के मार्गदर्शन से वञ्चित होकर करता रहा, फिर भी बीमार और डॉक्टर, यानी मैं उनके भौतिक सहारे की आवश्यकता को अनुभव करने लगे। इसलिए माताजी हमारी सहायता करने आ गयीं, उन्होंने अपने-आप पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया। अब मैं उनके साथ सीधे सञ्चालन के कुछ उदाहरण यहां दे रहा हूं।

एक वृद्ध साधक को क्षय की बीमारी लग गयी। मैंने माताजी को लिखा कि साधक की स्थिति गम्भीर है, फिर भी हम आशा कर सकते हैं कि वह सुधर जायेगी। चिकित्सा की दृष्टि से कोई उपाय नहीं है। (मैं तीसरे दशक की बात कर रहा हूं) "अगर आप उसे स्वस्थ करना चाहें तो आपने एक दिन कहा था न कि यह संयोग से हो सकता है।" उन्होंने उत्तर दिया, "संयोग से नहीं, चमत्कार से।" चूंकि हमारे पास पथ्य और उपचर्या करनेवालों की कोई व्यवस्था नहीं थी इसलिए माताजी ने साधक को अस्पताल भेजने की अनुमति दे दी। वहां के डॉक्टर हमारे मित्र थे, उन्होंने हर सम्भव सावधानी वरती फिर भी एक महीने के बाद साधक की मृत्यु हो गयी। मैं चौखला गया और इस अनिष्ट के लिए अपने-आपको ज़िम्मेदार मानता रहा। मैंने माताजी को लिखा कि अगर वे चाहती हैं कि मैं डॉक्टर के रूप में काम करूं तो मैं किसी बड़े अस्पताल में प्रशिक्षण लेने के लिए जाना चाहता हूं। मेरा दूसरा विकल्प यह है कि लम्बे

अरसे तक उग्र साधना करूं ताकि मैं बाद में बीमारों को रोगमुक्त कर पाऊं। उन्होंने उत्तर दिया, "अस्पताल में रहने का मुझे कोई फ़ायदा नहीं दीखता—'उग्र साधना' अधिक अच्छा सुझाव है। मैं तुम्हें सान्त्वना देने के लिए निश्चित रूप से कह सकती हूं कि जो मर जाते हैं उनका मरना **निश्चित** होता है"।

प्रसंगवश मैं कहता चलूं कि स्थानीय अस्पताल के आंख, नाक, कान और गले के विभाग में ज्यादा अनुभव प्राप्त करने के लिए मैं जा रहा था। माताजी ने उसके लिए प्रसन्नता से अनुमति दी थी। वे इस काम को कई प्रकार से उपयोगी मानती थीं। एक बार जब मैं टॉंसिल के ऑपरेशन में सहायता कर रहा था तब अचानक रोगी की सांस रुक गयी। हमने सांस को फिर से लाने के सब उपाय किये किन्तु असफल रहे! हम बेबस होकर उसे देखते ही रहे, मैंने माताजी को व्यग्रता से पुकारना शुरू कर दिया। कुछ समय बाद मृतप्राय व्यक्ति जी उठा। मैंने अपनी रिपोर्ट में लिखा, "मेरी यह जानने की इच्छा हो रही है कि क्या आपने मेरी पुकार सुनी थी?" उनका उत्तर आया, "मैं कल तुमसे यह कहना भूल गयी कि तुम्हारी पुकार मुझ तक ठीक-ठीक पहुंची थी।"

एक व्यक्ति जो बाद में श्रीअरविन्द के सेवा-दल में शामिल हो गया था, बचपन से ही 'माइग्रेन' जैसे भयंकर सिर-दर्द का शिकार था। मैंने माताजी को लिखा, "मैं सोच रहा हूं कि क्या इस बीमारी को दिव्य शक्ति द्वारा दूर किया जा सकता है?" उनका उत्तर था, "कोई भी बीमारी ऐसी नहीं है जिसे दिव्य शक्ति द्वारा दूर न किया जा सके, लेकिन बीमारी के छिपे, अदृश्य कारण को ढूंढ़ना चाहिए। यह शरीर में क्रिया की गड़बड़ है। कहीं कोई कार्य अव्यवस्थित हो गया है, और इस गड़बड़ के मूल में शायद स्नायविक अस्तव्यस्तता है—या यह प्राण में किसी मिथ्यात्व के कारण हो सकता है। यह

अन्तिम मनोवैज्ञानिक कारण है।

*

मैं—इन नौकरों के साथ क्या करूं? वे नियमित रूप से आते नहीं और अस्पताल भी नहीं जाते।

माताजी—तुम्हें उनकी चिकित्सा करने से इन्कार कर देना चाहिये या तुम्हें उनको धमकी देनी चाहिये कि अगर वे नियमित रूप से न आयेंगे तो तुम उनकी चिकित्सा नहीं करोगे। पहले इस मामले में हम बहुत सख्ती बरतते थे और उसका असर पड़ता था।

*

मैं—अपने फ्रेंच के अध्ययन को फिर से शुरू करना चाहता हूं। खास कर बोलना चाहता हूं। मुझे आप कोई संकेत दे सकती हैं?

माताजी—सबसे अच्छा उपाय है बोलते रहना... हर अवसर पर साहस के साथ बोलते ज़ाना।

*

मैं—बीमार स्त्री का भोजन बहुत कम है। उसे कमज़ोरी का अनुभव हो रहा है। मैं समझ नहीं पा रहा कि क्या करूं।

(यह अल्प आहार का मामला था। उस समय लोग केवल भोजनालय का भोजन ही लेते थे। उस महिला को भोजन स्वादिष्ट नहीं लगता था। अब तो स्थिति बहुत बदल गयी है।)

माताजी—दुर्भाग्यवश ये युवतियां भोजन के बारे में बहुत ज्यादा सनकी होती हैं। उनके लिए चटोरी जीभ का महत्त्व है, भूख का नहीं।

*

मैं—हमारे यहां मांस का एक टुकड़ा बेकार पड़ा है। क्या उसे माताजी की गाड़ी की देखभाल करनेवाले 'बाला' को दे दूं?

माताजी—हां, लेकिन अगर वह उसे डिस्पेंसरी में दवाई की भांति खा ले तो अच्छा होगा... क्योंकि घर ले जायेगा तो उसकी मां ही ले लेगी।

यह ध्यान देने की बात है कि माताजी एक नौकर के बारे में भी पूरी सावधानी बरतती थीं।

मैं—... इंजेक्शन या ऑपरेशन, ये ही दो उपाय हैं।

माताजी—ऑपरेशन से सावधान रहो। वह बीमार को रोगमुक्त नहीं कर पाता।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, माताजी की ऑपरेशन के बारे में उग्र राय थी और वे ऑपरेशन करने के लिए अनुत्साहित करती थीं। बहुत समय के बाद उनकी इस राय में कुछ ढील आयी, या तो यह योग के कारण हो या फिर इसलिए कि बीमार स्वयं ऑपरेशन के लिए आग्रह करता हो। उन्होंने इस नोट के साथ दो बीमार व्यक्तियों को भेजा :

१. 'अ' कहता है कि आश्रम का भोजन उसके लिए बहुत भारी और बहुत मसालेदार है। उसे दिन में एक बार—दोपहर को उबली हुई सब्ज़ियां देना सम्भव होगा—चुकन्दर, बन्दगोभी, आलू वगैरह? (हमने डिस्पेंसरी में बीमारों के लिए उबली हुई सब्ज़ियां तैयार करना शुरू कर दिया था।)

२. 'म' को बहुत समय से ज़ुकाम चल रहा था जो जाने का नाम ही न ले रहा था—वह अब तक खांसता रहता है, खांसी बहुत पुरानी हो गयी है। मुझे लगता है कि इस समय हमें हस्तक्षेप करके उसे खांसी से मुक्त करना चाहिये। भले ही वह कहे कि कोई तकलीफ नहीं है, फिर भी मैं चाहती हूं कि तुम इस मामले को अपने हाथ में लो।

'अ' एक अंग्रेज़ था जिसके बारे में 'Twelve Years' में मैंने सविस्तार लिखा है। उसका यकृत बुरी हालत में था और वह सारे समय बीमार रहता था। अब ऐसे विदेशी साधकों के लिए भोजन की विशेष व्यवस्था हो गयी है जो भोजनालय का खाना हज़म नहीं कर पाते हैं।

दूसरा व्यक्ति हमारे पास कभी आया ही नहीं। शायद वह दवाइयां नहीं लेना चाहता था और दिव्य शक्ति द्वारा रोगमुक्त होने की आशा लगाये हुए था किन्तु वह असफल रहा। ऐसे कई उदाहरण थे। माताजी लोगों की अनिच्छा के विरुद्ध उन्हें दवाई लेने के लिए कभी बाधित नहीं करती थीं। जो लोग माताजी की शक्ति की ओर ग्रहणशील थे, वे बिना किसी उपचार के स्वस्थ हो जाया करते थे। ऐसा लगता है कि इस तरह की व्यापक ग्रहणशीलता बाद में लुप्त हो गयी। श्रीअरविन्द ने मुझे एक पत्र में लिखा, "खैर, एक समय ऐसा था कि 'त' और 'स' दवाई की आवश्यकता के बिना ही स्वस्थ हो जाते थे, बाद में जो उन्नति हुई वह तुम्हारे पक्ष में हुई है ताकि तुम समता प्राप्त करने के पहले सबक सीखो। मुझे यह शिक्षा बहुत समय तक मिलती रही और मैं अब इसमें एम.ए. कर चुका हूं। उस शिक्षा को पाने की अब तुम्हारी बारी है!"

और एक स्त्री को माताजी ने भेजा था, उसके विषय में माताजी कहती हैं, " 'त' ज़्यादा-से-ज़्यादा कमज़ोरी की शिकायत करती है और उसकी जीवन-शक्ति कम हो रही है। उसका कहना है कि उसका पेट काम करने से इन्कार करता है, उसका हृदय कमज़ोर है, उसका यकृत गड़बड़ा गया है वगैरह, वगैरह। वह अपने रक्त की जांच कराना चाहती है, यकृत का एक्सरे होना चाहिए, पेशाब की परीक्षा ली जाये..."।

मैं—क्या उसके रक्त की जांच करना आवश्यक है?

माताजी—वह मानती है कि एकदम आवश्यक है। उसे पूरा विश्वास है "उसकी हालत तेज़ी से गिरती जा रही है।" (उसके अपने शब्दों में) निश्चय ही, यह जो मैं तुमसे कह रही हूं, सब गोपनीय है।

मैं—सोच रहा हूं कि क्या इससे उसे कोई फ़ायदा होगा?

माताजी—अगर वह ऐसा सोचती है कि फ़ायदा होगा तो शायद हो।

—नीरदवरण

श्रीमातृवाणी :

संगीत

संगीत आध्यात्मिक कला है

संगीत का काम है अपने-आपको आध्यात्मिक ऊंचाइयों तक उठाने में चेतना की सहायता करना।

वह सब जो चेतना को नीचा करता है, कामनाओं को प्रोत्साहित करता और आवेगों को जगाता है, संगीत के सच्चे लक्ष्य के विरुद्ध है और उससे बचना चाहिये।

*

कला को उसके तात्त्विक सत्य में देखें तो यह भागवत अभिव्यक्ति का, सौन्दर्य का अंग है, उससे किसी तरह कम नहीं। इस दृष्टि से देखने पर सच्चे कलाकार सम्भवतः बहुत थोड़े-से मिलेंगे; किन्तु फिर भी, कुछ लोग हैं और इनको योगी कहा जा सकता है। योगी की तरह कलाकार को भी अपनी प्रेरणा की प्रतीक्षा करने और उसको पाने के लिए हृदय की गहराई में उतरकर चिन्तन करना

होता है। किसी वास्तविक सुन्दर वस्तु की रचना करने के लिए, पहले उसे उस वस्तु को अपने अन्दर देखना पड़ता है, उस वस्तु को अपनी आन्तरिक चेतना में एक अखण्ड वस्तु के रूप में सिद्ध करना पड़ता है; इस प्रकार उसे जब किसी वस्तु की प्राप्ति, उसका दर्शन हो जाता है, वह वस्तु उसके हृदय में अंकित हो जाती है; केवल तभी वह उस वस्तु को बाहर प्रकट कर सकता है; वह अपनी रचना इस महत्तर आन्तरिक दर्शन के अनुसार ही करता है। यह भी एक तरह की योग-साधना ही है, कारण इसके द्वारा उसका आन्तरिक जगतों के साथ घनिष्ठ समागम होने लगता है। लियोनार्दो-द-विंची जैसे मनुष्य योगी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे। और यदि उनको सबसे बड़ा चित्रकार न भी कहें तो भी वे बड़े-से-बड़े चित्रकारों में से एक तो थे ही,—हालांकि उनकी कला केवल चित्रकारी में ही समाप्त नहीं हुई।

संगीत भी सार रूप से आध्यात्मिक कला ही है और सदा ही इसका धार्मिक भाव और आन्तरिक जीवन से साहचर्य रहा है। परन्तु यहां भी, हमने इसको भी किसी स्वच्छन्द और स्वनिर्भर कला में, एक क्षणजीवी कला में परिणत कर दिया है—नाटकों का संगीत इसी तरह का होता है। हमारे देखने और सुनने में आनेवाली अधिकांश कला-रचनाएं इसी कोटि की हैं और अधिक-से-अधिक हम उनमें उनके पारिभाषिक दृष्टिकोण से ही रस ले सकते हैं। मैं यह नहीं कह रही हूं कि नाटक के संगीत को भी उच्चतर कला-व्यञ्जना का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है; आकार चाहे जो भी हो, लेकिन वह गभीरतर हेतु के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। सब कुछ स्वयं उस वस्तु पर, किस प्रकार उसका उपयोग किया जाता है इस पर और उसके पीछे क्या भाव है इस पर निर्भर करता है। कोई भी चीज़ ऐसी नहीं है जो भगवान् के हेतु को सिद्ध करने के उपयोग में

न लायी जा सके—ठीक उसी तरह जैसे कोई भी चीज़ यह बहाना कर सकती है कि वह भगवान् के यहां से आयी है, फिर चाहे वह क्षणजीवी कोटि की ही क्यों न हो।

*

संगीत भी धरती की सभी चीज़ों का अनुकरण करता है—जब तक वे भगवान् की ओर न मुड़ें वे दिव्य नहीं हो सकतीं।

*

विशेषज्ञ की हैसियत से ये लोग अद्‌भुत होते हैं; किन्तु विशेषता तो केवल यन्त्र है। यदि तुम्हारा यन्त्र बढ़िया है तो यह अच्छी ही बात है, किन्तु जब तक इसको भगवान् के अर्पण नहीं कर दिया जाता तब तक यह चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, पर रहता है उच्चतम से शून्य ही, और किसी दिव्य उद्देश्य के लिए यह उपयोगी नहीं हो सकता। कठिनाई यह है कि जो लोग कलाकार होते हैं उनमें से अधिकतर व्यक्तियों का यह विश्वास होता है कि वे अपने ही पैरों पर खड़े हैं और उन्हें भगवान् की ओर अभिमुख होने की कोई आवश्यकता नहीं। यह बड़े दुःख की बात है, कारण, भागवत अभिव्यक्ति में कौशल उतना ही उपयोगी तत्त्व है जितनी कि और कोई भी वस्तु। कौशल भागवत रचना का एक भाग ही है, पर उसे यह सीख लेना चाहिये कि महत्तर वस्तुओं के आगे वह अपने को कैसे झुकाये रहे।

*

यदि तुम चाहते हो कि कला सच्ची और उत्कृष्टतम हो तो उसे इस जड़ प्राकृतिक जगत् में उतारी गयी किसी दिव्य जगत् की

अभिव्यक्ति होना चाहिये। सभी सच्चे कलाकारों को इस तरह का कुछ अनुभव होता है, कुछ ऐसा भान होता है कि वे किसी उच्चतर जगत् और इस भौतिक जगत् के बीच एक माध्यम हैं। यदि तुम इस दृष्टि से देखो तो कला योग से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु बहुधा कलाकारों को एक अस्पष्ट-सा अनुभव मात्र होता है, उन्हें ज्ञान नहीं होता। तब भी, मैं कुछ कलाकारों को जानती थी जिन्हें यह ज्ञान था; वे ज्ञान के साथ अपनी कला-रचना करते थे, उन्होंने रचनाओं में अपने व्यक्तित्व को सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में आगे नहीं रखा; उन्होंने अपने कार्य को भगवान् की भेंट के रूप में लिया और उसके द्वारा भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को व्यक्त करने की कोशिश की।

मध्यकालीन युग में कला का माना हुआ उद्देश्य यही था। "आदिकालीन" चित्रकारों में मध्यकालीन यूरोप के गिरजाघरों के निर्माताओं में कला के सम्बन्ध में और कोई ख्याल न था। भारतवर्ष की स्थापत्य-कला, मूर्तिकला और चित्रकारी, सब कुछ इसी मूल भाव से उत्पन्न हुई हैं और इन सबकी प्रेरणा इसी आदर्श से हुई थी। मीराबाई के भजनों का, त्यागराज के संगीत का, भारत के भक्तों, सन्तों और ऋषियों के काव्य-साहित्य का स्थान संसार की सर्वोत्कृष्ट कला-सम्पत्ति में है।

*

साहित्य भी आह्वान का एक तरीका है जो संगीत के साथ भी मेल खाता है। स्वभावतः, तुम साहित्य का विश्लेषण कर सकते हो और देख सकते हो कि वाक्य-रचना कैसी है, लेकिन यह मनुष्य को अस्थिपंजर में बदलने की तरह है। अस्थिपंजर सुन्दर नहीं होता। यह वही बात है। अगर तुम संगीत में सुरसंगति का अध्ययन करो,

और कहो कि इस स्वर के बाद अनिवार्य रूप से यह स्वर आना चाहिये, और इस स्वर-गुच्छ के बाद आवश्यक रूप से वह स्वर-गुच्छ आना चाहिये, तो तुम संगीत को भी खराब कर देते हो, तुम संगीत का कंकाल बना देते हो; यह रोचक नहीं होता। इन चीज़ों को उनके अनुरूप भाव से अनुभव करना होता है... सामञ्जस्य और जिसे वे ध्वनित करते हैं उसे पकड़ना होता है।

संगीत के बाहरी रूप के पीछे

संगीत के बाहरी रूप के "पीछे" क्या है?

संगीत अमुक विचारों, भावनाओं, भावों और अभीप्साओं को व्यक्त करने का साधन है। एक ऐसी भूमिका भी है जहां ये सब गतियां विद्यमान हैं और उन्हें जब उतारा जाता है तो वे संगीतमय रूप ले लेती हैं। कोई बहुत अच्छा संगीतकार, थोड़ी-सी प्रेरणा के साथ बहुत सुन्दर संगीत बना सकता है क्योंकि वह अच्छा संगीतज्ञ है। एक बुरा संगीतज्ञ भी बहुत ऊंची प्रेरणा पा सकता है, उसे कोई अच्छी चीज़ मिल सकती है परन्तु चूंकि उसमें संगीत की क्षमता नहीं है, इसलिये वह जो कुछ तैयार करता है वह एकदम घिसा-पिटा, मामूली, नीरस होता है। लेकिन अगर तुम परे जा सको, ठीक उस जगह पहुंच सको जो इस संगीत का मूल है—भाव, भावना और प्रेरणा का मूल—अगर तुम वहां पहुंच सको तो तुम रूपों के बारे में ज़रा भी कष्ट उठाये बिना असली चीज़ का रस ले सकते हो। घिसे-पिटे संगीत का नाता भी फिर उससे जोड़ा जा सकता है, क्योंकि वही तो संगीतकार की प्रेरणा थी। स्वभावतः ऐसे उदाहरण होते हैं जहां कोई प्रेरणा नहीं होती, जहां केवल यान्त्रिक संगीत ही

मूल में होता है। यह हमेशा, हर जगह रसप्रद नहीं होता। मेरे कहने का मतलब यह है कि एक आन्तरिक अवस्था ऐसी होती है जिसमें बाहरी रूप ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ नहीं होता, महत्त्व होता है संगीत के मूल का, परे से आने वाली उस प्रेरणा का। वह शुद्ध ध्वनियों का महत्त्व नहीं है, बल्कि उस चीज़ का महत्त्व है जिसे ध्वनियां व्यक्त करती हैं।

*

संगीत की ऐसी रचनाएं होती हैं जिनमें कोई प्रेरणा नहीं होती। वे यान्त्रिक चीज़ों जैसी होती हैं। ऐसे संगीतज्ञ होते हैं जिन्हें बहुत प्रवीणता प्राप्त होती है, यानी, जो संगीत के कौशल पर पूरा प्रभुत्व रखते हैं। उदाहरण के लिए, वे कठिन-से-कठिन चीज़ों को बड़ी तेज़ी से बिना भूल किये बजा सकते हैं। वे संगीत तो बजा सकते हैं पर वह कुछ भी अभिव्यक्त नहीं करता। वह मशीन जैसा होता है। उसका अर्थ बस इतना ही होता है कि उन्हें कौशल प्राप्त है, इसके सिवा कुछ नहीं। आदमी जो कुछ करता है उसमें प्रेरणा ही सबसे ज़्यादा महत्त्व रखती है। सभी मानव रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है प्रेरणा। स्वभावतः कार्यान्वयन उसी स्तर का होना चाहिये जिस स्तर की प्रेरणा हो। उच्चतम चीज़ों को सचमुच अच्छी तरह प्रकट कर सकने के लिए बहुत अच्छी तकनीक भी ज़रूरी है। मैं यह नहीं कहती कि तकनीक ज़रूरी नहीं है, वह अनिवार्य भी है, लेकिन वह एकमात्र अनिवार्य चीज़ नहीं है। वह प्रेरणा से कम महत्त्वपूर्ण है।

संगीत का तात्त्विक गुण इस बात पर निर्भर करता है कि वह कहां से आता है, उसका मूल कहां है!

"उसका मूल" का मतलब क्या है?

उसके शुरू होने का स्थान, जैसे नदी का मूल है उसका स्रोत।

क्या हर चीज़ के लिए बहुत से स्रोत होते हैं?

सारे भौतिक जीवन का स्रोत प्राणिक और मानसिक जीवन में होता है। प्राणिक और मानसिक वास्तविकता का कोई और ही स्रोत है, और इसी तरह धरती पर ऐसी कोई चीज़ भौतिक रूप से प्रकट नहीं हो सकती जिसके मूल में उच्चतर सत्य न हो, अन्यथा संसार रहेगा ही नहीं। अगर यह कोई चपटी चीज़ होती, जिसका मूल स्वयं उसी के अन्दर है तो यह शीघ्र ही समाप्त हो जाती। चूंकि एक शक्ति है जो धकेलती है, एक ऊर्जा है जो अभिव्यक्ति की ओर धकेलती है, इसीलिए जीवन बना हुआ है, वरना वह बहुत जल्दी अपने-आपको खतम कर डालता।

प्रेरणा के विभिन्न स्रोत

साधारणतः संगीत किस स्तर से आता है?

इसके अलग-अलग स्तर हैं। संगीत की एक पूरी श्रेणी है जो उच्चतर प्राण से आती है। वह बहुत मोहक होती है, कुछ-कुछ (ठीक शब्दों में नहीं) अशिष्ट और गंवारू। एक ऐसी चीज़ जो स्नायुओं को मरोड़ती है। यह ज़रूरी नहीं कि यह संगीत अरुचिकर हो लेकिन साधारणतः यह तुम्हें स्नायुओं के केन्द्रों में पकड़ लेता है। तो एक प्रकार के संगीत का मूल-स्रोत प्राण में होता है, एक संगीत, इससे बिलकुल भिन्न ऐसा भी होता है जिसका मूल चैत्य में होता है। एक और संगीत का आध्यात्मिक स्रोत होता है। यह बहुत ही सुस्पष्ट

और प्रफुल्ल होता है और तुम्हें बहा ले जाता है, पूरी तरह से अधिकार में कर लेता है। लेकिन अगर तुम इसे अच्छी तरह से बजाना चाहो तो तुम्हें उसको प्राण के रास्ते से ला सकना चाहिये। यदि तुम्हारे अन्दर प्राणिक स्पन्दनों की तीव्रता न हो तो ऊपर से आता हुआ संगीत भी अपनी अभिव्यक्ति में बिलकुल नीरस या बेसुरा बन सकता है। मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्हें बहुत ऊंची प्रेरणा आती थी, पर उनका संगीत बेसुरा हो जाता था क्योंकि उनका प्राण गति करने से इन्कार करता था। मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि उन लोगों ने अपनी आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपने प्राण को पूरी तरह सुला दिया था—वह सचमुच सो गया था और कोई क्रिया न करता था और संगीत सीधा भौतिक स्तर पर आता था। अगर कोई उस संगीत के मूल-स्रोत से सम्बन्ध जोड़ सकता तो देखता कि वह सचमुच अद्‌भुत था, परन्तु बाहरी रूप में उसमें शक्ति न थी, उसमें कुछ दुर्बल लय भले हो पर स्वर-संगीत और ताल-मेल का बल न था। जब तुम प्राण को भी सक्रिय बना सको तब स्पन्दन की पूरी शक्ति आ जाती है। उसमें अगर उच्चतर स्रोत को उतारा जा सके तो वह प्रतिभासम्पन्न संगीत बन जाता है।

संगीत की बात विशेष है; यह बहुत कठिन है, उसके लिए एक माध्यम की जरूरत होती है। अन्य सभी चीज़ों के लिए भी यही बात है। साहित्य के लिए, काव्य के लिए, चित्रकला के लिए, तुम जो कुछ करते हो सभी के लिए यही बात है। तुम्हारी रचना का सच्चा मूल्य प्रेरणा के उत्स पर और उस स्थिति या ऊंचाई पर निर्भर करता है जहां तुम उसे पाते हो। लेकिन उसके कार्य रूप का मूल्य उस प्राण-शक्ति पर निर्भर करता है जो उसे अभिव्यक्त करती है। प्रतिभा को पूरा करने के लिए दोनों का होना जरूरी है। यह बहुत विरल है। साधारणतः एक चीज़ होती है या दूसरी, अधिकतर प्राण-

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

शक्ति होती है। और फिर संगीत के वे अन्य प्रकार हैं—होटलों के संगीत, सिनेमा-संगीत—उसमें असाधारण कौशल होता है और साथ ही विरल नीरसता और असाधारण गंवारूपन। लेकिन चूंकि उसमें असाधारण कौशल होता है इसलिए वह तुम्हें सौर चक्र में पकड़ लेता है और तुम इसे याद रखते हो, यह तुम्हें एकदम पकड़ लेता है और पकड़े रहता है, इससे छूटना मुश्किल होता है क्योंकि यह अच्छी तरह रचा हुआ, बहुत अच्छी तरह रचा हुआ संगीत होता है। यह प्राणिक स्पन्दनों से सजीव रूप में बनता है परन्तु इसके पीछे जो चीज़ होती है वह भयावह होती है।

लेकिन इसी अभिव्यक्ति की प्राणिक शक्ति की कल्पना करो, जिसमें प्रेरणा बहुत ऊपर से—यथासम्भव ऊंचे-से-ऊंची प्रेरणा जिससे हमारे आगे सभी स्वर्ग खुल जाते हैं—आये, तब अद्‌भुत होती है। सीज़र फ्रैंक के कुछ परिच्छेद, बिठोवन के कुछ परिच्छेद, बाख के कुछ परिच्छेद और कुछ अन्य लोगों के परिच्छेद ऐसे हैं जिनमें ऊंची प्रेरणा भी है और शक्ति भी। लेकिन वह क्षणिक होती है, वह एक क्षण की तरह आती है, टिकती नहीं। तुम किसी कलाकार की सारी कृति को उस स्तर की नहीं कह सकते। जब कार्य अखण्ड हो, प्रेरणा बिजली की कौंध की तरह आती है, कभी-कभी वह काफी लम्बे समय तक रहती है। जब इसे लम्बे समय तक रखा जा सके तो **वही प्रभाव** पैदा होता है, यानी, अगर तुम सतर्क और केन्द्रित हो तो तुम अचानक ऊपर उठ जाते हो, तुम्हारी ऊर्जाएं ऊपर उठ जाती हैं, ऐसा लगता है मानों किसी ने तुम्हारा सिर खोल दिया और तुम हवा में बहुत बड़ी ऊंचाइयों में और भव्य ज्योतियों में फेंक दिये गये। कुछ सेकेंडों में वह ऐसे परिणाम लाता है जो बरसों की योग-साधना के बाद मिलते हैं। हां, साधारणतः व्यक्ति उसके बाद नीचे आ गिरता है क्योंकि वहां चेतना का आधार नहीं होता। आदमी को

Gurukul Kangri University (A.U)

अनुभूति होती है लेकिन बाद में उसे यह भी पता नहीं रहता कि हुआ क्या था। लेकिन अगर तुम तैयार हो, अगर तुमने योग के द्वारा अपनी चेतना तैयार कर ली है, तब जो चीज़ होती है वह प्रायः सुदृढ़ होती है।

बड़े-बड़े संगीतकारों के पास संगीत किस रूप में आता है? मेरा मतलब, केवल स्वरध्वनि आती है या जैसा हम सुनते हैं?

यह संगीतकार पर निर्भर करता है। मैं यही तो कह रही थी। उदाहरण के लिए, यहां, भारतवर्ष में सुरसंगति (हार्मनी) का विज्ञान अधिक नहीं है, इसलिए चीज़ लय (मेलोडी) में अनूदित हो जाती है। जैसे ही प्राण का प्रवेश होता है, संगीत में एक प्रकार की स्वरमाधुर्य-भरी जटिलता आ जाती है। इससे उसमें वह समृद्धि और पूर्णता आती है जो पहले न थी।

क्या लय आती है?

नहीं, संगीत आता है और संगीत आवश्यक रूप से लय नहीं है। यह ध्वनियों का एक सम्बन्ध होता है जिसका लयबद्ध होना जरूरी नहीं है। लय ध्वनियों के सम्बन्ध का एक भाग है।

भारतीय और पाश्चात्य संगीत

यूरोपीय और भारतीय संगीत में बहुत बड़े फ़र्क का कारण क्या है? यह स्रोत का फ़र्क है या अभिव्यक्ति का?

दोनों ही, पर एक उल्टे अर्थ में।

यूरोपीय संगीत में बहुत ऊंची प्रेरणा विरल है, चैत्य स्रोत भी विरल है, बहुत विरल। या तो वह ऊपर से आती है या फिर प्राण से। अभिव्यक्ति प्रायः हमेशा, कुछ विरले उदाहरणों को छोड़कर, प्राणिक अभिव्यक्ति होती है, मनमोहक और सशक्त। बहुधा स्रोत पूरी तरह प्राणिक होता है। कभी-कभी बड़ी ऊंचाइयों से आता है और तब वह अद्‍भुत होता है। कभी-कभी वह चैत्य होता है, विशेषकर धार्मिक कहाने वाले संगीत में, परन्तु यह बहुत बार नहीं होता।

भारतीय संगीत, यदि अच्छे संगीतकार हों, प्रायः, चैत्य स्रोत से आता है। उदाहरण के लिए, रागों का मूल-स्रोत चैत्य में है, वे चैत्य से आते हैं। प्रेरणा प्रायः, ऊपर से नहीं आती। लेकिन भारतीय संगीत बहुत कम ही सशक्त प्राण में होता है, बल्कि उसमें एक आन्तरिक और प्रगाढ़ स्रोत होता है। मैंने बहुत-सा भारतीय संगीत सुना है, हां, बहुत-सा। मैंने कभी-कदास ही ऐसा भारतीय संगीत सुना है जिसमें प्राण-शक्ति हो, शायद चार-पांच बार से ज़्यादा नहीं। लेकिन बहुत बार मैंने चैत्य स्रोतवाला भारतीय संगीत सुना है। वह अपने-आपको लगभग सीधा ही भौतिक रूप में अनूदित कर देता है। और तब सचमुच व्यक्ति को एकाग्र होना चाहिये। और जैसा कि वह है—इसे कैसे कहा जाये?—वह बहुत सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्म होता है। चूंकि उसमें तीव्र प्राणिक स्पन्दन नहीं होते इसलिए मनुष्य उसके अन्दर आसानी से बहता हुआ संगीत के चैत्य स्रोत तक वापिस चढ़ सकता है। इसका कुछ ऐसा प्रभाव होता है। यह एक प्रकार की भावविभोर समाधि होती है मानों मादक द्रव्यों की मस्ती हो। वह तुम्हें थोड़ा-बहुत समाधि में ले जाता है। तब यदि तुम अच्छी तरह सुनो और अपने-आपको छोड़ दो तो तुम आगे बढ़ते जाओगे, बढ़ते और बहते जाओगे और बहते हुए चैत्य चेतना में जा पहुंचोगे। लेकिन अगर तुम केवल बाहरी चेतना में ही रहो, तो संगीत इतना

सूक्ष्म होता है कि प्राण कोई प्रतिक्रिया नहीं करता, वह तुम्हें नीरस लगता है। कभी-कभी उसमें प्राण-शक्ति होती है, तब संगीत काफ़ी अच्छा हो जाता है...। स्वयं मुझे इस तरह का संगीत बहुत पसन्द है, इस प्रकार का संगीत-विषय, जो विकसित होकर खिलता है। संगीत-विषय तत्त्वत: बहुत संगीतमय होता है, फिर उसे बहुत-से परिवर्तित रूपों के साथ विकसित किया जाता है—अनगिनत परिवर्तनों के साथ, संगीत-विषय हमेशा वही रहता है जिसे एक या दूसरे प्रकार से विकसित किया जाता है। यूरोप में ऐसे संगीतकार हुए हैं जो सचमुच संगीतज्ञ थे, उनमें भी यह चीज़ थी। बाख में यह चीज़ थी, वे इसी प्रकार की चीज़ किया करते थे, मोजार में यह चीज़ थी। उनका संगीत शुद्ध रूप से संगीतमय था, वे कोई और चीज़ न प्रकट करना चाहते थे, उनका संगीत संगीत के लिए था। व्यक्तिगत रूप से मुझे, इस तरह कुछ स्वरों को अमुक सम्बन्ध में रखना (उनके प्राय: अनन्त परिवर्तित रूप होते हैं) अद्‌भुत रूप में विश्रामदायक लगता है, और तुम अपने अन्दर गहराइयों में चले जाते हो। और तब यदि तुम तैयार हो तो यह तुम्हें चैत्य चेतना प्रदान करता है : एक ऐसी चीज़ जो तुम्हें बाहरी चेतना से हटा लेती है, जो कहीं और, अन्दर प्रवेश कराती है।

कुछ संगीतज्ञों के बारे में

आधुनिक काल के महान् संगीतज्ञों में ऐसे बहुतेरे हुए हैं जिनकी चेतना जब वे कोई कला-रचना करने बैठते थे तब किसी उच्चतर चेतना के संस्पर्श में आ जाती थी। सीज़र फ्रैंक (बेलजियम के एक प्रख्यात संगीतज्ञ) एक प्रेरित व्यक्ति की तरह ऑर्गन बजाते थे; वे अन्तरात्मा के जीवन के प्रति खुले हुए थे और उनको इस बात का

सचेतन ज्ञान था तथा वे बहुत अंश तक इस जीवन को अपने वादन द्वारा अभिव्यक्त करते थे। बीठोवन ने जब ९वीं सिम्फनी की रचना की थी तब उनको किसी ऊर्ध्व लोक की ओर उद्घाटित हो जाने तथा इस पार्थिव लोक में उस लोक के उतर आने का दर्शन हुआ था। वाग्नर (प्रख्यात जर्मन संगीतज्ञ) को सूक्ष्म लोकों से बलवान् और शक्तिशाली सूचनाएं मिलती थीं। उनको सूक्ष्म गुह्य विद्या का सहज ज्ञान था और सूक्ष्म जगत् का उन्हें भान होता था तथा इसके द्वारा ही उनको महत्तम प्रेरणाएं प्राप्त हुई थीं। परन्तु उनकी रचनाएं ज़्यादातर प्राणमय भूमिका की होती थीं और उनका मन उनकी प्रेरणाओं में लगातार हस्तक्षेप करता रहता था तथा उनको यान्त्रिक कर डालता था। उनकी रचना का अधिकांश शक्तिशाली होते हुए भी बहुत बार मिलावटी, बहुधा अस्पष्ट और क्लिष्ट है। परन्तु जब कभी वे प्राणमय और मनोमय भूमिका का अतिक्रमण कर किसी उच्चतर लोक में पहुंच सके, तब उनको जो थोड़ी-सी झांकियां मिलीं, उनमें असाधारण सौन्दर्य था। यह उनके 'पार्सिफ़ाल' नाटक के संगीत में, उनकी 'ट्रीस्टन' और 'इस्युल्ट' नामक प्रेम-कथाओं के संगीत के कुछ अंशों में, विशेष रूप से अन्तिम अंक के अन्तिम भाग के संगीत में अभिव्यक्त हुआ है।

*

मन के बहुत ऊपर एक लोक है जिसे हम सामञ्जस्य का लोक कह सकते हैं और यदि तुम वहां पहुंच सको तो आजतक जितना भी सामञ्जस्य किसी भी रूप में पृथ्वी पर प्रकट हुआ है उसका मूल तुमको वहां मिलेगा। उदाहरण के लिए, बाख की गतों और बीठोवन की गतों को ले लो, ये दो संगीतज्ञ इस जगत् में आगे-पीछे आये और इन्होंने जो कुछ रचनाएं कीं उसके पीछे संगीत की एक ही

धारा, जिसमें कि कतिपय सर्वोत्तम स्वरों का प्रयोग हुआ है, पायी जाती है। इन दोनों गुणियों की स्वरलिपि एक नहीं है, और इनकी धुनें बाहरी कानों को भी अलग-अलग सुनायी पड़ती हैं, किन्तु सार रूप से ये हैं एक ही। चेतना के बिलकुल एक ही प्रकार के कम्पन ने, अर्थपूर्ण सामञ्जस्य की एक ही लहर ने इन दोनों कलाकारों का स्पर्श किया था। इस कम्पन और लहर को बीठोवन बाख़ की अपेक्षा कुछ अधिक पकड़ सके थे, किन्तु उनके अन्दर ये उनके अपने मन की कल्पनाओं और क्षेपकों द्वारा अधिक मिश्रित हुए; बाख़ कुछ कम पकड़ सके, किन्तु जो कुछ भी उनकी पकड़ में आया उसको उन्होंने अधिक शुद्ध रखा। जिस कम्पन को इन लोगों ने ग्रहण किया वह चेतना के विजयात्मक निष्क्रमण का कम्पन था, चेतना अचेतना के गर्भ को फाड़कर विजयात्मक रूप से ऊपर उठ रही थी, जन्म ले रही थी।

योग के द्वारा यदि तुम इस लोक में, जहां से सभी कलाएं जन्म लेती हैं, पहुंच सको तो तुम इच्छा करने पर सभी कलाओं के स्वामी बन सकते हो।

*

हां, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वप्नाचरण की अवस्था में अद्‌भुत चीज़ें लिख लेते हैं। परन्तु टारटिनी स्वप्नाचारी नहीं था—वास्तव में वह स्वप्नावस्था में 'सोनाटा' लिखा करता था। यह एक ऐसी स्थिति है जो सर्वदा ही थोड़ी खतरनाक होती है, सर्वदा ही।

*

(माताजी ने अपनी एक अनुभूति की व्याख्या करते हुए यह कहा था) :

... अचानक ही मैंने सुने धरती के हर कोने से आते हुए वे महागान जो हम कभी-कभी सूक्ष्म-भौतिक जगत् में सुनते हैं। कुछ-कुछ बीठोवन की संगीत-रचना के समान थे वे। ऐसी तान जो प्रगति-अभियान के समय ही बजायी जाती है। लगा मानों प्रकृति और आत्मा के इस नये संगम के आनन्द को, चिर बिछुड़े दो पुराने बन्धुओं के पुनर्मिलन के हर्ष को व्यक्त करने के लिए, एक भी सुर भंग किये बिना पचासों ऑर्केस्ट्रा एक साथ बज उठे हों।

बैरलिऑज़ का संगीत

हमने जो फिल्म[१] देखी थी, उसके बारे में कलात्मक सृजन में दुःख का क्या स्थान है?...

दुःख कलात्मक सृजन में कैसे सहायता पहुंचाता है?

कैसे सहायता पहुंचाता है? यह लोगों पर निर्भर करता है। कुछ लोगों को उससे बहुत सशक्त सहायता मिलती है। मैं इस आदमी (बैरलिऑज़) को संगीत की शुद्धतम अभिव्यक्तियों में से एक मानती हूं। यह बिलकुल...मैं कह सकती हूं कि वह संगीत का, संगीत की आत्मा का अवतार है। दुर्भाग्यवश उसका शरीर ज़रा दुर्बल था; यानी, उदाहरण के लिए, उसके पास वह ठोस आधार न था जो योग से आता है। इससे वह बहुत ज़्यादा डांवाडोल और बहुत ज़्यादा भावुक हो गया था, व्यग्र, उत्तेजित और संवेगात्मक हो गया था। यह एक गम्भीर दुर्बलता थी। लेकिन मैंने हमेशा अनुभव किया है—और उस दिन यह भाव बहुत प्रबल था—कि सृजन की दृष्टि से वह संगीत की आत्मा के सम्पर्क में था। संगीत के सार-तत्त्व का

[१] बैरलिऑज़ के बारे में आश्रम में एक फिल्म दिखलायी गयी थी।

समस्त आशय उसके अन्दर इस शक्ति के साथ प्रवेश कर गया था कि उसने उसे पूरी तरह झिंझोड़ दिया; परन्तु सचमुच, वह संगीत के अवतार की नाईं था।

यह शुद्ध रूप से मानवीय धारणा है कि दुःख ने उससे सृजन करवाया; यह सच नहीं है। इसके विपरीत, अगर हम उलटकर कहें तो यह बहुत ही विलक्षण बात है कि ऐसा कोई शारीरिक कष्ट न था जो उसके अन्दर जाकर तुरन्त संगीत में नहीं बदल गया; यानी, संगीत की आत्मा मानव पीड़ा से बहुत ज़्यादा मज़बूत थी। उस पर पड़ने वाला जीवन का प्रत्येक प्रहार उसे डांवाडोल कर देता था क्योंकि बहुत ज़्यादा संवेदनशील होने के कारण उसमें प्रतिरोध की शक्ति न थी। फिर भी, हर प्रहार तुरन्त संगीत में अनूदित हो जाता था। यह बहुत ही विरल चीज़ है।

लोगों को—सभी स्रष्टाओं को—सामान्यतः... कैसे कहा जाये? ...सृजन फिर से शुरू करने के लिए समय और शान्त-स्थिरता की ज़रूरत होती है, जब कि उसके लिए यह सहज बात थी। दुःखमय प्रहार तुरन्त संगीतमय अभिव्यक्ति ले आता था। सचमुच उसके लिए उसका सारा जीवन संगीत के साथ शुरू होता था और संगीत के ही साथ समाप्त हुआ था। वह संगीत था और वह...उसमें इतनी सचाई थी, संगीत के साथ आसक्ति में इतनी सचाई और तीव्रता थी कि मुझे लगता है कि संगीत की आत्मा अपने-आपको उसके द्वारा प्रकट करती थी। शायद हम यहां जिसे आधार की कमज़ोरी कहते हैं उसके कारण उसने जो लिखा है वह उसका सुन्दरतम संगीत न था। वह...उसका शारीरिक गठन बहुत कमज़ोर था। लेकिन संगीत की दृष्टि से देखें तो, वह बहुत ही सुन्दर था, बहुत ही सुन्दर। (मौन) और अपनी शक्ति के साथ भी उसमें बहुत अधिक सरलता थी। उसने जो कुछ लिखा है उसमें निश्चय ही, बहुत अधिक तकनीकी

ज्ञान के साथ एक प्रकार की रेखा की स्वच्छता है। उसकी वाद्यवृन्द की क्षमता बहुत, बहुत विलक्षण है। जब कोई छह सौ वृन्दवादकों के लिए संगीत लिख सकता है, तो उसका यह विज्ञान कठिन-से-कठिन, जटिल गणित की तरह जटिल होता है। वास्तव में ये एक-दूसरे के बहुत निकट हैं।

माताजी, जब हमें कोई आघात लगता है, किसी प्रकार की पीड़ा होती है, तो क्या हमें उसे संगीत या काव्य में प्रकट करने की कोशिश करनी चाहिये? वह सहज-रूप में न आये तो भी?

प्रकट करने की? अगर तुम्हारे अन्दर प्रतिभा है; वरना यह बेकार है। लेकिन अगर प्रतिभा हो तो यह अच्छा है...

संगीत कैसे सुनें

माताजी, संगीत सुनते समय उसे ठीक तरह कैसे सुनना चाहिये?

इसके लिए—अगर तुम बिलकुल मौन हो सको, मौन और एकाग्र, ऐसे मानों तुम एक यन्त्र हो जो ध्वन्यांकित कर रहा है—बिना हिले-डुले, केवल सुनते रहो—अगर तुम एकदम मौन, बिलकुल शान्त रह सको तो इस तरह चीज़ अन्दर प्रवेश करती है। और बाद में, कुछ समय बाद ही तुम्हें इसके असर का पता लगता है, तुम्हें पता लगता है कि उसका क्या अर्थ था, या तुम पर उसका क्या असर हुआ।

लेकिन सुनने का सबसे अच्छा तरीका यह है। एक स्थिर आईने

की तरह बहुत एकाग्र, बहुत नीरव हो जाओ। वास्तव में, हम देखते हैं कि जो लोग सचमुच संगीत-प्रेमी हैं... मैंने बहुत से संगीतकारों को, संगीतज्ञों को, वादकों को संगीत सुनते देखा है, जो सचमुच संगीत-प्रेमी थे... वे एकदम चुपचाप बैठते हैं, वे ऐसे ही रहते हैं, ज़रा भी नहीं हिलते-डुलते। हर चीज़, हर एक चीज़ इसी तरह रहती है। और अगर तुम सोचना भी बन्द कर सको तो बहुत अच्छा, तब तुम पूरा लाभ उठाते हो...। यह आन्तरिक उद्घाटन के तरीकों में और बहुत अधिक सशक्त तरीकों में से एक है।

*

मधुर मां, हम किसी और के बजाये हुए संगीत की भावनाओं में कैसे प्रवेश कर सकते हैं?

उसी तरह जैसे व्यक्ति सहानुभूति, सहजता, कम या ज़्यादा गहरी सजातीयता या फिर गहरी एकाग्रता के द्वारा—जो अन्त में तादात्म्य बन जाती है—के द्वारा दूसरों के भावों में भाग लेता है। जब तुम तीव्र, घनी एकाग्रता के साथ संगीत सुनते हो; यहां तक कि मस्तिष्क के अन्दर के, और सारे शोर को बन्द करके पूर्ण नीरवता प्राप्त कर लेते हो तो ऊपर कही गयी अन्तिम पद्धति का अनुसरण करते हो। संगीत के स्वर बूंद-बूंद करके उस नीरवता में गिरते हैं और केवल वही एक शब्द रहता है; और उस ध्वनि के साथ सभी भावनाएं, सभी भावों की गतियां इस तरह देखी और अनुभव की जाती हैं मानों वे स्वयं हमारे अन्दर पैदा हो रही हों।

*

माताजी, हर रविवार को आप ऑर्गन बजाती हैं, और आप

हमेशा अच्छा बजाती हैं। लेकिन कभी-कभी हमें लगता है कि आप ज़्यादा अच्छा बजा रही हैं!

कभी-कभी तुम्हें अनुभव होता है, कभी-कभी नहीं। कभी-कभी तुम्हें अच्छा लगता है, कभी-कभी नहीं; कभी-कभी तुम समझ पाते हो, कभी-कभी नहीं समझ पाते; कभी-कभी मैं अच्छा बजाती हूं, कभी-कभी बुरा। (हंसी)

यह बहुत-सी बातों पर निर्भर करता है, और सबसे बढ़कर तुम्हारी अपनी स्थिति पर। यह बहुत हद तक उस क्षेत्र पर भी निर्भर हो सकता है जो संगीत के द्वारा अभिव्यक्त होना चाहता है। इनमें से कुछ क्षेत्रों तक आसानी से पहुंचा जा सकता है, और कुछ ऐसे हैं जो समझने या ग्रहण करने के लिए ज़्यादा कठिन हैं। लेकिन सामान्यतः, यह पूरी तरह से तुम्हारी अपनी स्थिति पर निर्भर रहता है। जिस दिन तुम्हारी तबीयत अनुकूल हो उस दिन तुम उसे पसन्द करते हो और जिस दिन अनुकूल न हो उस दिन तुम उसे नहीं समझते। ऐसे दिन होते हैं जब वह तुम्हें सुला देता है और ऐसे दिन होते हैं जब तुम उससे खुश हो जाते हो; कुछ ऐसे दिन होते हैं जब तुम्हें लगता है कि वह तुम्हारे लिए नये क्षितिज खोल देता है और कभी तुम कहते हो : "पता नहीं, कुछ समझ में नहीं आता"! तो, यह बात है। यह पूरी तरह तुम्हारी तबीयत पर निर्भर होता है।

श्रीमां का संगीत

माताजी, आप जब रविवार को (ऑर्गन) बजाती हैं, तो क्या पहले से निश्चय कर लेती हैं कि संगीत किस लोक से आयेगा?

बैठने से पहले मैं यह भी नहीं जानती कि मैं कौन-से स्वर बजाऊंगी। लोक? यह सदा उसी समान लोक से आता है। इसीलिए, मैं बैरलिऑज़ के संगीत के स्रोत के बारे में कुछ अनुभव के साथ कह सकती हूं, क्योंकि वह लोक मेरे लिए बहुत सुपरिचित है। मैं वहां मनोयोग से जाया करती हूं। लेकिन मैं यह बिलकुल नहीं जानती कि क्या आयेगा। बिलकुल नहीं, ज़रा भी नहीं। मैं यह भी ठीक नहीं करती कि कौन-से भाव, कौन-से विचार, चेतना की कौन-सी स्थिति अभिव्यक्त हो, कुछ भी नहीं। मैं एक कोरे कागज़ की तरह होती हूं। मैं आकर बैठ जाती हूं, क्षण-भर के लिए एकाग्र होकर उसे आने देती हूं। बाद में, कभी-कभी मुझे पता लगता है, हमेशा नहीं। लेकिन जब मैं उसे यहां, दोपहर को या शाम को दोबारा सुनती हूं तो मुझे पता लगता है, क्योंकि वह 'मैं' नहीं होती, वह कोई बाहर से आने वाली चीज़ होती है। तो, तब मैं भली-भांति जानती हूं कि वह कैसी चीज़ है।

*

आपके संगीत में जो धुन बार-बार आया करती है उसका अर्थ क्या है?

तुमने देखा होगा कि यह धुन साधारणतः तब आती है जब कोई कष्ट या दुर्व्यवस्था प्रकट की गयी हो। वह समस्या के समाधान के रूप में आती है। इसका अर्थ है आगे बढ़ना, प्रगति, चेतना में एक कदम आगे। यह बोध के रूप में आती है। मेरा संगीत साधना की आन्तरिक गतियों के अनुरूप होता है। कभी-कभी कोई कष्ट, कोई दुर्व्यवस्था, कोई समस्या, कोई गलत गति, जिसके बारे में हम समझते थे कि हमने उसे जीत लिया है, वह और अधिक बल के साथ

वापिस आती है। लेकिन तब, उसके उत्तरस्वरूप या सहायता के रूप में आती हैं वृद्धि, चेतना का उद्‌घाटन—और फिर अन्तिम बोध।

इस संगीत को समझना बहुत कठिन है—विशेषकर पश्चिमी मन के लिए। प्रायः पश्चिमी लोगों के लिए इसका कोई अर्थ नहीं होता; वे आसानी से उसमें तदनुरूप गतियों का अनुभव ही नहीं करते। अधिकतर वे लोग जो भारतीय राग में रस ले सकते हैं, उन्हें यह संगीत पसन्द आ सकता है; क्योंकि इसमें रागों का कुछ सादृश्य है। लेकिन यहां भी रूप की दृष्टि से, संगीत के नियमों और स्वरांकन की सभी परम्पराओं को तोड़ दिया गया है।

*

क्रीड़ांगण में आपके संगीत के साथ ध्यान करते समय हमें क्या करना चाहिये?

इस संगीत का लक्ष्य होता है अमुक गहन भावों को जगाना।

उसे सुनने के लिए तुम्हें अपने-आपको जितना हो सके उतना नीरव और निश्चेष्ट बनाना चाहिये। और यदि, मानसिक नीरवता में, सत्ता का एक भाग साक्षी-भाव धारण कर सके जो भाग लिये या प्रतिक्रिया किये बिना केवल देखता है तो वह देख सकता है कि भावों और भावनाओं पर संगीत का क्या असर हो रहा है और, अगर वह गहरी स्थिर शान्ति और अर्द्ध-समाधि की स्थिति पैदा करे तो यह बहुत अच्छा है।

सोसायटी समाचार

२९ मार्च—पहली बार माताजी का श्रीअरविन्द से मिलने का जयन्ती-दिवस (१९१४ में) मनाया गया। माताजी ने ३० मार्च १९१४ को अपनी डायरी 'प्रार्थना और ध्यान' में इस मिलन के बारे में ये प्रतीकात्मक शब्द लिखे थे —

"इसका कोई महत्त्व नहीं कि हजारों सत्ताएं गहनतम अज्ञान में धंसी हुई हैं। जिन्हें हमने कल देखा था वे तो पृथ्वी पर हैं, उनकी उपस्थिति यह प्रमाणित करने के लिए काफ़ी है कि एक दिन आयेगा जब अन्धकार प्रकाश में रूपान्तरित हो जायेगा और वस्तुतः पृथ्वी पर तेरा शासन प्रतिष्ठित हो जायेगा...।"

४ अप्रैल—पहली बार (१९१४ में) श्रीअरविन्द के पॉण्डिचेरी आने की जयन्ती मनायी गयी। १९५० में इस दिवस पर श्रीमां ने यह सन्देश दिया था :

"सच्चे बनो, हमेशा सच्चे बनो, अधिकाधिक सच्चे बनो।

सचाई हर एक से यह मांग करती है कि वह अपने विचारों, अपने भावों, अपनी अनुभूतियों और अपने कामों में अपनी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के सिवाय और कुछ न प्रकट करे।"

२४ अप्रैल—दर्शन-दिवस है। माताजी १९२० में हमेशा के लिए पॉण्डिचेरी आ गयी थीं। उनके अपने शब्दों में पॉण्डिचेरी में उनका लौटना "विरोधी शक्तियों पर निश्चित विजय का ठोस चिह्न था।" उस दिन आश्रम में दर्शन का जो 'फोल्डर' बंटा उस पर श्रीमां के चित्र के साथ यह सन्देश था :

"तुम जीवन में जो भी करना चाहो, एक चीज़ एकदम से अनिवार्य और **सभी** चीज़ों के मूल में है, वह है अपनी एकाग्रता को बनाये रखने की शक्ति... ऐसी कोई आध्यात्मिक बाधा **नहीं** है जो एकाग्रता

की भेदक शक्ति के सामने टिक सके। उदाहरण के लिए, चैत्य सत्ता की खोज, आन्तरिक भगवान् के साथ एकात्मता, उच्चतर लोकों की ओर उद्घाटन—एकाग्रता की तीव्र तथा दुराग्रही शक्ति के आगे सभी कुछ पाया जा सकता है।"

डॉ. एम. वी. नडकर्णी के "Invitation to Sri Aurobindo's Savitri" के दो MP3 CD स्प्लेंडर में उपलभ्य हैं। दो CD के इस 'सेट' में नडकर्णी जी के सावित्री-विषयक ३२ भाषण हैं जो उन्होंने पॉण्डिचेरी में दिये थे। ये भाषण श्रोताओं को उस विशाल सत्य की झांकी देने में समर्थ हैं जिसे श्रीअरविन्द धरती पर उतार लाये हैं। दो CD के 'सेट' का दाम २३५/- रु. है। (डाक व्यय अतिरिक्त)। थोक में खरीदने पर छूट दी जायेगी। इच्छुक व्यक्ति कृपया इस पते पर सीधा चिट्ठी-पत्री करें –Splendour, 16 Goubert Avenue, Pondicherry 605001. Tel: 0413 – 2336398.

E-mail : splendour@sriaurobindosociety. org. in

७, ८, और ९ जुलाई २००६ को श्रीअरविन्द सोसायटी बैंगलोर शाखा में १६ से ३५ वर्षीय लड़के-लड़कियों का आवासीय युवा शिविर लगेगा। शिविर निःशुल्क है। इच्छुक व्यक्ति निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें –

Sri M.M. Bhattacharjee, Co-ordinator (youth camps)
Sri Aurobindo Society, Sri Aurobindo Bhawan,
110, Gangadhar Chetty Road, Bangalore 560042
Tel: 080–25559885/25298684

साथ में आपको अपना बायोडेटा, पासपोर्ट के आकार का चित्र तथा अपनी दूरभाष-संख्याएं भेजनी होंगी।

लखनऊ में श्रीअरविन्द के प्रकाश में शिक्षा नामक सम्मेलन का आयोजन ५ फरवरी को हुआ जिसमें करीब १०० व्यक्तियों ने हिस्सा लिया।

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं

श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिए दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिए सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिए निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

पंकज बगड़िया
श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो० - झुंझुनूं – ३३३००१ (राजस्थान)
टेलीफोन – (०१५९२) २३५६१५, २३२८८७
e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com

SRI AUROBINDO COMPLEX TRUST
Sri Aurobindo Marg, J.P.Nagar I Phase,Bangalore — 560 07
Phone: 080 - 26349882; Email: sactmsf@vsnl.net

Golden Jubilee of the Supramental Manifestation — Symposiu
Invitation

Sri Aurobindo Complex Trust, Bangalore proposes to organi a SYMPOSIUM for two days on dates to be announced on th subject of **"Sanatana Dharma and Sri Aurobindo's Vision o Divine Life on Earth"** as a part of the celebrations of the State Karantaka to be held between 28 Feb.2006 and 29 Feb.2008 mark the Golden Jubilee of the Supramental Manifestation up earth. This is an invitation to all students and scholars of S Aurobindo's philosophy and vision, in all countries, contribute a paper in English for this symposium :

1. The Paper should be between 16 and 20 pages of comput printout on A-4 size paper, with '12' as the font size.
2. The Completed paper should be forwarded to the Managi Trustee of the above mentioned Trust **before 31-10-20** along with the postal address, E-mail address if any, th telephone number and a brief bio-data of the writer.
3. The authors of the papers selected, on the basis of the merit, both of content and lucidity of expression, by a expert committee to be constituted by the above Tru will be invited, (the cost of the journey to be borne by S Aurobindo Complex Trust, Bangalore), to present the paper at the said Symposium to be held either at S Aurobindo Society, Pondicherry or at the Sri Aurobind Complex, Bangalore. All these selected papers will b subsequently printed in the form of a special book/Souveni
4. Out of the papers selected, the best and the second be papers will be given a token award of Rs. 10000/- and R 7000/- respectively.
5. For any additional information, please feel free to conta the office of the above Trust.

जून २००८
रु. ७.००

3C
41

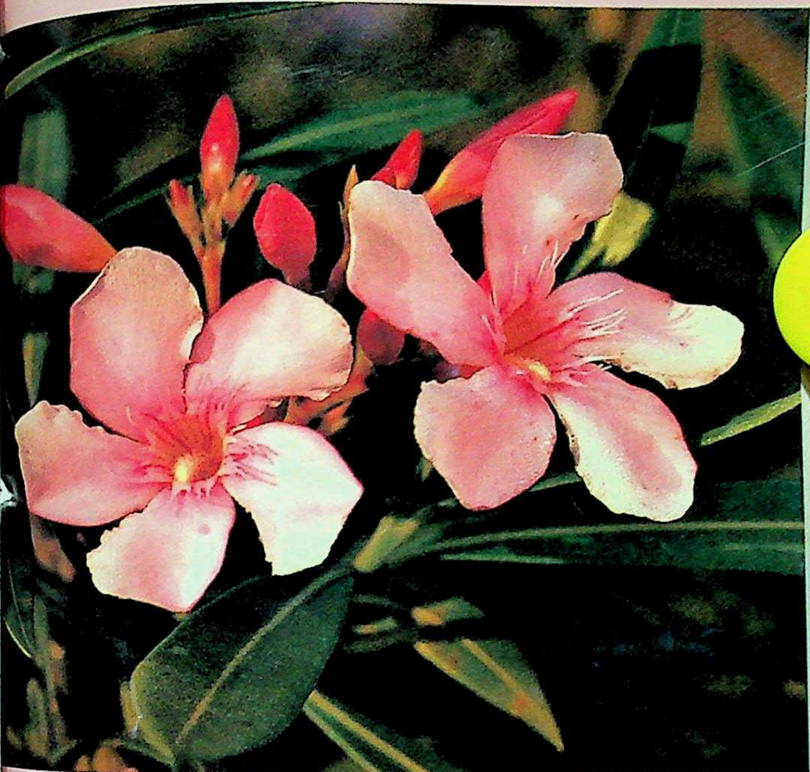

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)
Dpant
5/June/08

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अग्निशिखा जून २००६ वर्ष ३६, अंक ११, पूर्णांक ४३

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां १
'सम्पादकीय' : अपराजेय (१) अनुबेन २
दैनन्दिनी ६
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क : नीरदवरण
माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया ९
जीवन-विज्ञान—एक सरल कार्यक्रम (श्रीमां के वचन)
- सरल बनो १४
- पूरी तरह से सरल कैसे बनें १५
- सरल होना—एक आवश्यकता १७
- सर्वांगीण सरलता १९
- खुश रहो २०
- खुश कैसे रहा जाये २१
- विशुद्ध आनन्द को जानना २२
- मानसिक और प्राणिक अचञ्चलता २६
- कार्य का महत्त्व २९
- अपना कार्य अच्छे से अच्छी तरह करो ३१

संस्मरण उदार ३४
सोसायटी समाचार ३५

मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

विचार का माधुर्य जो पूरी तरह से भगवान् के प्रति मुड़ा हुआ है

(सुन्दर, हर्षयुक्त, मधुर तथा अचञ्चल, सभी विरोधों से सुरक्षित)

हिन्दी—कनेर

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

अपनी बाहरी परिस्थितियों से परे हटने की कोशिश करो, केवल वे ही तुम्हें परेशान करती हैं और अपने अन्दर की उस शान्ति को खोजो जो हमेशा अस्पृश्य रहती है।

१४ नवम्बर १९३७

—श्रीमां

'सम्पादकीय' :

अपराजेय

(१)

जो भी मनुष्य समाज की लीक से बाहर निकलता है उसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता की सचोट अनुभूति होती है। प्रसिद्ध कविता यूं कहती है, "जोदि तोर डाक शूने केओ ना आशे, तोबे एकला चॉलो रे।" (अगर तेरी पुकार सुनकर कोई ना आये तो अकेला चलता चल।) यह काव्य मनुष्य को साहस देता है, अपने चुने हुए मार्ग पर बेहिचक चलने की हिम्मत देता है, लेकिन वह मार्ग फूलों से सजा नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को नियति भविष्य में आने वाले दुःखों के लिए तैयार करती रहती है। आज मैं एक व्यक्ति के जीवन के बारे में सोच रही थी तो अचानक मुझे ऐसा लगा कि सचमुच उन्होंने साधारण मनुष्य-जीवन के सुख-दुःख के अनुभवों को नहीं-सा पाया।

उनके पिता कृष्णधन घोष अंग्रेज़ी संस्कृति के पक्के भक्त थे। वे चाहते थे कि उनके बच्चों को पूर्ण अंग्रेज़ी शिक्षा दी जाये इसलिए घर में अंग्रेज़ी का चलन था, नौकरों के साथ टूटी-फूटी हिन्दी चलती थी। उनका बालक ऑरो जब पांच वर्ष का था तब उसे अपने भाइयों के साथ दार्जिलिंग में अंग्रेज़ बच्चों के लॉरेटो स्कूल में भर्ती कर दिया गया। वहां से सात वर्ष के बालक और उसके बड़े भाइयों विनय भूषण और मनमोहन को उनके माता-पिता इंग्लैण्ड ले गये। छोटे ऑरो को ड्रूएट नामक एक विद्वान् पादरी के परिवार को सौंप कर वे चले गये। जाने से पहले पिता यह कह कर गये कि उनके बालक का किसी भारतीय व्यक्ति से परिचय न होने दें। पादरी-

परिवार के साथ रहते हुए ऑरो ने यूनानी और लातीनी भाषा का अध्ययन किया, कीट्स, शेली और शेक्सपीयर जैसे कवियों को पढ़ा, समझा। एक ओर देखें तो नन्हें बच्चे ने कितनी प्रगति की!! लेकिन सात वर्ष से जो बच्चा परिवार से, अपने देश से बिछुड़ा वह नये लोगों के बीच कितना एकाकी, कितना बेबस होगा! मुझे बालक कृष्ण की याद हो आयी, लेकिन कृष्ण भी माता-पिता से बिछुड़ कर जानता ही न था कि नन्द, यशोदा उसके माता-पिता नहीं थे। वह सारे गोकुल का दुलारा बन गया था।

बालक के पिता डॉक्टर थे, कमाते थे खूब, लेकिन उनका हाथ इतना खुला था कि कभी-कभी औरों की सहायता करते-करते अन्त में उनके पास पैसा ही न बचता। परिणाम? इंग्लैण्ड में पढ़ रहे बच्चों की ज़रूरतों के लिए वे धन भेज ही न पाते। क्या वे चिन्तित होते थे? ना, बिलकुल नहीं, क्योंकि उन्हें अपने बच्चों की क्षमता पर गर्व था। एक बार उन्होंने एक मित्र को लिखा था कि मेरे तीनों पुत्र विलक्षण हैं। वे जीवन में अपना विशिष्ट स्थान बना लेंगे। परिणाम यह हुआ कि उन बच्चों की बढ़ती आयु के समय जब उन्हें धन की, पौष्टिक भोजन की आवश्यकता थी तब उन्हें मितव्यय करना पड़ता था। वह भी कैसे? नाश्ते के लिए केवल सैंडविच और चाय का कप, रात को भी वैसा ही रूखा-सूखा भोजन! कड़ी ठण्ड के दिनों में कमीज़ के ऊपर एक कोट ही रहता। भूखे रह कर भी ऑरो का दिमाग़ जैसे अलग अस्तित्व रखता था। उसने जो परीक्षा दी थी उसे देख कर प्रोफेसर या और कोई व्यक्ति जान न पाते थे कि कैसी कठिन परिस्थिति में वह रहता था। उसकी परीक्षा के पर्चे दिखा रहे थे कि वे लोग एक विरल मेधा, असाधारण भाषा और नये दृष्टिकोण की प्रतिभा के स्वामी का परिचय पा रहे हैं।

एक दिन एक मित्र के घर अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध अध्यापक ऑस्कर

ब्राउनिंग से ऑरो की मुलाकात हो गयी। ब्राउनिंग ने उससे बातचीत के दौरान कहा, "तुमने एक असाधारण उच्च परीक्षा पास की है। मैं तेरह वर्षों से परीक्षा की कापियां जांचता आया हूं, मैंने तुम्हारे जैसे अच्छे पर्चे कभी नहीं देखे... तुम्हारा निबन्ध अद्‌भुत था।" शारीरिक कष्ट झेलते हुए भी इतनी छोटी उमर में उसके अन्दर अपने ऊपर इतना प्रभुत्व था कि उसकी बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् होकर प्रगति करती जा रही थी।

भारत से पिता भले धन भेजने में लापरवाह रहे, किन्तु चिट्ठी लिखते रहते थे। उनका अंग्रेज़-प्रेम थोड़ा-थोड़ा उतरने लगा था। अखबारों में, जन-समूह में सरकार की थोड़ी-थोड़ी आलोचना, निन्दा होने लगी थी क्योंकि अब भारतीय निडर होते जा रहे थे। डॉक्टर साहब सतर्क हो गये, सचेतन हो गये। जब उन्हें अंग्रेज़ों के कारनामों की पूरी पक्की खबर मिलने लगी तो जिस पुत्र को उस समय की सबसे ऊंची डिग्री लेने के लिए भेजा था, उसे अब उन्होंने सरकार के काले कारनामों के कच्चे चिट्ठे छापनेवाले अखबार भेजने शुरू कर दिये। युवक पुत्र पहले ही भारत की पराधीनता से परेशान था, अब इन समाचारों को पढ़ कर तिलमिला उठा। पढ़ाई तो अच्छी चल ही रही थी किन्तु अब उसने इंग्लैण्ड में भारतीय विद्यार्थियों द्वारा भारत की समस्याओं पर विचार करनेवाली मजलिस में जाना शुरू कर दिया। उसकी वाणी ओजस्वी थी, उसके बारे में मजलिस के बाहर भी चर्चा होने लगी। आई. सी. एस. की परीक्षा पास आ गयी। उसने सारे पर्चे बहुत अच्छे लिखे, लेकिन अब वह पास होना ही न चाहता था। अन्तिम परीक्षा रह गयी थी और वह थी घुड़सवारी की। वह उस परीक्षा के लिए जाते-जाते वापस लौट आया। घुड़सवारी में उपस्थित न होने के कारण उस प्रतिभावान् युवक को आई. सी. एस. की परीक्षा में अनुत्तीर्ण कर दिया गया। परिणाम सुनकर उसके

कई प्रोफेसर नाराज़ हुए, उन्होंने सरकार को चिट्ठी लिखी कि युवक के प्रति अन्याय हो रहा है, किन्तु सरकार ने एक न सुनी और युवक लिखित पर्चों में पास होने के बावजूद केवल घुड़सवारी में न जाने के कारण अनुत्तीर्ण घोषित कर दिया गया। शायद युवक स्वयं दुःखी न था क्योंकि वह भारत लौट कर स्वतन्त्र काम करने को उत्सुक था। वह अभी इंग्लैण्ड में ही था कि भाग्य ने उस पर कृपा-दृष्टि डाली। ये तेजस्वी युवक और कोई नहीं श्रीअरविन्द ही थे। वे भारत लौटने की तैयारी कर रहे थे कि उनका परिचय श्रीमान् सयाजीराव गायकवाड़ से हो गया। बड़ौदा राज्य के राजा गायकवाड़ अपने राज्य में प्रतिभावान् व्यक्तियों को ढूंढ़ रहे थे, उन्हें यह तेजस्वी युवक जंच गया और उन्होंने उसे अपने राज्य में काम करने के लिए निमन्त्रण दिया। श्रीअरविन्द १८९३ की फरवरी में इंग्लैण्ड से 'कार्थेज' नामक स्टीमर से भारत के लिए रवाना हो गये। हम कल्पना कर सकते हैं कि इतने वर्षों के बाद एक दूसरे से मिलने के लिए पिता-पुत्र कितने उत्सुक होंगे, कितने व्याकुल होंगे। लेकिन वह शुभ मिलन न हो पाया, क्योंकि डॉक्टर कृष्णधन बेटे से मिलने के लिए जब दिन गिन रहे थे तब उनके सिर पर आकाश गिरा! 'शिपिंग ऑफ़िस' ने, जिसके पास इंग्लैण्ड से आने वाले हर जहाज़ की सूची होती थी, गलती से डॉक्टर कृष्णधन घोष के पास तार भेज दिया कि श्रीअरविन्द रोमानिया नामक जिस स्टीमर से आ रहे थे वह पुर्तगाल के नज़दीक सभी यात्रियों के साथ डूब गया। श्रीअरविन्द सचमुच 'कार्थेज' नामक स्टीमर से आ रहे थे, लेकिन 'शिपिंग ऑफ़िस' की लापरवाही से उनके पास ग़लत खबर पहुंच गयी। इस वज्र-प्रहार से डॉक्टर कृष्णधन टूट गये और 'ऑरो' 'ऑरो' पुकारते हुए उन्होंने देह त्याग दी।

(क्रमशः)

—अनुबेन

दैनन्दिनी

जून

१. अपनी बीमारी से प्रेम न करो और बीमारी तुम्हें छोड़ देगी।

२. श्रद्धा रखो, ऐसा कोई रोग नहीं है जो भागवत कृपा द्वारा ठीक न हो सके।

३. जीवन की कठिनाइयों का शान्ति के साथ सामना करो और उससे भी अधिक शान्ति के साथ साधना की कठिनाइयों का सामना करो, तब तुम अन्तिम सफलता के बारे में निश्चित हो सकते हो।

४. अन्त में श्रद्धा ही रोगमुक्त करती है।

५. चलो भूतकाल को बहुत पीछे छोड़कर हम ज्योतिर्मय भविष्य की ओर दौड़ चलें।

६. सच्ची श्रद्धा परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती। जिनमें श्रद्धा है वे पार हो जायेंगे।

७. हे प्रभो, हमें ऐसी शक्ति दे कि हम मिथ्यात्व का त्याग करके तेरे सत्य में ऊपर उठ सकें, विशुद्ध और तेरी विजय के उपयुक्त पात्र बनकर उठ सकें।

८. हे नाथ, तूने हमसे कहा है : हार कभी न मानो, डटे रहो, जब सब कुछ डूबता हुआ लगता है तभी सब कुछ बचा लिया जाता है।

९. भगवान् एक ऐसे साथी हैं जो कभी साथ नहीं छोड़ते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम आश्वासन और बल प्रदान करता है। श्रद्धा बनाये रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।

१०. सच्ची ज्योति की एक किरण ही अन्त में दसगुने अन्धकार को भी पराजित कर देती है।

११. यह वर्ष तुम्हारे लिए पूर्ण उद्घाटन और सीमाओं को तोड़ने का वर्ष हो।

१२. यह वर्ष तुम्हारे अन्दर सच्ची श्रद्धा लाये, ऐसी श्रद्धा जिसे कोई भी अन्धकार धुंधला न बना सके।

१३. जो भी सचाई के साथ भगवान् को पुकारते हैं उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।

१४. मेरे प्रभो, तू मुझे अपने अन्दर वह शान्त भरोसा प्रदान कर जो समस्त कठिनाइयों पर विजय पाता है।

१५. प्रभो, मेरे ऊपर यह कृपा कर कि मैं तुझे कभी न भूल पाऊं।

१६. प्रभो, मुझे पूर्ण सचाई प्रदान कर, वह सचाई जो मुझे सीधा तेरे पास ले जाये।

१७. सुख को ढूंढ़ना कष्ट को मांगना है क्योंकि ये एक ही चीज के चित और पट हैं।

१८. अगर तुम्हें विश्वास है कि तुमने पूर्ण सचाई पा ली है, तो तुम विश्वास रखो कि तुम मिथ्यात्व में डूबे हुए हो।

१९. हे नाथ, तूने हमारी श्रद्धा की परीक्षा लेने और हमारी सच्चाई को अपनी कसौटी पर कसने का निश्चय किया है। वर दे कि हम इस अग्निपरीक्षा में से अधिक विशाल और अधिक पवित्र होकर निकलें।

२०. जब हम अपनी निराशा में भगवान् को पुकारते हैं तो वे हमेशा हमारी पुकार का उत्तर देते हैं।

२१. मेरे प्रभो, प्रतिदिन सभी परिस्थितियों में मैं हृदय की पूरी सचाई के साथ जियूं, तेरी इच्छा पूरी हो, मेरी नहीं।

२२. हे प्रभो, जो कुछ है और जो कुछ होगा उसकी गहराइयों में तेरी दिव्य, अपरिवर्तनशील मुस्कान है।

२३. हे मेरे प्रभो, तेरी सहायता और कृपा हो तो फिर डर ही क्या है!

२४. लोग जो कहते हैं उस पर कान न दो और भागवत कृपा पर पूरी श्रद्धा बनाये रखो।

२५. प्रभो, अपनी पूरी अन्तरात्मा के साथ मैं वही करना चाहती हूं जो करने का तू आदेश दे।

२६. हे प्रभो, वर दे कि मैं वही बनूं जो तू मुझे बनाना चाहता है।

२७. हे प्रभो, तेरी इच्छा पूर्ण हो। तू ही सर्वश्रेष्ठ पूर्ण सुरक्षा है।

२८. हे मेरे प्रभो, तेरी सुरक्षा सर्वसमर्थ है। वह हर शत्रु को हरा देती है।

२९. तुम जिस चीज़ की खोज करते हो वह हमेशा तुम्हारे लिए तैयार रहती है।

३०. हर एक की अपनी कठिनाइयां होती हैं। और मैं उसे उनमें से निकालने में सहायता देने के लिए तैयार हूं।

थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि तुम जो काम करो, वह चाहे जो काम हो, उसे भगवान् को अर्पित कर दो और तुम्हें जिस सहारे की ज़रूरत है वह उनसे लो। भगवान् की शक्ति कभी समाप्त नहीं होती और उन्हें सचाई के साथ जो कुछ अर्पित किया जाये वे उसका उत्तर देते हैं।

तब, जब तुम अनुभव करोगे कि तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की शक्ति ने काम किया है तो सचाई के साथ तुम यह जान लोगे कि इसका श्रेय उन्हें है, तुम्हें नहीं। अतः घमण्ड करने का कोई कारण नहीं रह जाता।

—श्रीमां

आशीर्वाद।

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया

मैं—क्या मैं जान सकता हूं कि आंखों की पुतलियों को फैला कर जांच करने के लिए एट्रोपिन दवाई का प्रयोग आपको आपत्तिजनक क्यों लगता है?

माताजी—मैं ऐसे लोगों को जानती हूं जिन्हें इस दवाई के प्रयोग के बाद दृष्टि पूरी तरह से पुनः प्राप्त नहीं हुई।

*

मैं—'क' ने हमारा थर्मामीटर तोड़ दिया। वह उसके लिए पैसे देना चाहती है। क्या हम पैसे स्वीकार कर लें?

माताजी—अगर वह बार-बार अपना बुखार देखती रहे तो उसे पैसे देने चाहियें। तब आगे से वह थर्मामीटर का उपयोग सावधानी से करेगी। लेकिन सारे समय अपना बुखार नापना और अपना ध्यान बुखार की ओर लगाये रखना उचित है क्या? उसके नीरोग होने के लिए यह उपाय मुझे सहायक नहीं लगता।

*

मैं—'प' को सूखी खांसी हुई है। फेफड़ों की एक्स-रे द्वारा जांच कर लेना शायद ठीक रहेगा।

माताजी—हां, बशर्ते वह घबरा न जाये।

*

मैं—भोजनालय का एक नौकर काम करते हुए जल गया। क्या आपको यह विचार ठीक लगता है कि भोजनालय में थोड़ा टैनिक एसिड रखा जाये ताकि इस तरह की स्थिति या संकट में उसका उपयोग तुरन्त किया जा सके?

माताजी—हां, लेकिन शीशी पर दवाई का नाम लाल स्याही से स्पष्ट लिखना होगा और यह भी लिखना होगा कि वह केवल शरीर पर लगाने के लिए है। यह सावधानी बरतनी होगी ताकि कोई भूल न कर बैठे।

क्या पिकरिक एसिड ज्यादा अच्छा न होगा?

*

स्थानीय फ़रासीसी अस्पताल के डॉक्टर के पास मैं एक बीमार को इलाज के लिए ले जाना चाहता था। माताजी ने कहा, "अस्पताल में इस समय जो लोग उत्तरदायित्व निभा रहे हैं उन पर मुझे विश्वास नहीं है...।

एक युवक के बारे में माताजी ने मुझे लिखा, 'क' आज मुझसे कह रहा था कि वह हमेशा थका-थका रहता है, बहुत ही थकान अनुभव करता है और अक्सर उसका सिर दुखता है, क्या यह यकृत के कारण है? उसे आराम मिलने के लिए कुछ किया जा सकता है क्या?

मैं—उसकी थकान को आप आसानी से समझ जायेंगी। कैनेडा के जंगलों में पेड़ काटने वाले लकड़हारे की तरह वह काम करता है और भोजन करता है दक्षिण भारत के मज़दूरों की तरह, सचमुच उनसे भी कम। आज वह शिकायत करता हुआ आया कि उसे चक्कर आ रहे हैं, उसका सारा शरीर दुख रहा है। मुझे लगा कि उसे लू लग गयी क्योंकि वह 'बिल्डिंग-विभाग' में बहुत देर तक

धूप में काम करता रहा था। मैंने उसे आराम करने की सलाह दी।

माताजी—उसे एस्प्रीन जैसी कोई दवाई देना अच्छा न होगा क्या?

मैं—वह कहता है कि उसे शाम को भूख नहीं लगती। शायद अति थकान के कारण ऐसा हो सकता है। उसका उपाय क्या है?

माताजी—कई दिनों तक मैं चार बजे उसे कुछ-न-कुछ खाने को दिया करती थी, कोई फल, चॉकलेट या बिस्कुट। कुछ समय बीतने के बाद कोई भी चीज़ लेने से उसने यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि उसके पेट में दर्द होता है। आज जब उसने कहा कि तुमने भी फल लेने के लिए कहा है तो मैंने उसे कुछ दिया।

मैं—अगर वह काफ़ी भोजन ले तो उसका सिर-दर्द चला जायेगा। उसे कुछ फल दिये जा सकते हैं।

माताजी—मैं उसे फल दूंगी। आशा करती हूं कि वह ले लेगा।

उस लड़के ने अपने पिता के साथ घर लौट जाने के लिए मना कर दिया था। पिता अपने लड़के को माताजी के हाथों में सौंप कर चले गये। तब वह लड़का शायद दस या बारह वर्ष का रहा होगा, वह आश्रम का सबसे छोटा सदस्य था। माताजी ने उसे चित्रकारी सिखायी, उसे संगीत और कविता सीखने के लिए प्रोत्साहित किया। नलिनी से कहा कि वे उसे अंग्रेज़ी और फ्रेंच भाषा सिखायें। माताजी उससे हर रोज़ मिलती थीं और उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि मैं उसके स्वास्थ्य पर नज़र रखूं। श्रीअरविन्द उसकी अंग्रेज़ी कविताओं का संशोधन किया करते थे।

तो जब माताजी किसी की ज़िम्मेदारी लेती हैं तो उसकी इसी तरह देखभाल करती हैं, किन्तु वे बहुत सख्त और कठोर भी हो सकती हैं। एक बार उस लड़के ने माताजी को लिखा कि वह उनके दिये हुए काम की जगह कोई और काम करना चाहता है तो उन्होंने फ़्रेंच में उत्तर लिख भेजा।

मेरे नन्हे,

मैंने स्वयं चन्दूलाल से कहा है कि वह तुम्हें सीमेण्ट तौलने का काम दे या पहले तुम जैसे 'वाइब्रेटर' चलाने का काम करते थे वह दे। क्योंकि वह नया काम था इसलिए मैंने सोचा कि इसमें तुम्हें रस होगा। अगर तुम्हें इसमें रस नहीं है और तुम सीमेण्ट तौलना चाहते हो तो तुम कह दो, उसकी भी व्यवस्था हो जायेगी।

'काँक्रीट' करने के एक ही दिन बाद काम छोड़ देने की बात मुझे पूरी तरह अनुचित लगती है। मैं इससे पूरी तरह असहमत हूं और तुम समझ लो कि मैं इसके अलावा और कोई काम तुम्हें नहीं दूंगी।

तुम्हारी मां की ओर से प्यार

*

एक और घटना का वर्णन करना चाहूंगा जिसमें माताजी ने रोगी की ज़िम्मेदारी अपने हाथों में ले ली थी। मार्ग-दर्शन श्रीअरविन्द ने किया था। छः वर्ष के बालक की यह घटना है। वह अपने माता-पिता के साथ आश्रम में रहता था। श्रीअरविन्द ने मुझे लिखा, ऐसा लगता है कि 'द' को दिन में १५ दस्त होते हैं और आज तो उसके साथ रक्त भी निकला। उसकी हालत ज़्यादा खराब हो जाये उससे पहले कुछ करना पड़ेगा।

मैं—मैंने उसके दस्त की परीक्षा की है। पेचिश के लक्षण नहीं थे। मल ठोस और झागदार था, शायद अपच के कारण हो। वह किशमिश, डबल रोटी और सब्ज़ी इत्यादि लेता है। मेरे विचार से खाना उसके लिए कुछ ज़्यादा हो रहा है।

श्रीअरविन्द—अभी हरी सब्ज़ी और किशमिश बन्द किये जा सकते हैं; किशमिश पेट में गड़बड़ पैदा कर सकती है। माताजी

सुझाव देती हैं कि कार्बन की गोलियां दी जायें। इससे दो काम होंगे, अतिसार नहीं होगा और खाने को हज़म करने के लिए समय मिल जायेगा।

मैं—जी हां, मैंने वह दवाई दी थी। अब दस्त कुछ कम हो गये हैं। नारंगी को छोड़ कर और सब फल बन्द कर देने चाहियें।

श्रीअरविन्द—हां, अगर उससे कब्ज़ न हो जाये। कोई दवाई नहीं दी जाये।

मैं—आज केवल दो दस्त हुए। उसे भूख लग रही है। वह मीठे बिस्कुट मांग रहा है।

एक सप्ताह के बाद बीमारी फिर उभर आयी, वह कुछ-कुछ कोलाइटिस के जैसी स्थिति लग रही थी। मैंने डॉक्टरों से सलाह ली। उन्होंने कहा कि स्टोवरसोल और आंतों के लिए फ्लोरा दिया जाये।

श्रीअरविन्द—नहीं, स्टोवरसोल भी नहीं और फ्लोरा भी नहीं।

अन्त में आंतों को साफ करने के लिए एक फ्रेंच तरकारी की जड़ को पानी में उबाल कर उसे दिया गया और दो-तीन बार देने से लड़का स्वस्थ हो गया। स्वयं माताजी ने ही दवाई तैयार करने की विधि और उसका नाम इत्यादि सब कुछ ब्योरे में बतलाया था।

—नीरदवरण

> *अपने शरीर में अधिक महान् निश्चल-नीरवता तथा अचञ्चलता प्रतिष्ठित करो, यह तुम्हें बीमारी के प्रहारों का प्रतिरोध करने की शक्ति प्रदान करेगी।*
>
> २२.१०.१९३५ *—श्रीमां*

जीवन विज्ञान—एक सरल कार्यक्रम

(श्रीमां के वचन)

सरल बनो

सरल बनो,
खुश रहो,
शान्त रहो,
अपना काम जितना अच्छा कर सको करो,
अपने-आपको हमेशा मेरी ओर खुला रखो—
तुमसे बस इसी की मांग की जाती है।

*

आध्यात्मिकता परम सरलता है।

*

सभी चीज़ों का सामञ्जस्य प्रकट करने के लिए सरलता ही सर्वोत्तम साधन है।

*

जैसे ही किसी अभिव्यक्ति से समस्त प्रयास लुप्त हो जाता है, सारी चीज़ बहुत सरल हो जाती है, खिलते हुए फूल की तरह सरल जो बिना शोर मचाये, बिना प्रचण्ड इंगितों के अपनी सुन्दरता को प्रकट करता और सुगन्ध को फैलाता है। और इस सरलता में बड़ी-से-बड़ी शक्ति होती है, ऐसी शक्ति जो कम-से-कम मिश्रित होती है और कम-से-कम हानिकर प्रतिक्रियाओं को जगाती है। प्राण की शक्ति पर अविश्वास करना चाहिये, यह कार्य-पथ पर प्रलोभन देनेवाली

होती है और इसमें हमेशा पिंजरे में जा गिरने का भय होता है क्योंकि इससे तुम्हें तुरन्त मिलने वाले फल का चस्का लग जाता है और काम अच्छी तरह करने की अपनी पहली आतुरता में हम अपने-आपको इस शक्ति का उपयोग करने के लिए बह जाने देते हैं। परन्तु शीघ्र ही वह हमारे समस्त कर्म को उचित मार्ग से भटका देती और हम जो कुछ करते हैं उसमें भ्रम, भ्रान्ति और मृत्यु का बीज बो देती है।

सरलता, सरलता! तेरी उपस्थिति की शुद्धि कितनी मधुर है!...

पूरी तरह से सरल कैसे बनें

जो कुछ मैंने लिखा है और जिसकी व्याख्या करने के लिए मुझसे कहा गया है उसे मैं तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूं। ये सूत्र हैं और सम्भवतः व्याख्या की मांग करते हैं।...

> *"दिव्य होने के लिए मनुष्य को सहज-स्फूर्त या स्वतःचालित होना चाहिये।"*

तब प्रश्न उठता है : सहज-स्फूर्त कैसे हुआ जाये?

> *"सहज-स्फूर्त होने के लिए मनुष्य को पूर्णतः सरल होना चाहिये।"*

और पूर्णतः सरल कैसे हुआ जाये?

> *"पूर्णतः सरल होने के लिए मनुष्य को सम्पूर्ण रूप में सच्चा होना चाहिये।"*

और अब, सम्पूर्ण रूप से सच्चा होने का तात्पर्य क्या है?

"सम्पूर्ण रूप में सच्चा होने का तात्पर्य है हमारी सत्ता में कोई विभाजन, कोई विरोध न हो।"

यदि तुम ऐसे टुकड़ों से बने हो जो केवल एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, बल्कि बहुधा एक-दूसरे के विरोधी हैं, तो ये टुकड़े तुम्हारी सत्ता में अवश्यमेव एक विभाजन उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हारे अन्दर एक भाग ऐसा है जो दिव्य जीवन के लिए, भगवान् को जानने, उनके साथ युक्त होने, पूर्णतः उन्हें जीवन में उतारने के लिए अभीप्सा करता है, और फिर तुम्हारा एक दूसरा भाग है जिसमें आसक्तियां, कामनाएं—जिन्हें वह "आवश्यकताएं" कहता है—हैं और जो न केवल इन चीज़ों को पाने की चेष्टा करता है बल्कि जब ये चीज़ें उसे नहीं मिलतीं तो एकदम विक्षुब्ध हो उठता है। दूसरे प्रकार के विरोध भी हैं, पर यह विरोध अत्यन्त स्पष्ट है। दूसरे हैं, जैसे, मनुष्य भगवान् के प्रति पूरी तरह समर्पण करना, उनकी इच्छा और उनके पथ-प्रदर्शन के प्रति पूर्ण रूप में अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है, और उसके साथ-ही-साथ, जब अनुभव आते हैं—यह इस पथ पर होनेवाला एक आम अनुभव है जब मनुष्य सच्चे रूप में अपने-आपको भगवान् के प्रति अर्पित करने का प्रयत्न करता है —ऐसा लगता है कि हम कुछ नहीं हैं, हम कुछ नहीं कर सकते, यहांतक कि भगवान् के बाहर हमारा कोई अस्तित्व नहीं है; अर्थात्, यदि वे न होते तो हमारा अस्तित्व ही न होता और हम कुछ नहीं कर पाते, हम बिलकुल कुछ न हो पाते...। यह अनुभव स्वाभाविक रूप में एक सहायता के रूप में पूर्ण आत्म-दान के पथ पर आता है, परन्तु हमारी सत्ता का एक भाग ऐसा है जो, जब यह अनुभव आता है, तो भयानक रूप से विद्रोह कर बैठता है और कहता है: "परन्तु क्षमा कीजिये! मैं बने रहने का आग्रह करता हूं, मैं कुछ

होने का आग्रह करता हूं, मैं चीज़ें स्वयं करना चाहता हूं, मैं एक व्यक्तित्व बनाये रखना चाहता हूं।" और स्वभावतः जो कुछ पहले ने किया था उस सबको दूसरा नष्ट कर देता है।

ये सब असाधारण बातें नहीं हैं, ऐसा बहुत बार होता है। सत्ता के ऐसे विरोधों के अनगिनत उदाहरण मैं तुम्हें दे सकती हूं : जब एक भाग एक पग आगे बढ़ाने की कोशिश करता है तो दूसरा आता है और सब कुछ तहस-नहस कर देता है। अतएव मनुष्य को सारे समय फिर से आरम्भ करना पड़ता है, और प्रत्येक बार सब कुछ तहस-नहस हो जाता है। यही कारण है कि मनुष्य को सच्चाई के इस कार्य को अवश्य करना चाहिये और जब मनुष्य अपनी सत्ता में किसी ऐसे भाग को देखे जो दूसरी ओर खींचता है तो सावधानी के साथ उस भाग को पकड़ लेना चाहिये, उसे उसी तरह शिक्षा देनी चाहिये जैसे किसी बच्चे को सिखाया जाता है और उसे केन्द्रीय भाग के साथ सामञ्जस्य में लाना चाहिये। यही है सच्चाई का कार्य और यह अपरिहार्य है।

और स्वभावतः, जब सत्ता का सभी इच्छाओं के बीच एकता, मेल-मिलाप, सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है तो तुम्हारी सत्ता सरल, निश्छल और अपनी क्रिया और प्रवृत्तियों में एक जैसी हो सकती है। जब समस्त सत्ता केवल एक ही केन्द्रीय भाव के इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाती है तभी मनुष्य सहज-स्फूर्त हो सकता है।

सरल होना—एक आवश्यकता

सृष्टि का एक विशेष पक्ष है—जो शायद बहुत आधुनिक पक्ष है—वह है अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता से बाहर निकल आने की आवश्यकता। अस्तव्यस्तता असामञ्जस्य से उत्पन्न होती है। यह

अस्तव्यस्तता, यह अव्यवस्था सब प्रकार के रूप ग्रहण करती है, यह संघर्ष में, निरर्थक प्रयास में, अपव्यय में परिवर्तित हो जाता है।...

... अस्तव्यस्तता विशुद्ध और दिव्य सरलता की आवश्यकता को उद्दीप्त करने का एक तरीका है। ... और शरीर को इस प्रकार के एकत्रीकरण या संयम के लिए—अपने-आपको रूपान्तरित करने योग्य बनाने के लिए—बस एक ही चीज़ की आवश्यकता है, अपने-आपको सरल बनाने की, सरल बनाने की, सरल बनाने की।...

प्रकृति में, अथवा यों कहें कि, स्वयं प्रकृति आत्माभिव्यक्ति के अपने प्रयास में एक अविश्वसनीय, लगभग अनन्त-असीम जटिलता का आश्रय लेने के लिए बाध्य हुई ताकि वह मूल 'सरलता' को पुनः प्रकट कर सके। ...जटिलता की अधिकता में से ही ऐसी सरलता की सम्भावना आती है जो खाली नहीं बल्कि भरी होगी। एक ऐसी सरलता होगी जिसमें सब कुछ होगा; जब कि इन जटिलताओं के बिना सरलता एक खोखली चीज़ होगी। ... और इन सबका लक्ष्य है, इन सबका प्रयास है एकत्व को अभिव्यक्त करना, एकमात्र सरलता को—भागवत स्थिति को प्रकट करना।

सम्भवतः यह शीघ्रता से होगा...। परन्तु प्रश्न घटकर यह रूप ले लेता है—उस सद्वस्तु को आकर्षित करने की एक पर्याप्त, पर्याप्त—तीव्र और फलदायी—अभीप्सा जो रूपान्तर कर सकती है, जटिलता को 'सरलता' में, क्रूरता को 'प्रेम' में रूपान्तरित कर सकती है, इसी तरह और भी...।

यह शिकायत करने और कहने से कोई लाभ नहीं कि यह कितनी दयनीय स्थिति है। क्योंकि यह ऐसी ही है। यह ऐसी क्यों है?... सम्भवतः, यह जब ऐसी न रहेगी तब हम जानेंगे। यही बात दूसरे ढंग से कही जा सकती है, यदि हम जान जायें तो फिर यह

ऐसी न रहेगी। ... जो कुछ आवश्यक है उसे करने की शीघ्रता करनी चाहिये ताकि यह ऐसी न रहे; बस, यही है एकमात्र व्यावहारिक चीज़।

सर्वांगीण सरलता

सर्वांगीण सरलता : सरलता जो पूर्ण सचाई का परिणाम है।

*

... आश्रम, क्रियाशील और सक्रिय शान्ति का घनीकरण है; यहांतक कि जो लोग बाहर से आते हैं वे ऐसा अनुभव करते हैं मानों वे एक और ही जगत् में आ गये, एक ऐसे जगत् में जहां भीतरी जीवन बाहरी जीवन पर शासन करता है, एक ऐसा जगत् जहां चीज़ें पूरी की जाती हैं, जहां काम निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि एक आदर्श को चरितार्थ करने के लिए निःस्वार्थ भाव से किया जाता है। यहां हम जो जीवन जीते हैं वह संन्यासी के त्यागमय जीवन से उतना ही दूर है जितना शक्तिह्रासक आराम से। यहां का नियम है सादगी लेकिन ऐसी सादगी जो विभिन्नता से भरी हुई है—व्यवसायों की, कार्यों की, रुचियों की, प्रवृत्तियों की, स्वभावों की विभिन्नता से। हर एक अपने जीवन को अपनी मरज़ी के मुताबिक व्यवस्थित करने के लिए स्वतन्त्र है। अनुशासन इतना कम-से-कम कर दिया गया है जितना... लोगों के रहने के लिए और ऐसी गतिविधियों को रोकने के लिए अनिवार्य है जो हमारे योग के उद्देश्य की उपलब्धि में हानिकर हों।

*

मधुर मां,

ऐसे समय होते हैं जब मेरी इच्छा होती है कि अपने सभी क्रिया-कलाप, क्रीड़ांगण, बैंड, अध्ययन इत्यादि छोड़ दूं और अपना सारा समय काम में लगाऊं।

बाहरी प्रकृति की प्रायः यह तामसिक प्रवृत्ति होती है कि जीवन की परिस्थितियों को सरल बना ले ताकि अधिक पेचीदा स्थितियों को व्यवस्थित करने के प्रयास से बचा जा सके। लेकिन जब तुम सत्ता की समग्रता में प्रगति करना चाहो तो यह सरलीकरण उचित नहीं होता।

खुश रहो

स्वयं को नूतन प्रकाश के प्रति खोलो और पथ पर आह्लादक पग धरते हुए आगे बढ़ो।

*

अन्तरात्मा का अपना निज स्वभाव है स्थिर, अपरिवर्तनशील, निरपेक्ष और परमाह्लादकारी दिव्य आनन्द...।

*

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

*

और सबसे बढ़कर आवश्यक गुण है लगन, सहिष्णुता, और... उसे क्या नाम दें? एक प्रकार का आन्तरिक प्रसन्न भाव जो तुम्हें

निरुत्साहित न होने में, उदास न होने में और मुस्कुराहट के साथ सभी कठिनाइयों का सामना करने में सहायता देता है। अंग्रेज़ी में एक शब्द है जो इस भाव को अच्छी तरह व्यक्त करता है और वह है 'चियरफुलनेस' (cheerfulness)—प्रसन्नचित्तता। यदि तुम इसे अपने अन्दर बनाये रखो तो तुम उन सब बुरे प्रभावों के साथ, जो तुम्हें प्रगति करने से रोकने का प्रयास करते हैं, प्रकाश के अन्दर, बहुत अच्छे ढंग से लड़ सकते, उनका अधिक अच्छी तरह विरोध कर सकते हो।

*

कभी मत बुड़बुड़ाओ। जब तुम बुड़बुड़ाते हो तो तुम्हारे अन्दर सब तरह की शक्तियां घुस जाती हैं और तुम्हें नीचे खींच लेती हैं। मुस्कुराते रहो। मैं हमेशा मज़ाक करती हुई दीखती हूं पर यह केवल मज़ाक नहीं है। यह चैत्य से उत्पन्न विश्वास है। मुस्कान इस श्रद्धा को प्रकट करती है कि कोई भी चीज़ भगवान् के विरुद्ध खड़ी नहीं रह सकती और अन्त में हर चीज़ ठीक होगी।

खुश कैसे रहा जाये

'स्थायी' और 'सच्चा' सुख पाने का एकमात्र उपाय है 'भागवत कृपा' पर पूर्ण और ऐकान्तिक निर्भरता।

*

सुखी और शान्त होने का सबसे अच्छा उपाय है, भगवान् के प्रति गहराई में, तीव्रता के साथ सतत कृतज्ञता का अनुभव करना।

*

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

जहां-तक बन पड़े अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छा-पूर्वक आशावादी बनो।

*

हमेशा अच्छा बने रहो तो तुम हमेशा खुश रहोगे।

*

वस्तुतः शुद्ध और अनासक्त प्रेम की तरह और कोई चीज़ इतना अधिक सुख नहीं लाती।

*

सच्चा सुख भागवत स्रोत से आता है, वह शुद्ध, **बिना शर्त** होता है। साधारण सुख का मूल प्राण है, वह अशुद्ध होता है, परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

*

ऐसा कोई हर्ष नहीं जिसकी तुलना अपने हृदय में शाश्वत की 'उपस्थिति' की अनुभूति से की जा सकती है।

विशुद्ध आनन्द को जानना

मनुष्य विशुद्ध आनन्द को कैसे जान सकता है?

सबसे पहले, शुरू करने के लिए व्यक्ति को ध्यानपूर्वक निरीक्षण द्वारा यह जान लेना होगा कि कामना एवं कामनाओं की तृप्ति एक ऐसा हल्का और अनिश्चित सुख प्रदान करते हैं जो मिश्रित, क्षणजीवी

और एकदम असन्तोषदायक होता है। सामान्यतया यही पहला क़दम होता है।

उसके बाद, यदि व्यक्ति समझदार हो तो उसे कामना को पहचानना सीखना होगा और ऐसे किसी भी काम से बचना होगा जो उसकी कामनाओं को सन्तुष्ट करे। मनुष्य को उन्हें सन्तुष्ट करने का यत्न किये बिना दूर धकेल देना चाहिये। और फिर इसका पहला नतीजा, ठीक उन्हीं प्रारम्भिक परिणामों में से एक होगा जिसे बुद्ध ने अपने उपदेशों में यों स्पष्ट किया है : कामना को तृप्त करने की अपेक्षा उसे जीतने और उसका परित्याग करने में अपार रूप से अधिक महान् आनन्द है। प्रत्येक सत्यनिष्ठ और दृढ़-निश्चयी साधक को कुछ समय बाद, देर या सवेर, कभी-कभी बहुत ही जल्दी यह साक्षात्कार होगा कि यह एक परम सत्य है, और कामना पर विजय प्राप्त करने से अनुभव होने वाला आनन्द कामना की तृप्ति से प्राप्त हो सकने वाले क्षणजीवी और मिश्रित सुख से इतना अधिक ऊंचा होता है कि उससे इसकी तुलना नहीं हो सकती। यह हुआ दूसरा क़दम।

साधना को निरन्तर जारी रखने से, स्वभावतः ही, बहुत थोड़े समय में कामनाएं बहुत पीछे रह जायेंगी और फिर वे तुम्हें तंग नहीं करेंगी। इस प्रकार तुम अपनी सत्ता के अन्दर थोड़ी अधिक गहराई में प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र हो जाओगे और अपने को... आनन्ददाता के, दिव्यतत्त्व के, भागवत कृपा के प्रति अभीप्सा करते हुए उद्घाटित कर लोगे। और यदि ऐसा सच्चे आत्म-समर्पण के साथ किया जाये—ऐसे भाव के साथ जो अपने को अर्पित करता है, प्रदान करता है, और अपने उत्सर्ग के प्रतिदान के रूप में किसी चीज़ की आशा नहीं करता—तो व्यक्ति एक ऐसी मधुर, सुखद, अन्तरंग, ज्वलन्त, स्नेहभरी ऊष्मा का अनुभव करेगा जो हृदय को परिपूर्ण कर देती है और दिव्य आनन्द की अग्रदूत होती है।

इसके बाद मार्ग सरल होता है...

... एक ऐसा समय भी आता है जब व्यक्ति तैयार होने लगता है, जब प्रत्येक चीज़ में, हरेक पदार्थ में, एक-एक क्रिया में, एक-एक स्पन्दन में, अपने चारों ओर की सभी चीज़ों में—केवल लोगों और सचेतन सत्ताओं में ही नहीं बल्कि वस्तुओं एवं पदार्थों में, केवल पेड़-पौधों और जीवित वस्तुओं में ही नहीं बल्कि उपयोग में आने वाली किसी भी चीज़ में, अपने चारों ओर घिरी वस्तुओं में-इस आनन्द को, सत्ता के इस आनन्द को, केवल वही होने के आनन्द को जो व्यक्ति है, केवल होने के आनन्द को अनुभव करता है। पर मैं कहती हूं कि स्वभावतः ही, ... जबतक व्यक्ति में कामना, पसन्दगी, आसक्ति या अनुरक्ति एवं विरक्ति और यह सब होता है तबतक वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता—बिलकुल नहीं कर सकता।

और जबतक मनुष्य को किसी चीज़ में सुख—सुख, हां, किसी चीज़ में प्राणिक और भौतिक सुख—मिलता है, तो वह इस आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि यह आनन्द सर्वत्र विद्यमान है। यह आनन्द एक बहुत सूक्ष्म वस्तु है। वस्तुओं में विचरण करते समय तुम्हें ऐसा लगता है मानों वे अपने आनन्द को तुम्हारे सामने गा कर व्यक्त कर रहे हों। ऐसा भी समय आता है जब तुम अपने चारों ओर के जीवन में इसके आदी हो जाते हो।...

और जब यह अवस्था आती है तो यह शरीर के सब कोषाणुओं में व्याप्त हो जाती है। यह कोई ऐसी चीज़ नहीं होती जिसके सम्बन्ध में सोचा-विचारा जाये—मनुष्य उस अवस्था में तर्क नहीं करता, विश्लेषण नहीं करता, ऐसा कुछ भी नहीं होता : यह ऐसी **स्थिति** है जिसमें मनुष्य केवल निवास करता है। और जब शरीर इसमें हिस्सा लेता है तो यह इतना ताज़ा, इतना ताज़ा, इतना सहज, इतना... कि

उसके बाद मनुष्य अपनी ओर नहीं लौटता, उसमें आत्म-निरीक्षण का, आत्म-विश्लेषण का या वस्तुओं के विश्लेषण का कोई भाव नहीं रहता। यह सब मानों एक उल्लासभरे स्पन्दनों का गीत बन जाता है परन्तु बहुत, बहुत ही शान्त, तीव्रता से रहित, आवेग से रहित होता है, उसमें यह सब कुछ नहीं होता। यह बड़ा सूक्ष्म और साथ ही बहुत सघन होता है, और इसके आने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विश्व ही एक अद्‌भुत स्वरसंगति है। वह वस्तु भी जो सामान्य मानव चेतना को भद्दी और अप्रीतिकर लगती है अब अद्‌भुत लगती है।... तो सब कुछ बदल जाता है। जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं : सब कुछ बदल जाता है। अद्‌भुत सामञ्जस्य होता है! सब कुछ दिव्य आनन्द, सच्चा 'आनन्द', विशुद्ध 'आनन्द' बन जाता है।

यह बात थोड़ी मेहनत की मांग करती है।

और इस साधना का, जिसके सम्बन्ध में मैंने कहा था और जो हमें करनी है, यदि आनन्द-प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर इसका अभ्यास किया जाये तो फल देर से प्राप्त होता है, क्योंकि बीच में एक अहंतापूर्ण तत्त्व घुस आता है, वह एक उद्देश्य को लेकर किया जाता है और समर्पण नहीं रह जाता, यह एक मांग बन जाता है और उसके बाद... इसका फल मिलता है और मिलेगा ही, चाहे इसमें अधिक देर क्यों न लगे—व्यक्ति जब किसी चीज़ की मांग नहीं करता, किसी चीज़ की अपेक्षा नहीं करता, आशा नहीं करता और जब उसके साथ एक हो जाता है, अर्थात् आत्म-समर्पण करता है, उसमें आत्म-समर्पण का, अभीप्सा का भाव होता है और सौदेबाज़ी की भावना के बिना केवल सहज आवश्यकता—दिव्य बनने की इच्छा—होती है, बस, तब फल प्राप्त होता है।

*

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U A)

मात्र इस तथ्य से कि तुम अपने विषय में न सोचकर, केवल अपने लिए न जी कर, केवल अपने लिए कुछ न कर के, जो अधिक-से-अधिक सुन्दर है, ज्योतिर्मय है, आनन्दमय है, शक्तिमान् है, करुणामय है, असीम है, उसके विषय में सोचते हो, इतना गभीर आनन्द देता है कि उसकी तुलना और किसी भी चीज़ से नहीं की जा सकती।

मानसिक और प्राणिक अचञ्चलता

"हमें शान्त-स्थिर होना होगा।"

यह स्पष्ट है कि जब मैं किसी से कहती हूं : "शान्त-स्थिर रहो", तो मेरा अभिप्राय व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार बहुत-सी अलग-अलग बातों से होता है। परन्तु सबसे पहली प्रशान्तता है मन की अचञ्चलता, क्योंकि सामान्यतया यही वह चीज़ है जिसका अत्यन्त अभाव होता है। जब मैं किसी से कहती हूं कि "शान्त-स्थिर रहो", तो मेरा अभिप्राय होता है : विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशान्त विचार रखने की कोशिश न करो; अपने मन को निश्चल बनाये रखने तथा अपनी समस्त कल्पनाओं, पर्यवेक्षणों तथा मानसिक रचनाओं को एक वृत्त में चक्कर काटते रहने से रोकने का प्रयास करो।

यहां बिलकुल न्यायतः एक प्रश्न जोड़ा जा सकता है : आप हमसे कहती हैं : "शान्त-स्थिर रहो", पर शान्त-स्थिर रहने के लिए हमें क्या करना चाहिये?... उत्तर सर्वदा वही होता है : हमें सबसे पहले इसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये और इसकी इच्छा करनी चाहिये, और फिर अभीप्सा करनी चाहिये, और फिर कोशिश करनी चाहिये! कोशिश करने के लिए, अनगिनत उपाय हैं जिन्हें

बहुत-से लोगों ने निर्धारित किया तथा आज़माया है। ये उपाय साधारण तौर पर दीर्घ, श्रमसाध्य और कठिन होते हैं; और बहुतेरे लोग अन्त तक पहुंचने से पहले ही निरुत्साहित हो जाते हैं, कारण, जितना ही अधिक वे प्रयास करते हैं उतना ही अधिक उनके विचार उनके मस्तक में चक्कर काटना तथा विक्षुब्ध होना आरम्भ कर देते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपाय अलग-अलग है, पर **पहले** मनुष्य को उसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये, क्योंकि कारण चाहे जो भी हो—चाहे इस कारण कि मनुष्य ऊब गया हो अथवा इस कारण कि वह अतिक्लान्त हो, अथवा इस कारण कि वह जिस स्थिति में रहता है उससे वास्तव में ऊपर उठना चाहता है—मनुष्य को सर्वप्रथम इस निश्चलता की, मन की इस शान्ति की आवश्यकता को समझना और महसूस करना होगा। और फिर उसके बाद, वह क्रमशः सभी प्रकार के उपायों से, विदित और नवीन उपायों से, परिणाम की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर सकता है।

अब हम तुरन्त देखते हैं कि एक दूसरी अचञ्चलता भी है जो आवश्यक है, यहां तक कि अत्यावश्यक है, वह है प्राणिक स्थिरता, अर्थात्, कामनाओं का अभाव। केवल प्राण जब पर्याप्त रूप में विकसित नहीं होता, तो जैसे ही उससे शान्त-स्थिर बने रहने के लिए कहा जाता है, वह या तो सोने चला जाता है या हड़ताल कर बैठता है; वह कहता है : "आह! नहीं, मैं अब काम नहीं कर सकता! मुझे जिस पोषण की ज़रूरत है, उत्तेजना, उत्साह, कामना, यहांतक कि आवेग आदि, यदि तुम नहीं देते तो मैं हिलना-डुलना भी पसन्द नहीं करता और अब मैं कुछ भी नहीं करूंगा।" अतएव यहां पर समस्या ज़रा ज़्यादा नाज़ुक बन जाती है और सम्भवतः और भी अधिक कठिन; क्योंकि निस्सन्देह, उत्तेजना से तमस् में गिर पड़ना किसी प्रकार की प्रगति करने से बहुत दूर है! मनुष्य को तमस् या

निद्राजन्य निष्क्रियता को कभी स्थिरता समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

स्थिरता एक बहुत भावात्मक स्थिति है; उसमें एक प्रत्यक्ष शान्ति है जो संघर्ष का विपरीत तत्त्व नहीं है—वह एक सक्रिय, संक्रामक, बलशाली शान्ति है जो वश में करती और शान्त बनाती है, जो प्रत्येक वस्तु को यथाक्रम रखती है, सुव्यवस्थित करती है। मैं इसी की चर्चा कर रही हूं; जब मैं किसी से कहती हूं कि "शान्त-स्थिर बनो", मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि "जाओ और सो जाओ, जड़ और निष्क्रिय बन जाओ, और कोई कार्य मत करो," इससे बहुत दूर...। सच्ची स्थिरता एक बहुत बड़ी शक्ति है, एक बहुत बड़ा बल है। वास्तव में, दूसरी ओर से इस समस्या को देखते हुए, हम कह सकते हैं कि जो लोग सचमुच सशक्त, बलशाली होते हैं वे सर्वदा ही बहुत शान्त-स्थिर रहते हैं। केवल दुर्बल ही उत्तेजित रहते हैं...।

*

सभी में भगवान् के परम चिन्तन से आनेवाली अपरिवर्तनशील शान्ति और भगवान् की कभी न बदलनेवाली शान्त अनन्तता की अन्तर्दृष्टि की कमी है।

*

तुम्हें बाहरी परिस्थितियों में अचञ्चलता की खोज न करनी चाहिये, वह तुम्हारे अपने अन्दर है। सत्ता की गहराइयों के अन्दर एक ऐसी शान्ति है जो समस्त सत्ता में, शरीर तक में अचञ्चलता लाती है—अगर तुम उसे लाने दो।

तुम्हें उस शान्ति की खोज करनी चाहिये और तब तुम्हें वह

अचञ्चलता मिल जायेगी जिसकी तुम्हें चाह है।

*

हमारी सत्ता की गहराइयों में, चिन्तन की नीरवता में एक ज्योतिर्मयी शक्ति हमारी चेतना में एक विशाल और ज्योतिर्मयी शान्ति की बाढ़ ले आती है जो सभी तुच्छ प्रतिक्रियाओं पर अभिभूत होती है और हमें भगवान् के साथ ऐक्य के लिए तैयार करती है...।

*

अचञ्चलता, अचञ्चलता, स्थिर और एकाग्र बल, इतना अचञ्चल कि कोई चीज़ उसे हिला न सके—यह पूर्ण सिद्धि के लिए अनिवार्य आधार है।

कार्य का महत्त्व

अगर तुम कुछ न करो, तो तुम्हें कोई भी अनुभव नहीं हो सकता। सारा जीवन अनुभव का क्षेत्र है। तुम्हारी हर एक गति, तुम्हारा हर एक विचार, तुम्हारा हर काम एक अनुभूति हो सकता है, और उसे अनुभूति **होना ही चाहिये**; और स्वभावतः काम विशेष रूप से अनुभूति का क्षेत्र है जहां तुम आन्तरिक प्रयास से की गयी सारी प्रगति को प्रयोग में ला सकते हो।

अगर तुम काम किये बिना ध्यान और निदिध्यासन में लगे रहो तो तुम यह नहीं जान पाते कि तुमने प्रगति की है या नहीं। तुम एक भ्रम में, अपनी प्रगति के भ्रम में रह सकते हो; जब कि अगर तुम अपने-आपको काम में लगाओ, तो तुम्हारे काम की सभी परिस्थितियां, औरों के साथ सम्पर्क, भौतिक व्यस्तता, यह सारा अनुभूति का क्षेत्र

है ताकि तुम्हें केवल अपनी प्रगति का ही भान न हो बल्कि तुम्हें यह भी मालूम हो कि अभी कितनी सारी प्रगति करनी बाकी है। अगर तुम अपने-आप में ही बन्द रहो, कोई काम न करो, तो तुम पूरी तरह आत्म-निष्ठ भ्रान्ति में रह सकते हो; जिस क्षण तुम अपने कार्य को बहिर्मुख करो और दूसरों के साथ, परिस्थितियों और जीवन की चीज़ों के सम्पर्क में आओ, तो बिलकुल तटस्थ भाव से तुम्हें पता लगता है कि तुमने प्रगति की है या नहीं, क्या तुम अधिक शान्त, अधिक सचेतन, अधिक प्रबल, अधिक निस्स्वार्थ हो या नहीं, क्या तुम्हारे अन्दर अब कोई कामना, कोई पसन्द, कोई कमज़ोरी, कोई बेईमानी है या नहीं—तुम काम करके इन सबका भान पा सकते हो।

*

... दैनिक क्रिया-कलाप वह निहाई है जिस पर सभी तत्त्वों को शुद्ध और परिष्कृत होने के लिए बार-बार गुज़रना होता है, निदिध्यासन से मिलने वाले आलोक के लिए उन्हें नमनीय और परिपक्व बनाना होता है। इससे पहले कि बाह्य क्रिया-कलाप पूर्ण विकास के लिए अनावश्यक बने, इन सब तत्त्वों को एक के बाद एक करके कुठाली में से गुज़रना होगा। तब यह क्रियाशीलता तुझे अभिव्यक्त करने के साधन में बदल जायेगी ताकि चेतना के अन्य केन्द्रों को भट्ठी और प्रदीप्ति के समान दोहरे कार्य के लिए जगाया जा सके। इसीलिए घमण्ड और आत्मसन्तोष सबसे बुरी बाधाएं हैं। हमें बड़े विनीत भाव से अगणित तत्त्वों में से कुछ को गूंधने और शुद्ध बनाने के छोटे-से-छोटे अवसर का लाभ उठाना चाहिये ताकि उनमें से कुछ को हम सुनम्य और निर्वैयक्तिक बना सकें, उन्हें अपने-आपको भूलना, आत्म-त्याग, भक्ति, कोमलता और सौम्यता

सिखा सकें। ... वे सत्ता के दिग्विन्यास को बदल देते हैं, वे उसे निश्चित रूप से सीधे रास्ते पर ले आते हैं परन्तु सचमुच लक्ष्य पाने के लिए कोई भी व्यक्ति हर क्षण, हर तरह की अनगिनत अनुभूतियों से नहीं बच सकता।

*

उदाहरण के लिए, अगर हम ऋषियों की शिक्षा की ओर लौटें तो वहां जगत् से पलायन करने का कोई विचार न था; उनके लिए सिद्धि को पृथ्वी पर ही उतारना था। उन्होंने भली-भांति एक 'सुनहरे युग' की कल्पना की थी जहां सिद्धि पार्थिव होती। लेकिन शायद यह देश के आध्यात्मिक जीवन की प्राण-शक्ति के ह्रास में आरम्भ हुआ, शायद एक और ही दिशा-विन्यास के कारण... निश्चित रूप से पलायन का यह विचार बुद्ध की उस शिक्षा से शुरू हुआ जिसने देश की प्राण-शक्ति को दुर्बल बना दिया, क्योंकि व्यक्ति को जीवन से नाता तोड़ने के लिए प्रयास करना पड़ता था। बाहरी वास्तविकता मायामय मिथ्यात्व बन गयी और व्यक्ति का उससे कोई सम्बन्ध न रहा। तो स्वभावतः व्यक्ति का वैश्व ऊर्जा से नाता टूट गया और प्राण-शक्ति का ह्रास होता चला गया, और इस प्राण-शक्ति के साथ-साथ सिद्धि की सभी सम्भावनाएं भी कम होती गयीं।

अपना कार्य अच्छे से अच्छी तरह करो

तुम जो कुछ करो, भरसक पूर्णता के साथ करो।
मनुष्य के अन्दर भगवान् की यह सबसे अच्छी सेवा है।

*

काम में तुम्हारा आदर्श पूर्णता से ज़रा भी कम न होना चाहिये। तब तुम निश्चय ही भगवान् के सच्चे यन्त्र बन जाओगे।

*

पहली शर्त है कि अपने निजी हितों को लक्ष्य न बनाओ।

पहले गुण जिनकी ज़रूरत है वे हैं : बहादुरी, साहस और अध्यवसाय।

और फिर इस बारे में सचेतन होना कि तुम्हें जो जानना चाहिये उसकी तुलना में तुम कुछ भी नहीं जानते, तुम्हें जो करना चाहिये उसकी तुलना में तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें जो होना चाहिये उसकी तुलना में तुम कुछ भी नहीं हो।

तुम्हारी प्रकृति में जिस चीज़ की कमी है उसे प्राप्त करने के लिए, जो अभीतक तुम नहीं जानते उसे जानने के लिए, जो अभीतक तुम नहीं कर सकते उसे करने के लिए एक अपरिवर्तनशील संकल्प होना चाहिये।

निजी कामनाओं के अभाव से आने वाली ज्योति और शान्ति में तुम्हें सदा प्रगति करते रहना चाहिये।

तुम अपना कार्यक्रम बना सकते हो :

"हमेशा अधिक अच्छा और आगे ही आगे!"

और केवल एक ही लक्ष्य हो : भगवान् को जानना ताकि उन्हें अभिव्यक्त कर सको।

दृढ़ बने रहो और तुम आज जो नहीं कर सकते उसे कल कर पाओगे।

*

"तुम कहते हो, 'मैं अपना संकल्प भगवान् को देता हूं...'

भागवत संकल्प उसे मेरे लिए क्रियान्वित करे।' तुम्हारे संकल्प को भी अनवरत कार्य जारी रखना होगा, किसी विशेष कर्म का चुनाव करते हुए अथवा किसी विशेष वस्तु की मांग करते हुए नहीं, बल्कि एक ऐसी तीव्र अभीप्सा के रूप में जो प्राप्तव्य लक्ष्य पर केन्द्रित हो।"

प्रश्नोत्तर १९२९ (१९ अप्रैल)

और बस यहीं हमें समस्या का समाधान मिलता है। तुम प्रत्येक मुहूर्त अपने संकल्प को एक अभीप्सा के रूप में अर्पित कर सकते हो जो बहुत सरल ढंग से, ठीक यह नहीं कि "हे प्रभु! तेरी इच्छा पूर्ण हो," बल्कि यह रूप लेती है कि "ऐसी कृपा कर कि मैं यथा सम्भव अच्छे-से-अच्छे रूप में उस चीज़ को सम्पन्न करूं जो सर्वोत्तम हो।"

हो सकता है कि तुम्हें प्रत्येक क्षण यह मालूम न हो कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है और उसे कैसे करना चाहिये, पर तुम अपनी इच्छा को भगवान् के हाथों में सौंप सकते हो जिससे कि सर्वोत्तम सम्भवनीय, सर्वोत्तम सम्भाव्य वस्तु सम्पन्न हो सके। तुम देखोगे कि इसके अद्‌भुत परिणाम होंगे। तुम चेतनता, सचाई और लगन के साथ इसे करो, और तुम अपने को विराट् पगों से आगे बढ़ते हुए पाओगे। यह ऐसी ही बात है, है न? मनुष्य को अपनी आत्मा के समस्त आवेग के साथ, अपने संकल्प के समस्त बल-सामर्थ्य के साथ कार्य करना चाहिये, प्रत्येक मुहूर्त अधिक-से-अधिक सम्भव, अधिक-से-अधिक सम्भव कार्य करो। दूसरे लोग जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं।...

*

ज्यों-ज्यों हम स्वयं पूर्ण होते जायेंगे त्यों-त्यों स्वभावतः हमारे कार्य की धारणा भी, उसी अनुपात में, पूर्णतर होती जायेगी। और इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए हमें अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखना चाहिये, किन्तु हमारा कर्म सदा तथा अधिकाधिक आनन्दपूर्ण और स्वतःस्फूर्त होना चाहिये, जैसे कि निर्मल स्रोत से जल प्रवाहित होता है।

संस्मरण

एक दिन मैंने श्रीमां से कहा, "मैं कई वर्षों से योग कर रहा हूं, लेकिन मुझे निश्चित रूप से यह नहीं पता कि श्रीअरविन्द का योग कैसे करूं? मैंने उनकी सभी किताबें पढ़ीं और योग करने की कोशिश की, लेकिन मुझे मालूम नहीं कि मैंने कितनी प्रगति की।" मैंने श्रीमां से मेरी मदद करने के लिए कहा। उन्होंने जवाब में कहा, "तुम सब कुछ ग़लत कर रहे हो।" "तब मैं क्या करूं?" मैं चौंका। उन्होंने जवाब दिया, "मैं तुम्हारे लिए योग करूंगी।" मैं झूम उठा! पूछा, "मुझे क्या करना होगा?" वे बोलीं, "स्वयं को मेरे हवाले कर दो और मैं तुम्हारे लिए सब कर दूंगी।" मैंने पूछा, "कैसे समर्पण करूं?" उन्होंने पूछा, "क्या तुम सच्चे हृदय से करना चाहते हो?" मैंने प्रत्युत्तर में कहा, "जी, निश्चित रूप से मां।" तब उन्होंने मुझसे पूछा, "सवेरे उठ कर पहला काम तुम क्या करते हो?" "मञ्जन करता हूं" मैंने कहा। वे बोलीं, "तुम मञ्जन कैसे करते हो?" मैं चौंका, "कैसे?! जैसे और सब करते हैं।" वे बोलीं, "तब तुम यह अचेतन रूप से करते हो, बजाय इसके, मञ्जन करते समय तुम मेरे बारे में सोचो। यह सोचो कि मैं कर रही हूं। या

अपना मुंह धोते समय तुम यह सोचो कि तुम्हारे साथ मैं यह काम कर रही हूं, या खाना खाओ तो यह सोचो कि मैं तुम्हारे साथ खा रही हूं, कि मैं तुम्हारे साथ खाने का स्वाद ले रही हूं।" उन्होंने साथ में यह भी जोड़ा, "सोते वक्त, यही वह समय है जब तुम्हें मेरे बारे में बहुत सचेतन होना चाहिये, मैं तुम्हें सुला दूं और तब सारी रात तुम्हारी नींद सचेतन होगी। तब जागने पर जब तुम अपना दिन शुरू करो तब तुम अधिक सचेतन रूप से शुरुआत करोगे।" अतः व्यक्ति को हमेशा सचेतन रूप से 'उनकी' उपस्थिति के प्रति सचेतन रहना और 'उनके' प्रति उद्घाटित रहना होगा।

—उदार

सोसायटी समाचार

१५ अगस्त २००६ को श्रीअरविन्द का १३४वां जन्मोत्सव मनाया जायेगा। इस उपलक्ष्य में पॉण्डिचेरी के 'सोसायटी बीच-ऑफिस' में दो कार्यक्रम सम्पन्न होंगे।

१) १२, १३ और १४ अगस्त को श्रीअरविन्द सोसायटी का वार्षिक सम्मेलन।

२) १७ से २६ अगस्त तक पॉण्डिचेरी में 'सोसायटी बीच-ऑफिस' में डॉ. एम. वी. नडकर्णी का Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) का शिक्षा-शिविर लगेगा। सवेरे ९ से १०, फिर १०.३० से ११.४५ तक यह शिविर चलेगा। सभी का स्वागत है।

पूर्णिया (बिहार) शाखा ने १८ से २० फरवरी तक श्री आशीष कुमार वर्मा के सञ्चालन में युवा शिविर का आयोजन किया।

गुजरात प्रान्तीय सभा—गुजरात के केन्द्रों और शाखाओं का वार्षिक

सम्मेलन वडोदरा में ४ से ६ फरवरी तक श्रीअरविन्द-निवास में हुआ। इसमें १०३ सदस्यों ने भाग लिया। श्रीअरविन्द सोसायटी के चेयरमैन श्री प्रदीप नारंग उद्घाटन-समारोह के अध्यक्ष थे। पद्मश्री से विभूषित गुजरात के प्रसिद्ध कवि श्री सितांशु यशश्चन्द्र ने सम्मेलन का उद्घाटन किया। श्रीअरविन्द आश्रम के श्री किट्टू रेड्डी प्रमुख अतिथि थे। अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ श्री पराशर द्विवेदी ने सन् २००५ में गुजरात में साधना-सम्बन्धी विभिन्न गतिविधियों के बारे में बतलाया। श्रीअरविन्द-निवास के युवा-वर्ग ने श्रीअरविन्द की संस्कृत काव्य-रचना 'भवानी भारती' का जोशभरा कार्यक्रम प्रस्तुत किया। विश्व-संस्कृत-प्रतिष्ठानम् ने संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के बारे में ब्योरे से विचार-विमर्श किया।

कोव्यूर (आन्ध्र-प्रदेश) केन्द्र ने १९ मार्च २००६ को मासिक पत्रिका "मातृसंकल्प" की पहली जयन्ती मनायी। यह पत्रिका संस्कृत के प्रचार को बढ़ावा दे रही है। श्रीअरविन्द सोसायटी पॉण्डिचेरी के डॉ. सम्पदानन्द मिश्र इसके प्रमुख अतिथि थे। डॉ. मिश्र संस्कृत के विद्वान् हैं और इन्होंने संस्कृत की महत्ता के बारे में बहुत कुछ बतलाया।

प्रतापगढ़ (उत्तर प्रदेश) में "अतिमानसिक अवतरण" पर १२ मार्च २००६ को एक सम्मेलन हुआ। कई प्रमुख व्यक्तियों ने इसमें भाग लिया। इसमें श्रीमां तथा श्रीअरविन्द की छोटी-छोटी पुस्तिकाएं और 'अदिति' पत्रिका की प्रतियां भी बांटी गयीं।

नोएडा (उत्तर प्रदेश) शाखा में २५ मार्च २००६ को श्रीमती श्रुति का कार्यक्रम हुआ। इसमें श्रुति ने ओंकार के साथ-साथ वेदों के मन्त्रों का निरन्तर जाप किया। करीब १५० श्रोताओं ने इसे बहुत सराहा।

नया प्रकाशन

Death, Dying and Beyond

लेखक : डॉ. आलोक पाण्डेय।

ऐसा कहा जा सकता है कि ३३० पृष्ठों की इस किताब में जीवन और मृत्यु विषयक बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्धक न जाने कितनी ही बातें हैं—मृत्यु क्या है, मृत्यु क्यों? मृत्यु के अनेक चेहरे, मृत्यु के उस पार इत्यादि बहुत कुछ है। लेखक ने चिकित्सा-सम्बन्धी जानकारियां भी दी हैं। लेखक स्वयं मनश्चिकित्सक हैं और चिकित्सा के दौरान इन्हें कई-कई अनुभवों से गुज़रना भी पड़ा। श्रीअरविन्द और श्रीमां के योग-पथ के अनुयायी डॉ. आलोक चिकित्सा को अब दूसरे ही दृष्टिकोण से देखते हैं और उन्होंने इसी दृष्टिकोण को इस पुस्तक में उजागर करने का प्रयास किया है।

पुस्तक का दाम २२५/ रु. है (डाक-व्यय सहित) और यह 'शब्द', श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी ६०५००२ से उपलब्ध है।

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं
श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य-जाति के लिए दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिए सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिए निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

पंकज बगड़िया
श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो॰ - झुंझुनूं – ३३३००१ (राजस्थान)
टेलीफोन – (०१५९२) २३५६१५, २३२८८७
e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com

जुलाई २००६
रु. ७.००

3/6
12

Central Library
Gurukul Kangri University
Hard... 249404 (U.A.)
Dpant
6/July/06

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अग्निशिखा जुलाई २००६ वर्ष ३६, अंक १२, पूर्णांक ४३

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां १
'सम्पादकीय' : अपराजेय (२) अनुबेन ३
दैनन्दिनी ६
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क : नीरदवरण
माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया ११
खुश रहने की आन्तरिक स्थिति श्रीअरविन्द १४
स्वर्णिम प्रकाश (सॉनेट) श्रीअरविन्द १५
निश्चितियां श्रीअरविन्द १६
वैज्ञानिक भावना श्रीअरविन्द १७
विज्ञान का व्यापारिकवाद श्रीअरविन्द १९
दो दृष्टियां श्रीअरविन्द २०
शक्ति तो मौजूद है श्रीअरविन्द २१
क्या कोई चमत्कार है? श्रीअरविन्द २२
खोज श्रीअरविन्द २३
उद्घाटन कैसे होता है श्रीमां २४
माताजी से पथ-प्रदर्शन २८
'धम्मपद' पर टिप्पणियां श्रीमां ३१
सोसायटी समाचार ३७

मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

चमत्कार

(ओरोवील का वातावरण) चमत्कारपूर्ण, निराला, अप्रत्याशित

हिन्दी—अञ्जन

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

जगत् उसी अनुपात में अच्छा होगा जिस अनुपात में हम अपने-आपको अच्छा बना सकेंगे। वेदान्त का यह सत्य कि जगत् केवल एक प्रक्षेपण है, हमारी चेतना की एक क्रिया मात्र है, यह व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही सच है जितना आध्यात्मिक दृष्टि से। मनुष्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उन भूलों से दुःख पाता है जिनकी जड़ें उसकी अज्ञानमयी प्रकृति में हैं। यदि हम बाहर एक साफ़-सुथरा जगत् देखना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले इन सभी अशुभों से व्यक्तिगत रूप से शुद्ध होना चाहिये। पूर्णता के योग को पाने से पहले की शर्त है, आत्म-शुद्धि के योग का अभ्यास करना।

लेकिन अन्त में, एक उच्चतर नियति पृथ्वी के बालकों पर झुकी हुई है और उसके तौर-तरीके समस्त हिसाब-किताब के परे हैं।

—श्रीमां

'सम्पादकीय' :

अपराजेय

(२)

डॉक्टर कृष्णधन घोष 'रोमानिया' नामक स्टीमर के पुर्तगाल के किनारे डूबने की ग़लत सूचना पाकर और श्रीअरविन्द के उस स्टीमर द्वारा भारत आने की खबर पढ़कर शोक-विह्वल हो, शरीर छोड़ गये तो दूसरी ओर 'कार्थेज' नामक स्टीमर में बैठे-बैठे श्रीअरविन्द पिता से मिलने के स्वप्न देख रहे होंगे। साथ ही भारत की, अपनी मातृभूमि की धुंधली-सी कल्पना कर रहे होंगे। वे शायद सोच रहे थे, "सात वर्ष की आयु में जिस देश को मैंने छोड़ा था, आज अपने युवक की दृष्टि से मैं उसे कैसे देखूंगा? कैसा होगा मेरा देश!!"

जब श्रीअरविन्द ने १८९३ की ६ फरवरी को बम्बई के अपोलो-बन्दर पर पांव रखा तो उन्होंने भारत के वातावरण में अनोखे माधुर्य का अनुभव किया। भारत की मिट्टी में, हवा में, जन-समूह में अविच्छिन्न भव्य सत्ता की अनुभूति के साथ-साथ उनके ऊपर गभीर शान्ति उतर आयी जो उन्हें चारों ओर से घेरे रही। क्या यह अनुभूति माता ने अपने बिछुड़े हुए पुत्र को पिता के वियोग के दुःख से बचाने के लिए दी थी या पुत्र को अपनी ओर से गभीर शान्ति का उपहार देकर उसका स्वागत किया था? हम जान नहीं पायेंगे क्योंकि श्रीअरविन्द इस करुण घटना के विषय में मौन ही रहे।

नियति या भगवान् ने श्रीअरविन्द की सहायता कितनी की!! जब वे इंग्लैण्ड में थे तभी उनकी मुलाकात सयाजी राव गायकवाड़ से हुई और मनुष्यों के पारखी बड़ौदा के महाराजा ने जानकारी प्राप्त कर ली थी कि यह युवक देशप्रेमी है। मजलिसों में वह जा

भाषण देता है वे बहु-चर्चित होते हैं। उसने घुड़सवारी की अन्तिम परीक्षा क्यों नहीं दी, यह भी वे जानते थे। देखें सयाजी राव गायकवाड़ कैसे राजा थे।

अपने-आप में वे बहुत आदर्शवादी थे। उनके बड़ौदा-नरेश बनने की कहानी बड़ी रोचक है। बड़ौदा के भूतपूर्व राजा खण्डेराव १८४७ में निःसन्तान देह छोड़ गये। विधवा महारानी ने निश्चय किया कि बड़ौदा को स्वतन्त्र राज्य ही रखेंगी। उन्होंने अपने कुशल दीवान श्री टी. माधव राय की सहायता से अंग्रेज़ सरकार की रज़ामन्दी लेकर योग्य दत्तक पुत्र की खोज शुरू की। दीवान टी. माधव राय ने जगह-जगह जाकर बच्चों को देखना आरम्भ किया। उनमें से चुने हुए बच्चों को उन्होंने महल में बुलाया ताकि महारानी उन्हें देख पायें और दत्तक को चुन सकें। उनमें गोपाल राव नामक एक लड़का भी था जो एक अशिक्षित, गरीब किसान का बेटा था, बुद्धिमान और सूझ-बूझ का धनी किन्तु गरीब होने के नाते अनपढ़ था। उसके पिता काशीराव नासिक ज़िले के एक छोटे गांव में अपने तीन बेटों के साथ रहते थे। दीवान माधव राय ने उस गुदड़ी के लाल को पहचाना और उसे भी वे महल में ले आये। वहां बच्चों के लिए बहुत खिलौने, किताबें वगैरह रखे थे ताकि उन बच्चों के स्वभाव की पहचान महारानी और अन्य सदस्यों को हो जाये। अधिकतर बच्चे खेलने में मग्न थे किन्तु गोपाल राव वहां रखी कुरसी पर निःसंकोच जाकर बैठ गया। उससे पूछा गया, "तुम यहां क्यों आये हो?" उसने उत्तर दिया, "बड़ौदा पर राज्य करने।" इस उत्तर से सब प्रसन्न हो गये। महारानी जमना बाई ने उसे दत्तक पुत्र के रूप में अपनाया और उसे अच्छे विद्वानों द्वारा सुशिक्षित और राज्य के योग्य राजा बनाने का प्रयत्न किया।

२७ मई, १८७५ को गोपाल राव का राजतिलक हुआ और वह महाराजा सयाजी राव गायकवाड़ तृतीय के नाम से बड़ौदा राज्य के

अधिपति घोषित हुए। गायकवाड़ सच्चे अर्थ में राजा बनना चाहते थे। वे बैलगाड़ी में, घोड़ागाड़ी में या घोड़े पर सवारी कर गांव-गांव घूमते रहते ताकि उन्हें प्रजा की हालत का पता लगे। उन दिनों किसी राज्य में आधुनिक सुविधाएं नहीं थीं, लेकिन बड़ौदा में पक्की सड़कें, अस्पताल, कला-भवन, बिजली-घर, व्यायामशालाएं, बगीचे, न्याय-मन्दिर और पानी के नल तथा कॉलेज की व्यवस्था गायकवाड़ ने कर दी थी। इतना ही नहीं, जब सारे भारत में लड़कियों की शादी प्रायः बचपन में हो जाया करती थी तब गायकवाड़ ने अपने राज्य में नया कानून बनाया कि सोलह वर्ष की न हो जाये तब तक लड़की की शादी नहीं होगी। पुरुष दो-तीन शादियां रचाते थे, परिणाम होता था कलह। गायकवाड़ ने इस पर भी कानून लागू कर दिया। दूसरी शादी को गैर-कानूनी घोषित किया जाता था।

उन्होंने बच्चों को निःशुल्क पढ़ाने की व्यवस्था की, गांव-गांव पंचायतें बैठा दीं।

महाराजा सारे समय योग्य, कर्मठ, ईमानदार कार्यकर्ता की खोज करते रहते थे। बड़ौदा-राज्य में रमेशचन्द्र दत्त, तैयबजी सर देसाई भण्डारकर, देशपाण्डे और खासीराव यादव जैसे प्रसिद्ध कार्यकर्ता थे और इंग्लैण्ड से एक और योग्य, अपूर्व रत्न वे अपने राज्य के लिए लाये—वे थे श्रीअरविन्द।

श्रीअरविन्द जो अपनी जन्मभूमि से अपरिचित, अजनबी-से थे, शान्ति का उपहार पाकर भी बिलकुल एकाकी, पथहारा-सा महसूस करते होंगे। उन्हें भारत की एक भाषा का भी परिचय न था; और तो और, अपनी मातृभाषा भी न जानते थे। कैसी हुई होगी उनकी गृह वापिसी!! मां के पास गये तो उन्होंने अपने बेटे को पहचाना ही नहीं। कहां वर्षों पहले का छोटा-सा सात वर्ष का मासूम बच्चा और कहां यह अंग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त गम्भीर नवयुवक!! तिस पर पति का

वियोग। पहचाने तो कैसे पहचाने!

श्रीअरविन्द को भारत में पांव रखे दो दिन ही हुए थे कि ८ फ़रवरी को वे बड़ौदा पहुंच गये। उन्होंने अपने पहुंचने की खबर किसी को भी नहीं दी थी। और तो और महाराज सयाजी राव को भी नहीं! बड़ौदा के स्टेशन पर अपना सामान लिये वे पसोपेश में खड़े थे कि हठात् उनके इंग्लैण्ड के साथी बापू राव मजूमदार ने उन्हें देख लिया। वे उन्हें अपने घर ले गये, कुछ दिन वहीं रहे किन्तु महाराजा ने ८ फ़रवरी से ही काम में लगा दिया। अपने नये कर्मचारी की महाराज परीक्षा ले रहे थे। उन्होंने श्रीअरविन्द को कई विभागों में काम दिया, जैसे स्टैम्प-विभाग, रेवेन्यू-विभाग। जहां उन्हें भेजा गया वहीं वे सफल हुए। महाराजा ने देख लिया कि २१ वर्ष का यह युवक धन, वैभव या उच्च अधिकार का भूखा न था।

अन्त में उन्होंने श्रीअरविन्द को अपने पत्र लिखने का, अपने भाषण तैयार करने का और सरकारी कागज़ों पर टिप्पणी लिखने का महत्त्वपूर्ण काम दिया। अपनी पुत्री को अंग्रेज़ी सिखाने का काम भी दिया।

महाराजा ने तिलक (बाल गंगाधर) को राज्य के मन्त्री-पद पर बुलाया किन्तु तिलक राष्ट्र-उत्थान का काम छोड़ने के लिए तैयार न थे। राजा रवि वर्मा को उन्होंने चित्रकारी के लिए प्रोत्साहन दिया, फ़ैयाज़ खां को अपना विशेष संगीतकार घोषित किया।

अगर महाराजा श्रीअरविन्द की परीक्षा ले रहे थे तो श्रीअरविन्द महाराजा की ले रहे थे। वर्षों के बाद उन्होंने कहा था कि सयाजी राव में इतनी योग्यता और सामर्थ्य थी कि वे एक महान् साम्राज्य पर शासन कर पाते।

सफलता, अच्छी नौकरी और अच्छे मित्रों के बावजूद श्रीअरविन्द थे तो एकाकी ही!

(क्रमशः)

—अनुबेन

दैनन्दिनी

जुलाई

१. 'भागवत चेतना' ही हमारी एकमात्र पथ-प्रदर्शिका हो।

२. 'भागवत चेतना' ही एकमात्र सच्ची सहायता, एकमात्र सच्चा सुख है।

३. भगवान् की ज्योति में हम देखेंगे, भगवान् के ज्ञान में हम जानेंगे, और भगवान् की इच्छा में उपलब्ध करेंगे।

४. एक नितान्त नूतन जीवन के साथ भगवान् के अन्दर निवास करो, जीवन एकमात्र भगवान् का बना हुआ हो जिसमें भगवान् ही परम 'प्रभु' हों—इस तरह सब कठिनाइयां प्रशान्तता में और सारी मनोव्यथा शान्ति में बदल जायेगी।

५. भगवान् की उपस्थिति हमें बल में शान्ति, क्रिया में प्रशान्ति और सब परिस्थितियों के बीच अपरिवर्तनशील सुख देती है।

६. भगवान् वह 'मित्र', वह 'शक्ति', वह 'सहारा' और वह 'मार्गदर्शक' हैं जो कभी धोखा नहीं देते, भगवान् वह 'प्रकाश' हैं जो अन्धकार को तितर-बितर कर देता है, वह विजेता हैं जो विजय को निश्चित बनाता है।

७. केवल भगवान् को ही अपनी अन्तरात्मा के विश्वास में लो।

८. 'भागवत उपस्थिति' ही जीवन को मूल्य प्रदान करती है। यह 'उपस्थिति' समस्त शान्ति, समस्त आनन्द, समस्त सुरक्षा का स्रोत है। अपने अन्दर इस 'उपस्थिति' को पा लो तो तुम्हारी सभी कठिनाइयां गायब हो जायेंगी।

९. हर सत्ता अपने अन्दर 'भागवत निवासी' को लिये रहती है और यद्यपि समस्त विश्व में कोई सत्ता मनुष्य के समान दुर्बल

नहीं है, फिर भी कोई उसके समान दिव्य नहीं है।

१०. व्यक्तिगत सत्ता एक नित नया होनेवाला भजन है जिसे विश्व भगवान् की अचिन्त्य भव्यता और गरिमा को अर्पित करता है।

११. हमारा मूल्य अपने-आपका अतिक्रमण करने के प्रयास के परिणाम में है और अपने-आपका अतिक्रमण करने का अर्थ है भगवान् को पाना।

१२. मानव स्वभाव के उथलेपन से रुद्ध हुए बिना हम अभीप्सा करते हैं ऐसे ज्ञान के लिए जो जानता है, ऐसी शक्ति के लिए जो सम्पन्न कर सकती है, ऐसे प्रेम के लिए जो सचमुच प्रेम करता है।

१३. कोई चीज़ 'भागवत चेतना' के साथ एक होने से बढ़कर सुन्दर नहीं है।

तुम जिसे खोज रहे हो उसे अवश्य पाओगे—यदि तुम पूरी सचाई के साथ खोजो—क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे अन्दर ही है।

१४. भगवान् को प्रकट करने में अक्षम होते हुए भी व्यक्ति भगवान् को जी सकता है, भगवान् का वर्णन कर सकने या उनके बारे में समझा सकने में अक्षम होते हुए भी व्यक्ति भगवान् की नित्यता को उपलब्ध और चरितार्थ कर सकता है।

१५. जैसे-जैसे हम प्रगति करते और अपने-आपको अहंकार से शुद्ध कर लेते हैं वैसे-वैसे भगवान् के साथ हमारी मैत्री अधिकाधिक स्पष्ट और सचेतन होती जाती है।

१६. प्रश्न : मां, क्या भगवान् अन्याय के लिए दण्ड देते हैं? क्या भगवान् के लिए किसी को दण्ड देना सम्भव है?

उत्तर : भगवान् चीज़ों को उस तरह नहीं देखते जैसे मनुष्य

देखते हैं और उन्हें दण्ड देने और पुरस्कार देने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक क्रिया अपने अन्दर अपना फल और अपना परिणाम लिये रहती है।

क्रिया की प्रकृति के अनुसार वह तुम्हें 'भगवान्' के निकट लाती है या उनसे दूर ले जाती है। और यही परम परिणाम है।

१७. मनुष्य अपने-आपको भगवान् से अलग कर सकने में सक्षम होते हैं, और बहुधा करते भी हैं, लेकिन भगवान् के लिए अपने-आपको मनुष्यों से अलग कर लेना असम्भव है।

१८. भगवान् भले तुम्हारी ओर झुक आते हों परन्तु 'उन्हें' ठीक तरह समझने के लिए तुम्हें 'उन' तक उठना होगा।

१९. जीवन सत्य और मिथ्यात्व के बीच, प्रकाश और अन्धकार, प्रगति और अवनति, ऊंचाइयों की ओर आरोहण या रसातल में पतन के बीच निरन्तर चुनाव है। हर एक आज़ादी से चुन सकता है।

२०. जीवन का एक उद्देश्य होता है और वही सच्चा और स्थायी उद्देश्य है—भगवान्। उन्हीं की ओर मुड़ो और सब खालीपन चला जायेगा।

२१. जो चीज़ बहुत महत्त्वपूर्ण है वह है जिसे तुम सत्य समझते हो उसे जीने और वही होने के संकल्प को बहुत जाग्रत् बनाये रखना। तब रुकना असम्भव होगा और पीछे गिरना तो और भी असम्भव।

२२. सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक नियति है और वह उनके दृढ़ निश्चय के अनुसार उनसे दूर या नज़दीक होती है।

तुम्हें पूरी सचाई के साथ संकल्प करना चाहिये।

२३. सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम अपना यन्त्रवत् उपयोग

करने देने के लिए किस शक्ति को चुनते हो। और यह चुनाव तुम्हें जीवन के हर क्षण करना होता है।

तुम्हारे अन्दर जो चीज़ साधारण जीवन से आसक्त है और जो भागवत जीवन के लिए अभीप्सा करती है, उन दोनों के बीच संघर्ष है। यह तुम्हें देखना है कि जो चीज़ तुम्हारे अन्दर प्रबल हो उसे चुनो और उसके अनुसार कार्य करो।

२४. हम इस जगत् में भगवान् की विजय चाहते हैं, सभी गतिविधियों पर विजय और यहां पर भगवान् की उपलब्धि।

२५. आध्यात्मिक जीवन के दृष्टिकोण से तुम जो करते हो उसका सबसे अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्व है तुम जिस तरह करते हो उसका और उस चेतना का जो तुम उसमें लगाते हो। भगवान् को हमेशा याद रखो और तुम जो कुछ करोगे वह 'भागवत उपस्थिति' की अभिव्यक्ति होगा। जब तुम्हारे सभी कर्म भगवान् को समर्पित हों तब ऐसी कोई क्रियाएं न रहेंगी जो उच्च हों अथवा निम्न हों। सबका समान रूप से महत्त्व होगा—उन्हें समर्पण द्वारा दिया गया मूल्य।

२६. आरम्भ के लिए तीन अनिवार्य चीज़ें :

समस्त सत्ता और उसके सारे क्रिया-कलाप में सम्पूर्ण सचाई और निष्कपटता।

कुछ भी बचाये बिना पूर्ण आत्म-समर्पण।

अपने ऊपर धीरज के साथ काम करना और साथ ही पूर्ण, निष्कम्प शान्ति और समता को निरन्तर हस्तगत करते रहना।

२७. सिर्फ़ उसी चीज़ को प्रोत्साहित करो जो तेज़ी से 'प्रभु' की ओर ले जाती हो और भागवत प्रयोजन को पूरा करती हो।

२८. तुम वन के एकान्त में जो करते हो उसका नहीं, जीवन-संग्राम में जो करते हो उसका महत्त्व है। हर चीज़ "साधना' का अंग

हो सकती है, यह आन्तरिक वृत्ति पर निर्भर होता है।

२९. डर छिपी हुई स्वीकृति है। जब तुम किसी चीज़ से डरते हो तो उसका अर्थ यह होता है कि तुम उसकी सम्भावना को स्वीकार करते हो और इस तरह उसके हाथ मज़बूत करते हो। कहा जा सकता है कि यह स्वीकृति अवचेतन की है। डर को कई तरह से जीता जा सकता है। एक तरीका है साहस का; श्रद्धा, ज्ञान आदि दूसरे तरीके हैं।

३०. तुम्हें क्रोध, अधीरता या नापसन्दगी की आन्तरिक और बाह्य क्रियाओं से मुक्त होना चाहिये। अगर कुछ गड़बड़ा जाये या ग़लत ढंग से किया जाये तो तुम बस इतना कहो "माताजी जानती हैं" ...और शान्ति के साथ बिना किसी रगड़-झगड़ के कार्य करते चलो।

३१. भगवान् उन्हें ही अपने को देते हैं जो बिना कुछ बचाये और अपने सभी क्रिया-कलापों में अपने-आपको भगवान् के चरणों में समर्पित कर देते हैं। उन्हीं के लिए होती है शान्ति, ज्योति, शक्ति, हर्ष, स्वतन्त्रता, विशालता, ज्ञान के शिखर और आनन्द के समुद्र। (श्रीअरविन्द)

'श्रीमातृवाणी' से

सब कुछ काम करने की तुम्हारी वृत्ति पर निर्भर है। अगर वह उचित वृत्ति से किया जाये तो वह निश्चय ही तुम्हें मेरे अधिक निकट लायेगा।

—श्रीमां

१७-५-१९३७

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया

एक वर्ष से भी कम आयु का छोटा बच्चा मेरे पास चिकित्सा के लिए लाया गया; उसकी बीमारी जटिल और मेरे बूते से बाहर थी। बच्चे को अतिसार था, उसकी मां ने 'मिल्क ऑफ मैग्नेशिया' के दो चम्मच उसे दिये थे जिसके कारण उसकी अन्तड़ियों में इतनी गड़बड़ हो गयी कि उसे अतिसार हो गया और वह किसी तरह रुक ही न रहा था।

इस बच्चे के बारे में श्रीअरविन्द ने लिखा, माताजी और पवित्र[१] इस विचार से त्रस्त हो उठे कि इतने छोटे बच्चे को जुलाब कैसे दिया गया और उन्होंने कहा, "शायद छोटे बच्चों को जुलाब देने और दवाइयों का बहुत ज़्यादा उपयोग करने के कारण बहुत बच्चे जल्दी मर जाते हैं।"

श्रीअरविन्द की चिट्ठी लेकर एक बीमार लड़की मेरे पास आयी। श्रीअरविन्द ने लिखा था, "माताजी सोचती हैं कि 'स' के स्वास्थ्य को विशेष सावधानी की ज़रूरत है। वह अच्छी तरह खाना नहीं खाती और दुबली होती जा रही है और उसके शरीर में रक्त की कमी लगती है। उसकी ऐसी हालत बड़ा अनर्थ कर सकती है, उसकी शारीरिक स्थिति पर भी बहुत प्रभाव डाल सकती है। माताजी का कहना है कि रक्त-शुद्धि और रक्त बढ़ाने के लिए हमें कुछ देना होगा और साथ ही ऐसा कुछ देना होगा जो उसे शक्ति दे—हमें देखना होगा कि उसके स्वास्थ्य के लिए क्या उपयुक्त होगा। माताजी

---

[१] एक वरिष्ठ साधक।

चाहती हैं कि तुम उस लड़की की अच्छी तरह देख-भाल करते रहो और 'प' के साथ भी इस विषय में बात कर लो।"

मैं–मैंने 'प' से परामर्श किया। वह दवाई देने के पक्ष में नहीं है।

श्रीअरविन्द–दवाई तो माताजी भी देना नहीं चाहतीं। वे चाहती हैं कि एक ओर उसे पौष्टिक खाना दिया जाये (कॉड लिवर ऑयल, किन्तु सब लोग कॉड लिवर ऑयल को सह नहीं पाते) और दूसरी ओर ऐसी कोई चीज़ दी जाये जो रक्त को शुद्ध करे। फ्रांस में चिकोरी यानी कसनी का पेय बना कर बीमार को दिया जाता है। अगर वह पर्याप्त भोजन करे तो इन सब चीज़ों की ज़रूरत न होगी। अगर तुम उसके भोजन पर ध्यान देते रहो तो और कुछ करने की आवश्यकता ही न होगी। माताजी चाहती हैं कि लड़की इस उमर में फिर से कमज़ोर और अल्पाहारी न बने क्योंकि इस उमर में उसके शरीर के विकास के लिए अच्छा भोजन आवश्यक है।

मैं–'प' लड़की को एक नया विटामिन 'एर्गोस्टरोल' दे सकता है।

श्रीअरविन्द–माताजी को उसके बारे में शंका है। सामान्य विटामिन देना ज़्यादा अच्छा है।

मैं इन सारी घटनाओं के बारे में इसलिए बता रहा हूं ताकि लोगों को पता लगे कि माताजी सबका कितना ध्यान रखती थीं, खासकर बच्चों और युवाओं का। एक बात मैं जोड़ना चाहूंगा कि उस समय आश्रमवासी केवल आश्रम के भोजनालय का ही खाना खाते थे। तब लोग न घर पर पकाते थे, न अतिरिक्त फल इत्यादि ही दिये जाते थे।

अब मैंने माताजी का काम कैसे बिगाड़ दिया यह बताना चाहता हूं। माताजी के आदेशानुसार किसी व्यञ्जन को पकाने की विधि में अपने अज्ञान के कारण कैसे मैंने हस्तक्षेप किया था।

मैंने लिखा था : मैं मानता हूं कि गुरुवार शाम को जो सब्ज़ी दी जाती है वह सूप से बची हुई सब्ज़ी है जिसमें आलू डाले जाते

हैं। इस सब्ज़ी में ज्यादा पोषक तत्त्व नहीं रहता क्योंकि बहुत देर तक उबालने के कारण तरकारी का सत्त्व निकल जाता है, केवल बचा रहता है स्वादहीन फ़ीका सेल्युलोज़। मैं नम्रता से माताजी से विनती करता हूं कि भोजन बदला जाये क्योंकि गुरुवार की सब्ज़ी पेट के लिए भी अच्छी नहीं होती। डॉ. 'म' मेरे साथ सहमत हैं।

श्रीअरविन्द—हम इन बातों को नहीं जानते। फ्रांस में रासायनिक विश्लेषण के अनुसार सूप में आधा सत्त्व जाता है और आधा तरकारी में रह जाता है, और फ्रांस में लोग उसे खाते हैं। उससे उन्हें पोषण मिलता है।

तुम घबराते क्यों हो? गुरुवार के सूप को फ़्रेंच लोगों के राष्ट्रीय व्यञ्जन की तरह बनाया गया था। जिसे वे लोग पो.ओ.फ़. (Pot.au. feu.) कहते हैं। इसमें सब्ज़ियां सूप के अन्दर ही डालकर एक साथ पकायी जाती हैं, फिर उन्हें वैसे ही खाया जाता है। इंग्लैंड में बीफ़स्टिक राष्ट्रीय व्यञ्जन है। इसमें अगर सूप स्वास्थ्य के लिए इतना बुरा होता तो क्यों हम फ्रेंच लोगों को अतिसार के कारण बीमार पेट और बीमार यकृत से पीड़ित प्रजा के रूप में नहीं देखते?

मैंने ऊपर लिखे पत्र का उत्तर वैज्ञानिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से दिया है। फिर भी चूंकि गुरुवार की सब्ज़ी के लिए इतना विरोध और इतनी अरुचि है इसलिए माताजी ने सूप देना बन्द कर दिया है। यह काम बड़ा खर्चीला है और अगर सूप के लिए इतनी अरुचि है तो इतना खर्च करना कोई अर्थ नहीं रखता।

इस लम्बे स्पष्टीकरण के बाद मैं इतना शर्मिन्दा हो गया कि मैंने अपने मूर्खतापूर्ण अज्ञान के लिए जल्दी से जल्दी क्षमा मांगी और शाम की सब्ज़ी फिर से शुरू करने के लिए विनती की। किन्तु माताजी ज़रा भी नहीं हटीं। श्रीअरविन्द ने लिखा, "जो हो चुका, सो हो चुका।"

—नीरदवरण

खुश रहने की आन्तरिक स्थिति

'हास्यम्' सुख का सक्रिय पक्ष है। यह ऐसी स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति अन्दर से प्रसन्नचित्त और खुश रहता है और जिसे किसी भी तरह का विरोधी मानसिक या भौतिक अनुभव विक्षुब्ध नहीं कर सकता। इसका चरमोत्कर्ष है : समता की सिद्धि पर प्रभु की मोहर लग जाना। तब आन्तरिक सत्ता में हमें श्रीकृष्ण के बालवत् क्रीड़ा करने का अनुभव होता है—मानों शाश्वत बालक जगत् के उद्यान में खेल रहा हो।

*

विनोद-वृत्ति? यह जीवन का नमक है। इसके बिना तो संसार पूरी तरह से असन्तुलित हो जाता—वैसे ही वह काफ़ी अस्थिर है ही—और कभी का भस्म हो जाता।

*

यह ज़रूरी नहीं है कि योगाभ्यास के समय मुखाकृति को गम्भीर रखा जाये या एकदम से चुप रहा जाये, लेकिन यह ज़रूरी है कि योग गम्भीरतापूर्वक किया जाये और इसमें अचञ्चलता और आन्तरिक एकाग्रता का बहुत महत्त्व होता है। अगर तुम्हारा ध्येय आन्तरिक प्रभु के साथ मिलन है तो तुम सारे समय अपने-आपको बाहरी चीज़ों में नहीं फेंक सकते। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति को सारे समय एकदम से गम्भीर चेहरा बनाकर या हमेशा मुंह लटकाए रहना चाहिये।

*

मधुरता और सुखद भावों को अपने अन्दर पनपने दो क्योंकि

वे ही इस बात के प्रमुख सूचक हैं कि आत्मा, चैत्य सत्ता जाग उठी है और हम उसके सम्पर्क में हैं। विचार, वाणी या क्रिया की भूलें तुम्हें विक्षुब्ध न करें—उन्हें अपने ऊपर से किसी सतही वस्तु की तरह झाड़ फेंको जिन्हें परमा शक्ति और परम प्रकाश देख लेंगे और तुम्हारे मार्ग से हटा देंगे। अपना ध्यान बस केन्द्रीय वस्तु पर रखो—अपनी अन्तरात्मा पर और वह जिन उच्चतर वास्तविकताओं को अपने साथ लाती है उन पर।

—श्रीअरविन्द

स्वर्णिम प्रकाश

(सॉनेट)

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे मस्तिष्क में हुआ अवतरण
और मन के धुंधले कक्ष हो गये सूर्यायित
प्रज्ञा के तान्त्रिक तल के लिए एक उत्तर प्रसन्न,
एक शान्त प्रदीपन और एक प्रज्वलन।

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे कण्ठ में हुआ अवतरण,
और मेरी सम्पूर्ण वाणी है अब एक दिव्य धुन,
मेरा अकेला स्वर तेरा स्तुति-गान;
अमर्त्य की मदिरा से उन्मत्त हैं मेरे वचन।

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे हृदय में हुआ अवतरण
मेरे जीवन को तेरी शाश्वतता से करता आक्रान्त;
अब यह बन गया है तुझसे अधिष्ठित एक देवालय
और इसके सब भावावेगों का केवल तू है एक लक्ष्य।

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे पैरों में हुआ अवतरण :
मेरी धरती है अब तेरी लीलाभूमि और तेरा आयतन।

—श्रीअरविन्द

निश्चितियां

गहनता में गभीरतर गहनता है, उच्चता में महानतर उच्चता है। शीघ्र ही मनुष्य अपनी सत्ता की सम्पूर्णता की बजाय अनन्तता की सीमाओं तक पहुंच जायेगा क्योंकि वह सत्ता अनन्तता है, वह भगवान् है।

मैं अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द की अभीप्सा करता हूं। क्या मैं उसे पा सकता हूं? हां, लेकिन अनन्तता की प्रकृति ऐसी है कि उसका कोई अन्त नहीं। अतः, यह मत कहो कि मैं उसे प्राप्त करता हूं। कहो, मैं वह बन जाता हूं। केवल इसी तरह भगवान् बनकर ही मनुष्य भगवान् को पा सकता है।

लेकिन उनको पाने से पहले वह उनके साथ सम्बन्ध जोड़ सकता है। भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही योग है, उच्चतम परमानन्द है तथा उदात्ततम उपयोगिता है। हमने मानवता के घेरे में कुछ सम्बन्धों का विकास किया है। इन्हें प्रार्थना, पूजा, आराधना, यज्ञ, विचार, श्रद्धा, विज्ञान, दर्शन कहा जाता है। हमारी विकसित क्षमता के परे कई अन्य सम्बन्ध भी हैं, लेकिन मानवता के घेरे में हमें उन्हें अब भी विकसित करना है। ये वे सम्बन्ध हैं जिन्हें उन विभिन्न अभ्यासों के द्वारा प्राप्त किया जाता है जिन्हें साधारणतः हम योग कहते हैं।

हो सकता है कि हम 'उन्हें' भगवान् के रूप में न जानें, हो सकता है कि हम उन्हें प्रकृति, अपने उच्चतर स्व, अनन्तता, किसी

अवर्णनीय लक्ष्य के रूप में जानें। बुद्ध इसी तरह उनके निकट गये; इसी तरह कठोर अद्वैतिन् भी उनके समीप जाता है। नास्तिक की पहुंच में भी 'वे' हैं। प्रकृतिवादी के लिए वे अपने-आपको प्रकृति में छिपाये रखते हैं। शून्यवादी के लिए वे विलोपन के हृदय में घात लगाये बैठे हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—श्रीअरविन्द

वैज्ञानिक भावना

आजकल मानव जीवन में ऐसी बहुत-सी परिस्थितियां और प्रवृत्तियां हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विचार के पनपने के अनुकूल हैं। इन अनुकूल शक्तियों में सबसे प्रबल हैं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के बिन्दुओं का सतत रूप से पास-पास आते जाना, सम्पर्क-स्थलों और सम्पर्क-सूत्रों की बहुलता और विचार, विज्ञान एवं ज्ञान में लोगों की बढ़ती हुई संख्या। विज्ञान विशेष रूप से इस दिशा में बड़ी शक्ति रहा है, क्योंकि विज्ञान एक ऐसी चीज़ है जिसके निष्कर्ष सब लोगों के लिए एक समान हैं, जिसकी पद्धतियां सबके लिए खुली हैं और जिसके परिणाम सबके लिए सुलभ हैं। राष्ट्रीय विज्ञान जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती, राष्ट्र विज्ञान के कार्य और उन्नति में अपना योगदान दे सकते हैं पर वे योगदान तो सारी मानवता के अविभाज्य दायरूप होते हैं। इसलिए विज्ञानवादी या विज्ञान से अतिशय प्रभावित लोगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भावना में बढ़ना आसान है। और अब तो सारा संसार ही विज्ञान के प्रभाव को अनुभव करने और उसमें जीने लगा है। उधर विज्ञान ने संसार के प्रत्येक भाग को दूसरे भाग के साथ निकट सम्पर्क में ला

दिया है। इससे एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय मन विकसित होने लग रहा है। यहां तक कि जीवन में विश्व नागरिकता की प्रवृत्ति भी अब विरल नहीं रही है। कितने ही ऐसे लोग हैं जो जितने अपने देश के नागरिक हैं उतने ही, बल्कि उससे भी अधिक, संसार के नागरिक हैं। ज्ञान का विस्तार देशों को एक-दूसरे की कला, संस्कृति, धर्म और विचार में रुचि पैदा करा रहा है और कितने ही बिन्दुओं पर पुरानी राष्ट्रीय भावुकता का पक्षपात, दर्प और अपने ही देश को अनन्य रूप से विशिष्ट मानने की भावना टूटती जा रही है।

*

विज्ञान ने जीवन की खोज-बीन करते हुए यह भी पता लगाया कि व्यष्टि-जीवन जब सबके साथ मिलकर और समूह के विकास के नियमों के अनुसार चलता है तो वह सबसे सुरक्षित और सफल होता है बजाय आपाधापी करके अपने को स्थापित करने की कोशिश के; यही नहीं, बल्कि प्रकृति भी जिसे बनाये रखना चाहती है वह व्यष्टि नहीं, प्ररूप है; वह अपने मूल्यांकन में दल, यूथ, झुण्ड या छत्ते को व्यष्टि, पशु या कीट की अपेक्षा और मानव-समुदाय एवं व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रधानता देती है। इसलिए चीज़ों के सच्चे विधान और प्रकृति को देखते हुए व्यक्ति को बजाय अपनी ही आत्म-सन्तुष्टि के लिए जीने और जाति-गत जीवन को अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षा गौण कर देने के, सबके लिए जीना चाहिये और जाति की वृद्धि, लाभ एवं प्रगति के आगे अपने को गौण कर देना और अपनी कुर्बानी कर देनी चाहिये। आधुनिक समष्टिवाद आधुनिक ज्ञान के इस विपरीत पक्ष से अपना सारा बल पाता है।

—श्रीअरविन्द

विज्ञान का व्यापारिकवाद

परन्तु विज्ञान ने यदि हमें अधिक विशाल और अधिक गहरी संस्कृति के लिए तैयार किया है, और अपने भौतिकतावाद के बावजूद, बल्कि कुछ-कुछ भौतिकतावाद की सहायता से भी, सच्चे भौतिकतावाद का, बर्बर मानसिकता का लौटना असम्भव कर दिया है तो उसने दूसरे प्रकार की बर्बरता को—क्योंकि इसे कोई और नाम नहीं दिया जा सकता—जीवन के प्रति अपने रवैये के द्वारा और अपने आविष्कारों के द्वारा, दोनों ही प्रकार से कम या अधिक अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित भी किया है। यह बर्बरता है इस औद्योगिक, व्यापारिक, आर्थिक युग की बर्बरता जो अब अपनी चरमता, साथ ही समाप्ति पर है। यह आर्थिक बर्बरता वस्तुतः उस प्राणिक मनुष्य की है जो ग़लती से प्राणिक सत्ता को अपना 'स्व' मान बैठता है और उसकी सन्तुष्टि को जीवन का प्रथम उद्देश्य समझता है। जीवन (प्राण) का विशेष लक्षण है कामना और जोड़ने की सहज वृत्ति। जैसे भौतिक बर्बर शारीरिक गठन, भौतिक शक्ति, स्वास्थ्य और शौर्य को अपना आदर्श और लक्ष्य बनाता है उसी तरह प्राणिक या आर्थिक बर्बर भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति, कामनाओं की सन्तुष्टि, सम्पत्ति-संग्रह को अपना आदर्श और प्राप्तव्य समझता है। उसका आदर्श व्यक्ति कोई सुसंस्कृत, भद्र, विचारशील, नैतिक या धार्मिक व्यक्ति नहीं होता बल्कि उसका आदर्श रूप व्यक्ति होता है सफल मनुष्य। नाम कमाना, सफल होना, उत्पादन करना, जुटाना और हस्तगत करना—यही है उसका जीवन। धन और, और अधिक धन का सञ्चय, सम्पत्ति पर सम्पत्ति जुटाना, समृद्धि, प्रदर्शन, मौज-मज़ा, कला से अछूता वैभव-विलास, सुख-सुविधाओं की भरमार, जीवन में न सौन्दर्य, न आभिजात्य, धर्म का सामान्य या भावना से

रहित मात्र एक औपचारिक चीज़ बन जाना, यहां तक कि आमोद-प्रमोद का भी धन-प्राप्ति की वस्तुएं बन जाना—यह है व्यापारिकवाद।

—श्रीअरविन्द

दो दृष्टियां

विज्ञान मुख्य रूप से भगवत्-प्रेमी और भगवत्-ज्ञानी के लिए उपयोगी है, क्योंकि यह उसे भगवान् की भौतिक कारीगरी के विचित्र आश्चर्यों को विस्तारपूर्वक समझने और सराहने योग्य बनाता है। एक ज्ञान को प्राप्त कर पुकार उठता है, "देखो, आत्मा जड़ में कैसे अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है"; और दूसरा कहता है, "देखो, मेरे प्रेमी और प्रभु के स्पर्श को, सिद्ध कलाकार के, सर्वशक्तिमान् के हाथ के स्पर्श को।"

*

जब हमारा मन जड़तत्त्व में रमा होता है तो वह सोचता है कि जड़तत्त्व ही एकमात्र सच्ची वास्तविकता है। जब हम अपने-आप को अशरीरी चेतना में पीछे खींच लेते हैं तो देखते हैं कि जड़तत्त्व तो एक मुखौटा है और महसूस करते हैं कि हमारा अस्तित्व तो चेतना के द्वारा ही है और उसी को वास्तविकता का स्पर्श प्राप्त है। तो इन दोनों में कौन सत्य है? कोई नहीं, केवल भगवान् ही जानते हैं; पर जिसे दोनों अनुभूतियां प्राप्त हो चुकी हैं वह आसानी से बता सकता है कि ज्ञान के लिए कौन-सी स्थिति अधिक अनुकूल, अधिक सशक्त और अधिक आनन्ददायक है।

—श्रीअरविन्द

शक्ति तो मौजूद है

तुम शक्ति को महसूस नहीं करते, यह बात यह प्रमाणित नहीं करती कि शक्ति वहां नहीं है। स्टीम-इंजन उसे चलाने वाली शक्ति को महसूस नहीं करता, पर शक्ति तो वहां होती ही है। मनुष्य स्टीम-इंजन नहीं है न? वह कुछ तो श्रेष्ठ है क्योंकि वह सतह पर होने वाली खुदबुद से—जिसे वह अपना-आप कहता है—सचेतन है पर अवचेतन, अन्तश्चेतन, अतिचेतन शक्तियों से, जो उसे चलाती हैं, पूरी तरह बेखबर है। (यह बात आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा अधिकाधिक स्थापित की जा रही है, परन्तु इस मनोविज्ञान ने केवल निचली चेतना को ही हस्तगत किया है, उच्चतर चेतना को नहीं—इसलिए, महाशय, इसमें तुम्हारी अपनी बुद्धि की दख़लन्दाज़ी की ज़रूरत नहीं)। मनुष्य बुद्धि के आधार पर नासमझी से सतह पर दीखते परिणामों के बारे में किचिर-मिचिर करता है और उस सबका श्रेय अपने 'सराहनीय स्व' को देता है और इस बात को भूल जाता है कि उसका 'सराहनीय स्व' उसकी हल्की, टिमटिमाती बुद्धि के पर्दे के और उसके टटोलते प्राणिक संवेगों, भावावेगों, आवेशों, संवेदनों और संस्कारों के कुहासे के बहुत पीछे छिपा है। इसलिए तुम्हारी युक्ति एकदम बेतुकी और बेकार है। हमारा उद्देश्य है छिपी शक्तियों को बाहर, दीवार के घेरे से खुले में लाना, जिससे बजाय इसके कि हम अपने बारे में पर्दे में से कुछ धुंधली या चमकदार जानकारी प्राप्त करें या एकदम बन्द रहें, उन शक्तियों की ऊपर से वर्षा हो और वे नदी के रूप में बह निकलें।

—श्रीअरविन्द

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

क्या कोई चमत्कार है ?

भागवत प्रक्रिया से चल रहे इस जगत् में चमत्कार नाम को कोई चीज़ नहीं, क्योंकि या तो ऐसी कोई चीज़ नहीं जिसे चमत्कार कहा जा सके या फिर, अधिक सूक्ष्मता से विचार करें तो, सभी कुछ एक चमत्कार है। चमत्कार का शाब्दिक अर्थ है, ऐसी वस्तु जिसे देखकर आश्चर्य हो—जब तक हमें प्रक्रिया का पता न हो। बेतार का तार एक बड़ा आश्चर्य है, बिना बोले विचार को एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक पहुंचा देना, उससे भी बड़ा आश्चर्य है, पर यह तो अति साधारण मनों और जीवों तक में प्रतिदिन घटित हो रहा है। परन्तु जब क्रिया-विधि का पता लग जाता है तो ऐसा कुछ भी नहीं रहता जिस पर आश्चर्य हो, सिवाय बुद्धि की उस सराहनीय महानता के, विचार की उस विशालता और विविधता के और कार्य-सम्पादन में उस सूक्ष्मता और बारीकी के, जिससे यह संसार चल रहा है। और उस पर आश्चर्य होना बन्द हो जाता है जब हम भगवान् को जान लेते हैं और यह समझ लेते हैं कि संसार के सबसे अधिक आश्चर्योत्पादक कार्य-व्यापार भी 'उस' की अनन्त सत्ता की तुलना में अत्यन्त तुच्छ, "मदारी के कौशल" जैसे ही हैं।

*

वे तथाकथित विज्ञान जो मन और मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हैं (मनोविज्ञान आदि) भौतिक विज्ञान के इतने पराश्रित हैं कि तंग सीमाओं के परे नहीं जा सकते। यदि विज्ञान को भगवान् की ओर अभिमुख होना हो तो उसे एक नया ही विज्ञान बनना होगा जो कि अभी तक विकसित नहीं हुआ है; जो प्राण-जगत् और मन की शक्तियों के साथ सीधा व्यवहार कर सके और इस प्रकार वहां पहुंच

जाये जो मन के परे है, परन्तु आज का विज्ञान यह नहीं कर सकता।
—श्रीअरविन्द

खोज

ये नयी मनोवैज्ञानिक खोजें अभी अपने शैशवकाल में हैं और हमें यह नहीं बता सकतीं कि यह छिपी चेतना क्या है, पर योग के द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह मनोमय पुरुष है जो प्राण और शरीर का नेता है, **'मनोमयः (पुरुषः) प्राणशरीरनेता'**...।

हम देखते हैं कि आधुनिक मनोविज्ञान, यद्यपि शुद्ध रूप से बौद्धिक और तार्किक रूप से प्राप्त हो सकने वाले परिणाम से अभी भी बच निकलता है, फिर भी अनिवार्य रूप से और स्पष्ट तथ्यों के दबाव तले उन्हीं सत्यों की ओर बढ़ रहा है जिन पर हज़ारों साल पहले हमारे प्राचीन ऋषि पहुंचे थे। वे उन पर कैसे पहुंचे थे? खोज-बीन के द्वारा नहीं, जैसा कि कुछ विद्वान् व्यर्थ में कल्पना करते हैं, बल्कि योग के द्वारा। क्योंकि विज्ञान के मार्ग में जो बाधा खड़ी है वह है विषय-वस्तु के अन्दर प्रवेश पाने की अक्षमता और वह आवश्यकता जिसके आधार पर वह बाह्य अध्ययन से प्राप्त अपने अनुभवों को खड़ा करने की कोशिश करता है—और उसके सब उग्र और क्रूर प्रयत्न जो चीर-फाड़ और अन्य निर्मम परीक्षणों द्वारा इस अक्षमता की पूर्ति के लिए किये जाते हैं इस क्षति की पूर्ति नहीं कर सकते। योग हमें वस्तु के अन्दर प्रवेश करने में समर्थ बनाता है, वह निरीक्षक में शरीर के अनुभवों की और मनोमय अहं-बुद्धि की कृत्रिम बाधाओं को दूर कर देता है। वह हमें व्यक्तिगत अनुभव की सीमित पकड़ से बाहर ले आता और हमें वैश्व तरंगों

में ला रखता है, हमें व्यक्तिगत मनोमय कोश से बाहर ला वैश्व आत्मा और वैश्व मन के साथ एक कर देता है। इसीलिए प्राचीन ऋषि उस चीज़ को देख पाने में समर्थ हुए थे जिसकी हम अब फिर से हल्की झलक पाने लगे हैं कि केवल प्रकृति ही अपने-आप में बुद्धि या चेतना की उद्देश्यपरक, विवेकशील और निर्वैयक्तिक असीम शक्ति नहीं है **'प्रज्ञा प्रसृता पुराणी'**, बल्कि यह कि भगवान् प्रकृति के अन्दर और उसके ऊपर असीम वैश्व व्यक्तित्व के रूप में निवास करते हैं, विश्व में वैश्व और वस्तु-विशेष में व्यक्तिगत और वैश्व रूप में या फिर एक ऐसे आत्मचेतन रूप में निवास करते हैं जो देखता है, भोगता है और अपने विशाल एवं जटिल कार्यों को अन्त तक पहुंचाता है। यहां केवल प्रकृति ही नहीं है बल्कि पुरुष भी है।

*

वस्तुओं का सत्य केवल तभी जाना जा सकता है जब व्यक्ति उसे पा ले जिसे संक्षेप में वस्तुओं का आध्यात्मिक अन्तर्दर्शन कहा जा सकता है और वह पूरी तरह तभी पाया जा सकता है जब आध्यात्मिक अन्तर्दर्शन ही नहीं बल्कि स्वयं वस्तु के साथ अपनी सत्ता में और सबकी सत्ता में सीधी अनुभूति हो।

—श्रीअरविन्द

उद्घाटन कैसे होता है

'कृपा' को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करने का क्या तरीका है?

आहा! सबसे पहले तो तुम्हें उसकी आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये।

यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। तुम्हारे अन्दर एक प्रकार की आन्तरिक नम्रता होनी चाहिये, जो इस बात का भान कराती है कि तुम भागवत 'कृपा' के बिना कितने असहाय हो, कि सचमुच उसके बिना तुम अपूर्ण और शक्तिहीन रहते हो। आरम्भ में, यही सबसे पहली चीज़ है।

यह एक ऐसा अनुभव है जिसे भली-भांति किया जा सकता है। जब ऐसे लोग, जो कुछ भी नहीं जानते, अपने-आपको बहुत कठिन परिस्थितियों में पाते हैं, या किसी ऐसी समस्या में उलझ जाते हैं जिसे हल करना ही चाहिये, या जैसा कि मैंने अभी कहा, किसी ऐसे आवेग में आ जाते हैं जिसे जीतना ज़रूरी है, या अगर किसी वस्तु ने उन्हें व्याकुल कर दिया है... और उस समय वे अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करते हैं, उनकी समझ में नहीं आता कि क्या करें —उनका मन, उनका संकल्प, उनके संवेदन, कोई भी सहायता नहीं करते—वे नहीं जानते कि क्या करें, तब यह होता है, उनके भीतर एक पुकार-सी उठती है, एक ऐसे के प्रति पुकार जो वह सब कर सकता है जिसे ये नहीं कर सकते, व्यक्ति उस चीज़ के प्रति अभीप्सा करता है जो वह काम करने में समर्थ है जिसे वह स्वयं नहीं कर सकता।

यह पहली शर्त है। और फिर, अगर तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि केवल भागवत 'कृपा' ही यह कर सकती है, कि तुम अपने-आपको जिस परिस्थिति में पाते हो उसमें से केवल 'कृपा' ही तुम्हें उबार सकती है, वही तुम्हें उसमें से निकलने के लिए उपाय बता सकती है और बल दे सकती है, तो स्वभावतः, तुम्हारे अन्दर एक तीव्र अभीप्सा जागेगी—एक ऐसी चेतना जो अपने-आपको उद्घाटन में बदल लेगी। अगर तुम आवाहन करो, अभीप्सा करो और उत्तर पाने की आशा करो, तो तुम बिलकुल स्वाभाविक रूप से अपने-आपको भागवत 'कृपा' की ओर खोलोगे।

और बाद में—तुम्हें इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिये (माताजी ओठों पर उंगली रखती हैं)—भागवत 'कृपा' तुम्हें उत्तर देगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें कष्ट में से उबार लेगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें समस्या का समाधान बतलायेगी या तुम्हें अपनी कठिनाई में से निकल आने में सहायता देगी। लेकिन जब तुम कष्ट से छुटकारा पा जाओ और कठिनाई में से निकल आओ, तो यह न भूलो कि भागवत 'कृपा' ने ही तुम्हें उबारा है, यह न सोचो कि यह तुम्हारा अपना काम है। क्योंकि वास्तव में, यह महत्त्वपूर्ण बात है। कठिनाई खतम होते ही अधिकतर लोग कहते हैं : "आखिर, मैंने अपने-आपको बड़ी अच्छी तरह कठिनाई में से निकाल लिया।"

तो यह बात है। इस तरह तुम दरवाज़ा बन्द कर देते हो, उस पर ताला जड़कर चटकनी लगा देते हो, और फिर तुम और कुछ नहीं पा सकते। इस आन्तरिक मूढ़ता को दूर करने, और तुम्हें यह अनुभव कराने के लिए कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें फिर से किसी तीव्र व्यथा की, किसी भयानक कठिनाई की ज़रूरत होती है। क्योंकि तभी तुम ज़रा-सा खुलते और लचीले बनते हो जब तुम्हें यह पता लग जाये कि तुम बलहीन हो। लेकिन जब तक तुम यह समझते हो कि जो कुछ तुम करते हो वह तुम्हारे अपने कौशल और अपनी क्षमता पर निर्भर है, तो सचमुच, तुम केवल एक दरवाज़ा नहीं, एक के बाद एक बहुत-से दरवाज़े बन्द कर देते हो, समझे, और उनमें चटकनी लगा देते हो। तुम अपने-आपको एक किले में बन्द कर लेते हो, और वहां कोई चीज़ प्रवेश नहीं कर सकती। यह सबसे बड़ी त्रुटि है : आदमी बहुत जल्दी भूल जाता है। बिलकुल स्वाभाविक रूप में, वह अपनी क्षमता से सन्तुष्ट रहता है।

लेकिन, माताजी, जब हम यह सोचने की कोशिश करते हैं

कि हम बलहीन हैं, तब भी कोई चीज़ यह मानती है कि वह शक्तिशाली है। तो?

हां, ठीक है, हां, ठीक है। हां, सच्चा और निष्कपट होना बहुत कठिन है...। इसीलिए प्रहार बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी भयंकर हो जाते हैं, क्योंकि यही एकमात्र चीज़ है जो तुम्हारी मूढ़ता को तोड़ती है। यही विपदाओं का औचित्य है। जब तुम तीव्र पीड़ाजनक स्थिति में होते हो तभी, जब तुम ऐसी चीज़ के सामने हो जिसका तुम पर गहरा असर पड़ता है, तभी तुम्हारी मूढ़ता ज़रा-सी पिघलती है। लेकिन जैसा कि तुमने कहा, जब कोई चीज़ पिघलती है तो उस समय भी कोई छोटी-सी चीज़ तुम्हारे अन्दर जैसी-की-तैसी बनी रह जाती है। इसलिये व्यथा इतने लम्बे समय तक चलती है...।

गहराइयों तक यह जानने के लिए कि हम कुछ भी **नहीं हैं,** कि हम **कुछ** भी **नहीं** कर सकते, कि हमारा **अस्तित्व ही नहीं** है, कि हम **हैं ही नहीं,** कि भागवत 'चेतना' और 'कृपा' के बिना कोई सत्ता ही नहीं है, कितने प्रहारों की ज़रूरत होती है! जिस क्षण तुम यह जान लेते हो, यह खतम हो जाती है, सारी कठिनाइयां चली जाती हैं। तभी जब तुम इसे पूर्ण रूप से जान लो और कोई भी चीज़ इसका प्रतिरोध न करे... लेकिन उस मुहूर्त तक...। और इसमें बहुत समय लगता है।

*

तुम्हें करना यह चाहिये कि अपनी सत्ता के द्वार भगवान् की ओर पूरी तरह खोल दो। जिस क्षण तुम कुछ छिपाते हो उसी क्षण सीधे मिथ्यात्व में जा गिरते हो। तुम्हारी ओर से ज़रा-सा छिपाव भी तुम्हें सीधा नीचे निश्चेतना में घसीट लेता है। अगर तुम पूरी तरह सचेतन

होना चाहते हो तो हमेशा 'सत्य' के सामने रहो—अपने-आपको पूरी तरह खोल दो और भरसक कोशिश करो कि वह तुम्हारे अन्दर गहराई में सत्ता के एक-एक कोने को देख सके। इसी से तुम्हारे अन्दर प्रकाश आयेगा और वह सब आयेगा जो सत्यतम है। पूरी तरह विनयशील बनो—अर्थात्, तुम जो हो और तुम्हें जो होना चाहिये उन दोनों के बीच की दूरी को जानो। अपने अनगढ़ भौतिक मन को यह न सोचने दो कि वह जानता है जब कि वह नहीं जानता, कि वह मूल्यांकन कर सकता है जब कि कर नहीं सकता। विनय में यह बात भी आ जाती है कि तुम अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो। उनसे सहायता मांगकर और अपने-आपको समर्पित करके स्वतन्त्रता को और उत्तरदायित्व के अभाव को प्राप्त कर लो। इससे मन को पूरी शान्ति मिलती है।

—श्रीमां

माताजी से पथ-प्रदर्शन

खुलापन शक्ति और प्रभाव को ग्रहण करने और प्रगति के लिए उनका उपयोग करने के लिए संकल्प है; परम चेतना के साथ सम्पर्क बनाये रखने की सतत अभीप्सा है; यह श्रद्धा है कि शक्ति और चेतना हमेशा तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अन्दर हैं और बस तुम्हें इतना ही करना है कि उन्हें ग्रहण करने के रास्ते में किसी भी चीज़ को बाधक न बनने दो।

*

उस चेतना के प्रति खुलो जो तुम्हारे ऊपर और तुम्हारे अन्दर

कार्य कर रही है और हमेशा यथासम्भव अचञ्चल और शान्त रहो।

*

"प्रेम और प्रकाश की ओर अधिक खुलना" मैं तुम्हारे पिछले पत्र का ठीक यही उत्तर भेजती हूं। चेतना में अधिक ऊंचे उठो, अधिक विशालता के साथ प्रेम करो, प्रकाश के प्रति खुलो—सभी भिन्नताएं विलीन हो जायेंगी। योग करने के लिए तुम्हें संसार के जितना विशाल और व्यापक होना चाहिये।

*

मेरी प्यारी मां,

मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूं। मैं आपकी ओर खुलना चाहता हूं। लेकिन कोई चीज़ मुझे खुलने से रोकती है।

मेरे प्यारे बालक,

तुम्हें खुलना इसलिये कठिन लगता है क्योंकि तुमने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि अपनी इच्छा को नहीं, मेरी इच्छा को अपने जीवन पर शासन करने दोगे। जैसे ही तुम इसकी आवश्यकता समझ जाओगे, हर चीज़ ज्यादा आसान हो जायेगी और अन्ततः तुम उस शान्ति को पाने योग्य हो जाओगे जिसकी तुम्हें इतनी अधिक ज़रूरत है।

इस प्रयास और अभीप्सा में मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं।

*

आपके हाथ हमेशा देने के लिए खुले रहते हैं, लेकिन मैं एक छोटा-सा अंश ही पा सकता हूं, क्योंकि मैं काफ़ी ग्रहणशील नहीं हूं।

यह जगत् की अवस्था का ठीक-ठीक चित्र है जो इसलिये दुःख पाता है क्योंकि वह ग्रहणशील नहीं है, जब कि दिव्य प्रेम की ओर खुलने से वह परमानन्द में निवास कर सकता है।

लेकिन इसका एक इलाज है :

निष्कपट और सतत अभीप्सा।

*

अगर मैं इस विचार पर ध्यान करूं कि अमुक वस्तु में–वह भले कुछ भी क्यों न हो—और मुझमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि भगवान् उसमें भी उतने ही उपस्थित हैं जितने मुझमें, तो क्या परिणाम आयेगा?

सम्भवतः संकटपूर्ण परिणाम; यानी सब प्रकार के प्रभावों के प्रति निष्क्रिय उद्घाटन, जिनमें से अधिकतर मुश्किल से प्रशंसनीय होंगे।

*

आज सवेरे 'क' मेरे यहां आयी और मैं उसके साथ खुलकर बातचीत करता रहा, फिर बातें करते-करते मुझे लगा कि मैं आग से घिरा हुआ था। सारे दिन मुझे बुखार-सा रहा। मेरे ख्याल से ये सब चीज़ें उसके साथ सम्पर्क से आती हैं, अतः मुझे उससे बचना चाहिये।

बिना विशेष प्रभाव के इस या उस व्यक्ति से कतराने की जगह कहीं अधिक अच्छा होगा कि तुम अपनी चेतना को बदलो, उसे इन सब प्रभावों की ओर से बन्द रखो और केवल भगवान् की ओर खुला रखो।

*

मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है; तो अगर तुम उसे अनुभव न करो तो इसका अर्थ है कि तुम उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो। यह तुम्हारी ग्रहणशीलता की कमी है और ग्रहणशीलता को बढ़ना चाहिये; इसके लिए तुम्हें अपने-आपको खोलना चाहिये और तुम अपने-आपको तभी खोलते हो जब **अपने-आपको** देते हो। निश्चय ही तुम 'भागवत प्रेम' और शक्तियों को न्यूनाधिक सचेतन रूप से अपनी ओर खींचने का प्रयास कर रहे हो। यह प्रक्रिया बुरी है। बिना लेखा-जोखा किये, बदले में किसी चीज़ की आशा किये बिना अपने-आपको दे दो तब तुम पाने में समर्थ होगे।

*

मैं लौ पर बहुत एकाग्रचित्त हुआ, लेकिन दुःख की बात है—उसे प्रज्वलित करने के लिए मेरी अभीप्सा काफ़ी बलशाली न थी।

अग्नि को जलाना तुम्हारा काम नहीं। जैसा कि मैंने तुमसे कहा, मैं उसे हमेशा प्रज्वलित कर रही हूं—तुम्हें उसे पाने के लिए बस अपने-आपको खोलना है और अपनी सद्भावना के साथ उसकी रक्षा करनी है।

धम्मपद पर टिप्पणियां

सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं व दुब्बलं।।

(जो) शुभ, अर्थात् सुखद वस्तुओं की खोज में घूमता-फिरता

है, (जो) अपनी इन्द्रियों में असंयत होता है, (जो) अपने भोजन की मात्रा को नहीं जानता, जो आलसी और पुरुषार्थहीन होता है, उसे मार (मन की दुष्प्रवृत्तियां) ठीक (वैसे ही) गिरा देता है जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को।

बौद्ध साहित्य में मार 'अशुभ शक्ति' को सूचित करता है, उन सब चीज़ों को लक्षित करता है जो आध्यात्मिक जीवन के विरुद्ध हैं अथवा उसका विरोध करती हैं; कुछ विशेष प्रसंगों में वह मृत्यु को सूचित करता है—उतना भौतिक मृत्यु को नहीं जितना सत्य के प्रति, आध्यात्मिक जीवन के प्रति मृत्यु को।

यहां पर इसका अर्थ यह है कि जबतक मनुष्य अपनी इन्द्रियों और कामनाओं को संयमित नहीं करता, और जबतक वह अपनी बाह्य भौतिक तुष्टियों को ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु समझकर उन्हीं में व्यस्त रहता है, तबतक उसमें विरोधी शक्तियों के, नीचे खींच ले जाने वाली तथा आध्यात्मिक वास्तविकता से दूर हटा ले जाने वाली वस्तुओं के आक्रमण का सामना करने के लिए आवश्यक संकल्प-बल नहीं होता।

'धम्मपद' नैतिक दृष्टिकोण को इतना अधिक आधार नहीं बनाता, यह वह अशुभ नहीं है जैसा कि मनुष्य उसे अपनी अन्ध न्याय-भावना और भले-बुरे की मनमानी भावना के द्वारा समझते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अशुभ वास्तव में वह वस्तु है जो हमें लक्ष्य से दूर ले जाती है, जो कभी-कभी हमें जीवन के गभीरतम उद्देश्य से भी, हमारी सत्ता के सत्य से भी, हमारी सत्ता से भी दूर ले जाती है और उसे प्राप्त करने से हमें रोकती है।

इसी तरीके से इसे समझना चाहिये।

११.१०.१९५७

असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धंआरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो वातो सेलं व पब्बतं।।

(जो) अशुभ अर्थात् असुखद वस्तुओं की खोज में इधर-उधर नहीं घूमता है, (जो) अपनी इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में रखता है, (जो) अपनी क्षुधाओं को वश में रखता है, जिसकी श्रद्धा अविचल है, जो अपनी ऊर्जाओं को नष्ट नहीं करता, उसे मार (वैसे ही) नहीं गिरा पाता जैसे कि वायु शिलामय पर्वत को नहीं गिरा पाती।

'धम्मपद' जब श्रद्धा की बात कहता है तब उसका अर्थ किसी मतवाद या किसी धर्म पर होनेवाला विश्वास नहीं होता, वह गुरु की शिक्षा पर होने वाली श्रद्धा भी नहीं होती, वह तो होता है स्वयं अपनी सम्भावनाओं पर विश्वास, यह दृढ़ प्रतीति कि चाहे जितनी भी कठिनाइयां क्यों न हों, चाहे जितनी बाधाएं क्यों न आयें, चाहे जितनी अपूर्णताएं क्यों न हों, अपनी सत्ता के अन्दर चाहे जितनी नकारात्मक भावनाएं भी क्यों न हों, हम इस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए पैदा हुए हैं और इसे अवश्य प्राप्त करेंगे।

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरन्तर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये। फिर जो कुछ चरितार्थ करना है उसे चरितार्थ करने के लिए वर्षों लगाने के बदले हम उसे कुछ ही महीनों में चरितार्थ कर लेंगे, कभी-कभी कुछ दिनों में भी कर सकेंगे। और, यदि हमारे अन्दर पर्याप्त तीव्रता हो तो, कुछ घण्टों में भी कर सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि तुम अपने अन्दर एक मनोभाव बना सकते हो और फिर सिद्धि को आक्रान्त करने वाली सब अशुभ इच्छाओं में तुम्हें परास्त करने की शक्ति नहीं होगी जैसे आंधी में शिला को हिलाने की कोई शक्ति नहीं होती।

उसके बाद रास्ता ज़रा भी कठिन नहीं होता, वह विलक्षण रूप से रुचिकर बन जाता है।

१८.१०.१९५७

अनिक्कसावो कासावां यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति।।

जो (व्यक्ति) अपनी अशुद्धियों का त्याग किये बिना काषाय वस्त्र धारण करता है और जिसके पास न आत्म-संयम है, न सत्य, (वह) काषाय (वस्त्र) का अधिकारी नहीं है।

निःसन्देह, काषाय वस्त्र, अपने शाब्दिक अर्थ में, बौद्ध संन्यासियों का वस्त्र है; यह उन सब लोगों का वस्त्र बन गया जो वैराग्य की साधना करते हैं। परन्तु यहांपर 'धम्मपद' वास्तव में इस बात की चर्चा नहीं कर रहा है; क्योंकि ऐसे आदमियों का कोई अभाव नहीं जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं पर अपने दोषों से मुक्त नहीं हुए हैं। काषाय वस्त्र इस बात के प्रतीक के रूप में लिया जाता है कि उसे ग्रहण करनेवाला आध्यात्मिक जीवन के लिए अपना उत्सर्ग कर रहा है, वह इस बात का बाह्य चिह्न है कि मनुष्य उन सब चीज़ों को त्याग रहा है जो आध्यात्मिक जीवन के लिए की जाने वाली अनन्य एकाग्रता से मेल नहीं खातीं।

बौद्ध धर्म के अनुसार "अशुद्धियों" का मुख्य अर्थ है अहंभाव और अज्ञान; क्योंकि, बौद्धधर्म की दृष्टि से, सबसे महान् दोष है अज्ञान, बाह्य वस्तुओं का अज्ञान नहीं, प्रकृति के विधानों का अथवा उन सब वस्तुओं का अज्ञान नहीं जिन्हें तुम स्कूल में सीखते हो, बल्कि वस्तुओं के गभीरतम सत्य का अज्ञान, सत्ता के विधान का, धर्म का अज्ञान।

यहां यह ध्यान देने की बात है कि जिन दो बुराइयों पर ज़ोर

दिया गया है वे हैं आत्म-संयम का अभाव और निष्ठा का अभाव। निष्ठा का यहां अर्थ है निष्कपटता, ईमानदारी। "धम्मपद" अत्यन्त कठोर रूप में जिस चीज़ की निन्दा करता है वह है पाखण्ड; इस बात का झूठा दिखावा करना कि तुम आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हो और न बिताना, यह दिखावा करना कि तुम सत्य की खोज करना चाहते हो और न करना—दिव्य जीवन के प्रति अपने को उत्सर्ग कर देने के बाहरी चिह्न प्रदर्शित करना—यहां गेरुआ वस्त्र उस उत्सर्ग का प्रतीक है—पर भीतर स्वयं अपने साथ, अपने ही स्वार्थ और अपनी ही आवश्यकताओं में संलग्न रहना।

यहां मज़े की बात है आत्म-संयम पर 'धम्मपद' का आग्रह, क्योंकि बौद्ध शिक्षा के अनुसार, प्रत्येक बात में अति का होना बुरा है। बुद्ध सदा "मज्झम निकाय" (मध्यम पथ) पर सबसे अधिक ज़ोर देते हैं। तुम्हें कभी इस ओर या उस ओर बहुत अधिक नहीं चले जाना चाहिये, इस या उस वस्तु को अतिरञ्जित नहीं करना चाहिये। तुम्हें सभी बातों में एक मात्रा, सभी चीज़ों में सन्तुलन, मिताचार का सन्तुलन बनाये रखना चाहिये।

अतएव, जो गुण तुम्हें आध्यात्मिक जीवन-यापन करने का अधिकारी बनाते हैं वे हैं आन्तरिक सन्तुलन, अपने कर्म में सन्तुलन बनाये रखना और प्रत्येक विषय में संयत होना, सच्चा, ईमानदार, सत्यनिष्ठ होना।

सन्तुलन, संयम, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी : बस, यही आज हमारे ध्यान का विषय है।

८.११.१९५७

यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वै कासावमरहति।।

जिसने समस्त अशुद्धियों को त्याग दिया है, जो शील, अर्थात् नैतिक आचार-विचार में अच्छी तरह समाहित है, जो अपनी क्षुधाओं को वश में रखता है और जो सत्य से भरपूर है, वही सचमुच काषाय (वस्त्र) का अधिकारी है।

मैं नहीं चाहती कि तुम लोग 'धम्मपद' के इन वचनों को नैतिक प्रश्नोत्तर के रूप में स्वीकार करो। निश्चित रूप से इनमें अधिक गभीर और अधिक सच्चा अर्थ है, क्योंकि सभी यथार्थ आध्यात्मिक शिक्षाओं का उद्देश्य उस नैतिकता की शिक्षा देना नहीं होता जिसकी कल्पना लोग अपने मन के द्वारा करते हैं।

यही बात "अशुद्धि" शब्द के बारे में भी कही जा सकती है। नैतिक दृष्टि से शुद्ध शब्द को जिस रूप में समझा जाता है वही भाव उस शब्द को किसी सच्ची आध्यात्मिक शिक्षा में नहीं दिया जाता; और विशेषकर बौद्ध धर्म की दृष्टि से शुद्धि का अर्थ है अज्ञान का अभाव जैसा कि मैं पिछली बार तुम्हें बता चुकी हूं, और अज्ञान का मतलब है आन्तरिक विधान की, सत्ता के सत्य की उपेक्षा करना। और सत्यनिष्ठा का अर्थ है मिथ्या को ही सत्य न मान बैठना, परिवर्तनशील और क्षणिक बाह्य रूप को ही सत्ता का आन्तरिक और यथार्थ स्थायी रूप न स्वीकार करना।

अतएव, हम कह सकते हैं कि जो लोग आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने की साधना करना चाहते हैं उनके लिए अति आवश्यक कार्य है आत्म-संयम और आत्म-प्रभुत्व, सन्तुलन तथा निष्काम भाव को प्राप्त करना, सत्ता के आन्तरिक सत्य एवं उसकी आत्माभिव्यक्ति के नियमों को खोज निकालना।

अपने प्रति और अपने लक्ष्य के प्रति सच्चा होना, अव्यवस्थित आवेगों के द्वारा परिचालित न होना, परिवर्तनशील बाह्य रूपों को ही सद्वस्तु न मान बैठना आदि वे गुण हैं जो अध्यात्म-पथ पर प्रगति

करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य में अवश्य होने चाहियें।

१५.११.१९५७

—श्रीमां

सोसायटी समाचार

जैसी कि हमने जून के अंक में भी सूचना दी थी कि १५ अगस्त २००६ को श्रीअरविन्द का १३४वां जन्मोत्सव आश्रम तथा सोसायटी की सभी शाखाओं तथा केन्द्रों में मनाया जायेगा। इस उपलक्ष्य में सोसायटी के 'बीच ऑफिस' में १२, १३ तथा १४ अगस्त को श्रीअरविन्द सोसायटी का वार्षिक सम्मेलन होगा तथा १७ से २६ अगस्त तक 'बीच ऑफिस' में Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) पर अध्ययन-शिविर लगेगा। सवेरे ९ से १० तक, फिर १०.३० से ११.४५ तक यह शिविर चलेगा।

वडोदरा (गुजरात) फ़रवरी में श्रीअरविन्द आश्रम के प्रो. किट्टू रेड्डी ने वहां के 'टाउन हॉल' में भाषण दिया। विषय था — "Preparing for the future of India–An Action Plan" भाषण का आयोजन वडोदरा नगर निगम कॉर्पोरेशन ने किया था।

बांकुरा (प. बंगाल) शाखा ने १८ तथा १९ मार्च २००६ को युवा-शिविर का आयोजन किया जिसके सञ्चालक थे सूरत के कैवल्य स्मार्त।

नैरोबी (केन्या) केन्द्र ने १५, १६ तथा १७ मार्च को श्रीअरविन्द भवन में तीन दिवसीय कार्यक्रम रखा जिसमें पॉण्डिचेरी आश्रम के डॉ. आलोक पाण्डेय और श्री श्रद्धालु रानाडे ने श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के प्रकाश में विभिन्न विषयों पर भाषण दिये। १६ मार्च को वे नैरोबी के आगा खान अस्पताल के कई चिकित्सकों से भी मिले।

हेसल, रांची शाखा (झारखण्ड) में निर्मित ध्यान-कक्ष का उद्घाटन ४ अप्रैल २००६ को हुआ। इस हॉल में १५० से २०० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है।

गुलबर्गा (कर्णाटक) शाखा ने १६ अप्रैल से एक महीने का योगासन प्रशिक्षण-शिविर लगाया।

नॉएडा (उत्तर प्रदेश) शाखा ने १२ से १५ वर्ष के बच्चों के लिए १६ अप्रैल को एक शिविर का आयोजन किया जिसमें बच्चों को अपने जीवन को व्यवस्थित करने और सचेतन बनने के बारे में बतलाया गया।

इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) केन्द्र ने १६ अप्रैल को एक सम्मेलन किया जिसमें मानव-क्रम-विकास में श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के योगदान के बारे में चर्चा हुई।

Management by Consciousness (अवधि—४० मिनट) का एक ऑडियो सी.डी. ऑरोसर्विस ने निकाला है। इसका दाम १२५ रु. है (डाक-व्यय अतिरिक्त)। पूरी जानकारी के लिए कृपया Splendour—Auroservice, 16, Goubert Avenue, Pondicherry--605001 को सीधा पत्र लिखें।

1. The Mother's Ministry of Management और

2. Wanted: Business Sadhaks in India नामक दो लघु पुस्तिकाएं (प्रत्येक का दाम १० रु., साधारण डाक-व्यय के साथ) श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी ६०५००१ से उपलभ्य हैं।

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U A)

अगस्त २००६

रु. ७.००

37/1

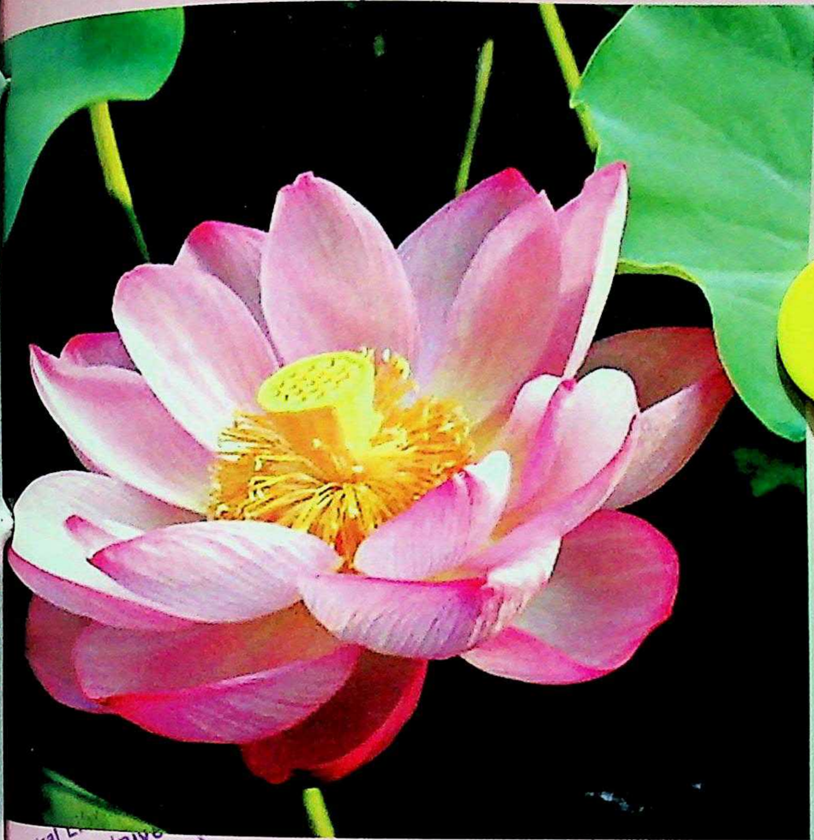

Central L
ukul Kangri Unive
idwar-249404 (U.A.)
Gbpant
10/Aug/06

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अग्निशिखा अगस्त २००६ वर्ष ३७, अंक १, पूर्णांक ४३

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां
दैनन्दिनी

श्रीअरविन्द राष्ट्रीय शिक्षा के बारे में

सौ साल पहले ४
राष्ट्रीय शिक्षा की भूमिका ६
राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति : १३
मानव मन १४
मन की शक्तियां १७
नैतिक स्वभाव २१
समकालिक और अनुक्रमिक शिक्षण २६
अभ्यास द्वारा इन्द्रियों का विकास ३१
मानसिक क्षमताओं का प्रशिक्षण ३३

मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

अवतार—शरीर में अवतरित परम

(लाल कमल श्रीअरविन्द का पुष्प है)

वानस्पतिक नाम—Nelumbo nucifera

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

विद्यालय विद्यार्थियों को सोचने, अध्ययन करने, प्रगति करने और हो सके तो बुद्धिमान् बनने की तैयारी करवाने के लिए है—यह सब केवल विद्यालय में ही नहीं, **सारे जीवन में** चलता रहना चाहिये।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

अगस्त

१. तूफ़ान समुद्र की सतह पर ही है, गहराइयों में सब कुछ अचञ्चल है।

२. अगर तुम्हारे अपने हृदय में शान्ति न हो तो तुम उसे और कहीं भी न पा सकोगे।

३. शुद्धि पूर्ण सचाई है और यह तुम्हें तबतक नहीं मिल सकती जबतक तुम पूरी तरह भगवान् को अर्पित न होओ।

४. नम्रता और सच्चाई सबसे अच्छे रक्षक हैं। उनके बिना एक-एक पग खतरनाक है, उनके साथ विजय निश्चित है।

५. अपनी श्रद्धा के प्रति सदा निष्ठावान् रहो तो तुम्हें कोई दुःख न होगा।

६. अध्यवसायी संकल्प सभी कठिनाइयों पर विजय पाता है।

७. तुम्हें अपनी अभीप्सा को स्थायी रखना और अपने प्रयास में धीरज धरना चाहिये, तभी सफलता निश्चित है।

८. हम अपने प्रयास में स्थिर और अपने निश्चय में शान्त और दृढ़ रहें तो निश्चय ही लक्ष्य तक जा पहुंचेंगे।

९. ठीक दिशा में किये गये प्रयास सभी विघ्न-बाधाओं को तोड़ देते हैं।

१०. जो पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता है उसे मार्ग की कठिनाइयों के बारे में कभी शिकायत न करनी चाहिये क्योंकि हर कठिनाई एक नयी प्रगति का अवसर है।

११. तुम जो आज नहीं कर पा रहे हो उसे कल चरितार्थ कर लोगे। डटे रहो और तुम्हारी विजय होगी।

१२. हमेशा अपना अच्छे-से-अच्छा करो और परिणामों को भगवान् देख लेंगे।

१३. अचञ्चल सहनशीलता सफलता का निश्चित मार्ग है।
१४. धैर्य के साथ किसी भी कठिनाई को पार किया जा सकता है।
१५. धीरज और अध्यवसाय के साथ सभी प्रार्थनाएं सफल होती हैं।
१६. अपने दोषों को पहचानना श्रेष्ठतम साहस है।
१७. स्थिर आशा मार्ग में बहुत सहायता देती है।
१८. अगर तुम जीवन पर सदा मुस्कुरा सको तो जीवन भी सदा तुम पर मुस्कुरायेगा।
१९. सुखी है वह आदमी जो भगवान् से प्रेम करता है क्योंकि भगवान् हमेशा उसके साथ रहते हैं।
२०. हमेशा याद रखो कि तुम जो सुख पाओगे वह उस सुख पर निर्भर होगा जो तुम देते हो।
२१. भगवान् के आगे एक नवजात शिशु के समान होने से बढ़कर कोई आनन्द नहीं है।
२२. सत्य की पूजा करो, वह तुम्हें मिथ्यात्व से मुक्त कर देगा।
२३. क्रोध किये बिना औरों की रायों को सुन सकना एक बड़ी और उपयोगी चीज़ है।
२४. क्रोध ने किसी से मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं कहलवाया।
२५. तुम जितना अधिक बुड़बुड़ाओगे, तुम्हारे दुःख-दर्द उतने ही अधिक बढ़ेंगे।
२६. हर एक अपने-आप अपने दुःखों का शिल्पी होता है।
२७. निश्चय ही दूसरों की भूलों के बारे में बोलना बहुत बुरा है, हर एक के अपने दोष होते हैं और उन्हीं के बारे में सोचते रहना निश्चय ही उन्हें ठीक करने में सहायता नहीं पहुंचाता।
२८. अपने जीवन की परिस्थितियों के बारे में शिकायत करना हमेशा ग़लत होता है, क्योंकि वे, हम अपने-आपमें जो कुछ हैं उसकी बाहरी अभिव्यक्ति होती हैं।

२९. परिस्थितियां हमेशा छिपी हुई दुर्बलताओं को प्रकट करने के लिए आती हैं ताकि उन्हें जीता जा सके।

३०. तुम्हारे रास्ते में कठिनाइयां आती हैं इससे पता चलता है कि तुम्हारे अन्दर सम्भावनाएं हैं, डरो मत, चलते चलो।

३१. कठिनाइयां हमेशा हमसे प्रगति करवाने के लिए आती हैं, कठिनाइयां जितनी बड़ी होंगी, प्रगति उतनी ही बड़ी हो सकती है। विश्वास रखो और सहन करो।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द राष्ट्रीय शिक्षा के बारे में

सौ साल पहले

(श्रीअरविन्द तथा राष्ट्रीय शिक्षा)

बड़ौदा में श्रीअरविन्द १३ वर्षों तक कार्यरत रहे। इसका एक तिहाई भाग उन्होंने बड़ौदा-कॉलेज में फ्रेंच और अंग्रेज़ी अध्यापन-कार्य में बिताया, पहले उप-प्रधानाध्यापक के रूप में, फिर १९०५-०६ की अवधि में सक्रिय प्रधानाध्यापक के तौर पर। लेकिन श्रीअरविन्द को "ब्रिटिश पद्धति से पढ़ाने के तरीके से 'घृणा' हो गयी थी जिस पद्धति का उन्होंने बड़ौदा-काल के अध्यापन में पूरा-पूरा अनुभव कर लिया था। उन्होंने अनुभव किया कि यह पद्धति नीरस, उबाऊ है जो स्वाभाविक रूप से तेज़ और प्रतिभाशाली भारतीय मस्तिष्क को संकीर्णता के चौखटे में कस देती है।" साथ ही श्रीअरविन्द बंगाल की राष्ट्रीय गतिविधियों में खुले तौर पर भाग लेने के लिए सुअवसर ढूंढ़ रहे थे। बंगाल नैशनल कॉलेज की स्थापना से उन्हें

वह अवसर मिल गया और तब वे बड़ौदा से सेवानिवृत्त हो इस कॉलेज में प्रधानाध्यापक की हैसियत से नियुक्त हो गये। इस कॉलेज की स्थापना के लिए सुबोध मल्लिक (बाद में राजा सुबोध मल्लिक के नाम से विख्यात) ने एक लाख रुपये दिये थे और साथ ही यह शर्त भी रखी थी कि श्रीअरविन्द को कॉलेज में उपयुक्त पद मिले। यहां उनकी मासिक आमदनी १५० रु. थी जब कि बड़ौदा में ४५० रु. थी। लेकिन श्रीअरविन्द इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे।

बंगाल नैशनल कॉलेज तथा स्कूल का उद्घाटन-समारोह कलकत्ता के टाउन हॉल में १४ अगस्त १९०६ को (सौ साल पहले) हुआ था। अगले दिन, १५ अगस्त, श्रीअरविन्द की चौंतीसवीं वर्षगांठ पर कॉलेज का शुभारम्भ हुआ। कॉलेज के आरम्भ होने के कुछ ही समय पहले श्रीअरविन्द 'बन्दे मातरम्' पत्र के साथ जुड़े थे और शुरू से ही कॉलेज की अपेक्षा उनका रुजहान इस पत्र और इसके पीछे के राजनीतिक दल की ओर ज़्यादा था। हालांकि श्रीअरविन्द ने कहा था कि उनके और कॉलेज के अध्यक्षों के बीच कोई मतभेद न था लेकिन यह तो निश्चित है कि कॉलेज उन्हें इतने अवसर न दे पाया जितने की उन्होंने आशा की थी कि वे इसके द्वारा सचमुच शिक्षा को राष्ट्रीय धारा में विकसित कर अपने देश की सच्ची सेवा कर पायेंगे, क्योंकि आखिर बालक ही तो देश का भविष्य गढ़ते हैं। फिर भी पूरे एक साल तक उन्होंने प्रधानाध्यापक के पद पर रहते हुए नियमित रूप से पढ़ाया। जब उनके विरुद्ध 'बन्दे मातरम्' का केस दायर किया गया तब उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया ताकि कॉलेज के अध्यक्ष किसी भी परेशानी में न पड़ें।

(अग्निशिखा के इस अंक में हम 'राष्ट्रीय शिक्षा' के बारे में श्रीअरविन्द के कुछ विचार प्रकट कर रहे हैं।—सं.)

राष्ट्रीय शिक्षा की भूमिका

आधुनिक बुद्धि ने विश्वविद्यालय की शिक्षा को एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में अनिवार्य और शुद्ध रूप से हितकर मान लिया है। कोई भी प्रबुद्ध राष्ट्रीय चेतना या उदार मानस इस पर उंगली नहीं उठा सकता। यह सिद्धान्त भले तर्क के परे हो या न हो, यह तो माना ही जा सकता है कि वह आज की जाति के बौद्धिक और प्राणिक प्रयास की एक बड़ी आवश्यकता को पूरा करता है। लेकिन किसी ऐसे न्यायसंगत या प्रबुद्ध विचार पर कोई व्यापक सहमति नहीं है कि आखिर शिक्षा है क्या, या व्यावहारिक रूप में या आदर्श-रूप में कैसी होनी चाहिये। इस अनिश्चितता की स्थिति के साथ यह मांग भी जोड़ दी जाये कि शिक्षा राष्ट्रीय प्रकार की हो तो स्थिति ज़्यादा कठिन हो जाती है। हमारे देश की विशेष स्थिति में जहां एशियाई और यूरोपीय चेतनाओं का, उनके द्वारा निर्मित विभिन्न सभ्यताओं का और अंग्रेज़ तथा भारतीय मानस और संस्कृति का आपस में संघर्ष होता है, इतना ही नहीं, जहां राजनीतिक दासता ने शिक्षा देने का पूरा-पूरा अधिकार विदेशियों के हाथों में छोड़ दिया है, स्थिति गम्भीर हो जाती है। इस विषय पर स्पष्ट विचारों के अभाव में ज़्यादा सम्भावना यही रहती है, और हुआ भी यही है, कि बहुत बड़ा और अशान्तिजनक गड़बड़झाला पैदा हो जाता है।

क्योंकि, अगर हम स्पष्ट रूप से यह नहीं जानते कि सामान्य शिक्षा सचमुच क्या है या होनी चाहिये, तो यह उससे भी कम जानते हैं कि राष्ट्रीय शिक्षा से हमारा क्या मतलब है। ऐसा लगता है कि एक बात है जिससे प्रायः सभी सहमत हैं—वर्तमान विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है वह बुरी है, और फिर राष्ट्रीयता का हनन करने वाली है, राष्ट्रीय मानस-आत्मा और चरित्र

को नीचा गिराने वाली और दरिद्र बनाने वाली है, क्योंकि उसके ऊपर विदेशी हाथ की छाया है। उसका लक्ष्य, उसका तरीका, उसका तात्पर्य और भावना सब कुछ विदेशी है। लेकिन यह शुद्ध रूप से नकारात्मक समझौता हमारी बहुत सहायता नहीं करता। वह हमें यह नहीं बतलाता कि सिद्धान्त-रूप में या व्यवहार में हम चाहते क्या हैं, इस पद्धति के स्थान पर किस चीज़ को बिठाया जाये? इस विशेषण में भले बहुत-से गुण हों, पर किसी भी विद्यालय, महाविद्यालय, समिति या शिक्षा-परिषद् के नाम के साथ राष्ट्रीय विशेषण का बिल्ला लगा देने से और उसे ऐसे देसी लोगों के हाथ में रख देने से, जिनमें से अधिकतर ने उसी पद्धति से शिक्षा पायी है जिसका हम विरोध कर रहे हैं, उसी कलंकित पद्धति को कुछ थोड़े-से अन्तर के साथ, कुछ घटा-बढ़ाकर, विस्तार और पाठ्यक्रम में थोड़ा-सा फेर-फार करके, ज़रा-से तकनीकी पहलू को अपनाकर यह मान बैठने से कि हमने समस्या का हल कर दिया, कुछ भी नहीं बदलता। इस प्रकार की तरकीब से सन्तुष्ट हो जाना ऐसा ही है जैसे कलाबाज़ी करके बौद्धिक गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के इर्द-गिर्द घूमकर फिर वहीं आ जाना जहां हम थे—यह मान लेना कि हम एक और ही देश में आ गये हैं, स्पष्ट ही एक बहुत ही असन्तोषजनक कार्रवाई होगी। इस नये नाम से चलने वाली संस्थाएं अन्य संस्थाओं से ज़्यादा अच्छी शिक्षा दे रही हों या न दे रही हों, परन्तु वे किस अर्थ में अधिक राष्ट्रीय हैं यह बात अधिक-से-अधिक सहानुभूति रखने वाली आलोचक बुद्धि के लिए भी स्पष्ट नहीं है।

वास्तव में समस्या है कठिनाई पार करने की, यह खोज निकालना आसान नहीं है कि विचार या व्यवहार के किस बिन्दु से शुरू किया जाये, किस सिद्धान्त पर रचना की जाये या नये भवन का नक्शा किस दिशा में बनाया जाये। अवस्थाएं जटिल हैं और जिस चीज़ का

निर्माण करना है वह एक तरह से एकदम नयी है। हम किसी ऐसे पुराने सिद्धान्त, पद्धति या उपाय के पुनरुत्थान मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो सकते जिसका कभी प्राचीन भारत में चलन था, वह चाहे जितना महान् और भारत तथा उसकी संस्कृति के साथ समस्वर रहा हो...। दूसरी ओर अंग्रेज़, जर्मन या अमरीकन विद्यालय या विश्वविद्यालय को कुछ थोड़े-से हेर-फेर के साथ अपना लेना और उस पर ज़रा-सी भारतीयता की ओप लगा देना ज़्यादा आकर्षक रूप से सरल है और इसमें हम सोच-विचार या नये परीक्षण करने की आवश्यकता से बच जाते हैं। लेकिन उस अवस्था में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के बारे में बहुत-सा ऊधम मचाने की ज़रूरत नहीं रहती। आवश्यकता रह जाती है केवल शिक्षा का नियन्त्रण और माध्यम बदलने की, पाठ्यक्रम के ढांचे और साज़-सामान में कुछ हेर-फेर करने की और कुछ हद तक विषयों का सन्तुलन बदलने की। मैं आशा करता हूं कि हमारे मन में इससे ज़्यादा गहरी, महान् और सूक्ष्म चीज़ की खोज है। उसे रूप देने में चाहे जितनी कठिनाइयां आयें, हम एक ऐसी शिक्षा चाहते हैं जो भारतीय आत्मा के अनुकूल हो। यहां की आवश्यकताओं, यहां के स्वभाव और यहां की संस्कृति के साथ मेल खाती हो। हम ऐसी चीज़ की खोज में नहीं हैं जो केवल हमारे भूतकाल की अनुकृति हो, बल्कि विकसनशील भारतीय आत्मा, उसकी भावी आवश्यकताओं, उसके भावी आत्म-निर्माण की महानता और उसकी शाश्वत आत्मा के अनुरूप हो। हमें अपने मन में इस चीज़ को स्पष्ट कर लेना है और इसके लिए हमें मौलिक तत्त्वों तक उतरना और उन्हें बड़े अंश में कार्यान्वित करना शुरू करने से पहले उन्हें मज़बूत बनाना है। अन्यथा, इससे आसान और कुछ नहीं है कि झूठी, परन्तु ऊपर से आकर्षक लगने वाली पुकार के उत्तर में या एक ग़लत आरम्भ-बिन्दु से चल कर सच्चे रास्ते से भटक

कर ऐसी राह पर जा पड़ना जो हमें किसी लक्ष्य की ओर नहीं, रिक्तता और असफलता की ओर ले जाती है।

लेकिन सबसे पहले हमें इस अशक्त करने वाली आपत्ति को अपने मार्ग से दूर करना होगा या कम-से-कम उसे अपने स्थान पर बैठाना होगा कि राष्ट्रीय शिक्षा के विचार का कोई अर्थ नहीं है या कम-से-कम ऐसा कोई अर्थ नहीं हो सकता जिसके लिए कोई कष्ट उठाया जाये। राष्ट्रीय शिक्षा की धारणा ही एक मिथ्या और संकरे देशप्रेम का एक ऐसे क्षेत्र में अवाञ्छनीय, अहितकर, अनधिकार प्रवेश है जहां उसके लिए कोई वैध स्थान नहीं। यहां देशप्रेम का बस इतना ही स्थान हो सकता है कि अच्छे नागरिक होने की शिक्षा दी जाये और उस एक उद्देश्य के लिए किसी विशेष प्रकार या रूप की शिक्षा की ज़रूरत नहीं है क्योंकि अच्छा नागरिक होने की शिक्षा अपने मूल तत्त्वों में सभी जगह एक-सी होगी, चाहे वह पूर्व में हो या पश्चिम में, चाहे इंग्लैण्ड या जर्मनी में हो या जापान या हिन्दुस्तान में। मानवजाति और उसकी आवश्यकताएं सब जगह एक-सी हैं, सत्य और ज्ञान एक हैं और उनका कोई देश नहीं होता। शिक्षा भी सार्वभौम होनी चाहिये जिसमें कोई राष्ट्रीयता न हो, कोई सीमाएं न हों। उदाहरण के लिए, भौतिक विज्ञान के राष्ट्रीय शिक्षण का क्या अर्थ हो सकता है? क्या इसका यह मतलब है कि हमें आधुनिक सत्य और विज्ञान की आधुनिक शिक्षा-पद्धति को त्याग देना चाहिये, क्योंकि ये यूरोप से आये हैं और हमें प्राचीन भारत के अपूर्ण विज्ञान की ओर लौट जाना चाहिये, हमें गैलिलियो, न्यूटन और उनके बाद आनेवालों को देशनिकाला दे देना चाहिये और केवल वही पढ़ाना चाहिये जो भास्कर, आर्य भट्ट और वराह मिहिर जानते थे? या संस्कृत तथा अन्य जीवित भारतीय भाषाओं की पढ़ाई लैटिन तथा यूरोप की अन्य जीवित भाषाओं की पढ़ाई से किस प्रकार भिन्न

होगी? तो क्या हमें फिर से नदिया की चटशाला-पद्धति या अगर हम खोज सकें तो तक्षशिला और नालन्दा की शिक्षा-पद्धतियों को अपनाना होगा? अधिक-से-अधिक यह मांग की जा सकती है कि हमारे देश के भूतकाल का कुछ अधिक अध्ययन हो, माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी के स्थान पर स्थानीय भाषाएं आ जायें और अंग्रेज़ी एक गौण भाषा के रूप में रह जाये। आखिर हम बीसवीं शती में रहते हैं और चन्द्रगुप्त या अकबर के भारत को पुनरुज्जीवित नहीं कर सकते। हमें सत्य और ज्ञान की दौड़ में आगे रहना चाहिये और अपने-आपको वास्तविक परिस्थितियों में जीने के योग्य बनाना चाहिये। इसलिये हमारी शिक्षा को अपने रूप और तत्त्व की दृष्टि से अद्यतन और जीवन तथा भावना में आधुनिक होना चाहिये।

ये सब आपत्तियां तभी संगत हो सकती हैं जब वे किसी ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध हों जो इसे अन्धकारमय अवनति का साधन बनाये, जो उन अतीत के रूपों की ओर ले जाये जो एक बार हमारी संस्कृति के सजीव ढांचे थे परन्तु अब मर चुके हैं या मरणासन्न हैं। लेकिन हमारा यह विचार या प्रयास नहीं है। राष्ट्रीय शिक्षा की मांग का जीता-जागता भाव यह नहीं चाहता कि हम भास्कराचार्य के गणित और ज्योतिष की ओर वापिस जायें या नालन्दा की शिक्षा-पद्धति अपनायें। यह उसी तरह है जैसे स्वदेशी की भावना रेल या मोटर परिवहन की जगह रथ या बैलगाड़ी की ओर वापिस नहीं ले जाती। निश्चय ही चारों ओर बहुत-सी प्रतिगामी भावुकता फैली हुई है और असली समस्या को खटाई में डालने के लिए सामान्य बुद्धि और तर्क-बुद्धि पर विचित्र अत्याचार हुए हैं और व्यर्थ करने वाली सनकें पैदा हुई हैं। ये परिणामहीन, मनमौजी प्रवृत्तियां सारी चीज़ को एक झूठा रंग दे देती हैं। हमें भावना के साथ, जीवित-जाग्रत् और प्राणवान सत्ता के साथ काम है। इसमें प्राचीन

और अर्वाचीन का प्रश्न नहीं है। यहां चुनाव है बाहर से लायी गयी सभ्यता और भारतीय मन और स्वभाव की अधिक महान् सम्भावनाओं के बीच, वर्तमान और अतीत के बीच नहीं, वर्तमान और भविष्य के बीच। पांचवीं शताब्दी की ओर वापिस जाने की नहीं, आने वाली शताब्दियों के उपक्रम की मांग है...।

सबसे पहले राष्ट्रीय शिक्षा के विरुद्ध तर्क-वितर्क इस निर्जीव धारणा से आरम्भ होता है कि किसी विषय को सीख लेना, इस या उस प्रकार की जानकारी प्राप्त कर लेना ही समस्त कार्य या केन्द्रीय वस्तु है। लेकिन विभिन्न प्रकार की जानकारियां प्राप्त करना शिक्षा की आवश्यकताओं में से एक है और वह भी मुख्य आवश्यकता नहीं है; उसका केन्द्रीय उद्देश्य है मानव मन और आत्मा की शक्तियों का निर्माण...। यह बात पर्याप्त रूप में सत्य है कि अगर हम केवल इतना ही चाहते हैं कि विज्ञान ने हमारे आगे जो जानकारियां सुलभ कर दी हैं उन्हीं को पा लें तो पश्चिम के विज्ञान को कच्चा निगल जाना या सावधानी से बनाये गये ग्रासों में लेना काफ़ी होगा। परन्तु बड़ा प्रश्न यह नहीं है कि हम कौन-सा विज्ञान सीखते हैं। सवाल यह है कि हम अपने विज्ञान से क्या और कैसे करेंगे, वैज्ञानिक मन और वैज्ञानिक खोज की आदत को फिर से पाकर क्या करेंगे? मैं यहां इस सम्भावना को एक ओर रखे देता हूं कि स्वाधीनतापूर्वक अपने स्वभाव के अनुसार काम करता हुआ भारतीय मानस भौतिक विज्ञान की नयी पद्धतियां खोज निकालेगा या भौतिक विज्ञान को एक नया मोड़ देगा। हम उसका नाता मानव मन की अन्य शक्तियों और भौतिक विज्ञान के अन्य ज्ञान के साथ जोड़ेंगे जो हमारी बुद्धि और स्वभाव के अधिक प्रकाशदायक और शक्तिदायक भागों के साथ अधिक अन्तरंग सम्बन्ध रखता हो। और इसमें भारतीय मानस की विशेष रंगत, उसकी मनोवैज्ञानिक परिपाटी, उसकी आनुवंशिक क्षमता,

उसके झुकाव और ज्ञान ऐसे सांस्कृतिक तत्त्व ले आते हैं जिनका बहुत अधिक महत्त्व है...। मुख्य प्रश्न है कि हम संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं को किस तरह सीखें, कि हम अपनी निजी संस्कृति के हार्द और अन्तर्तम तक पहुंचकर अपने अतीत की अभी तक जीवित शक्ति और अभी तक असृष्ट भविष्य की शक्ति में स्पष्ट तादात्म्य कैसे पैदा करें। हम अंग्रेज़ी या कोई विदेशी भाषा किस तरह सीखें और उसका उपयोग कैसे करें ताकि अन्य देशों के जीवन, विचार और संस्कृति को भली-भांति जान सकें और अपने चारों ओर के जगत् के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकें। सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का यही उद्देश्य और सिद्धान्त है। हमारा लक्ष्य आधुनिक सत्य और ज्ञान की अवहेलना नहीं है, हम अपनी नींव अपनी ही सत्ता, अपने मानस और अपनी आत्मा पर रखना चाहते हैं।

... ज़्यादा अच्छा यह होगा कि यूरोप जो भी न्यायसंगत विचार और नया ज्ञान दे सकता है उसे लेकर हम अपने ज्ञान, अपनी संस्कृति, अपने स्वभाव और भाव, अपने मानस और अपनी सामाजिक प्रतिभा में आत्मसात् कर लें, और उसमें से भविष्य की सभ्यता का निर्माण करें। अब पश्चिम की वैज्ञानिक तर्कसंगत, औद्योगिक, गणतन्त्र का आभास देने वाली सभ्यता विलीन होने की प्रक्रिया में है। अगर हम इस डूबती हुई नींव पर अंधाधुंध अपनी दीवार खड़ी करने लगें तो यह विक्षिप्त असंगति होगी। आज जब कि यूरोप के सबसे अग्रगण्य मनीषी पश्चिम की इस सान्ध्यवेला में नयी और आध्यात्मिक सभ्यता के लिए एशिया की प्रतिभा की ओर आशा के साथ टकटकी लगाये हैं, यह एक विचित्र बात होगी कि हम अपने स्व और अपनी सम्भाव्यताओं को फेंक कर यूरोप के विलीन होते हुए, मरणासन्न भूत पर अपना विश्वास टिकायें।

और अन्त में सारी आपत्ति इस धारणा पर आधारित होती है

कि मनुष्य का मन सब जगह एक ही है और हर जगह उसे एक ही मशीन में से गुज़ारा जा सकता है और एक ही रूप में फ़रमाइश के अनुसार गढ़ा जा सकता है। यह तर्क-बुद्धि का पुराना और जीर्णशीर्ण अन्धविश्वास है और अब समय आ गया है कि इसे तिलाञ्जलि दे दी जाये। क्योंकि वैश्व मन और मानवजाति की आत्मा के अन्दर व्यष्टिगत मन और आत्मा होती है जिसमें अनन्त प्रकार की विभिन्नताएं होती हैं, अति सामान्यता होती है और विलक्षणता भी होती है और इन दोनों के बीच एक मध्यस्थ शक्ति होती है—राष्ट्र का मानस, प्रजा की आत्मा। और अगर शिक्षा को मशीन की बनी हुई इमारत नहीं बनना है, अगर वह मनुष्य के मन और आत्मा का आवाहन बनना चाहे, सत्य का भवन बनना चाहे तो उसे इन तीनों का ख्याल रखना होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति

कुछ प्रारम्भिक विचार

प्रकाशक का वक्तव्य—

ये लेख पहले १९१० में साप्ताहिक 'कर्मयोगी' में छपे थे। पर ये हैं अपूर्ण ही, राष्ट्रीय शिक्षा के असली विषय को तो अभी इसमें छुआ नहीं गया, बस कुछ संकेत भर दिये हैं। ये लेख इसी रूप में फिर से छाप दिये जायें यह लेखक का इरादा न था। पर परिस्थिति ने आवश्यक बना दिया कि इनका संस्करण निकाला जाये। वर्तमान समय में ये लेख प्रस्तावना-रूप हैं जो बतलाते हैं कि पढ़ाने की सही पद्धति के कुछ सामान्य नियम कैसे होने चाहियें जो किसी भी देश

में अपनायी जा सके। अभी तो यह भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा के लिए एक प्रस्तावना भर है।

मानव मन

शिक्षा का सच्चा आधार है मानव मन का, बालक, कुमार और वयस्क मन का अध्ययन। पण्डिताऊ पूर्णता पर आधारित कोई भी शिक्षा-पद्धति, जो शिक्षा के यन्त्र की उपेक्षा करती है, वह पूर्ण रूप से साधनसम्पन्न मन तैयार करने की जगह बौद्धिक विकास में सम्भवतः बाधा डालेगी और रोड़े अटकायेगी क्योंकि शिक्षक को कलाकार या मूर्तिकार की तरह निर्जीव द्रव्य से नहीं, अत्यधिक सूक्ष्म और संवेदनशील जीव से काम पड़ता है। वह मानव काष्ठ या पत्थर में से उत्कृष्ट शैक्षिक कलाकृति नहीं गढ़ सकता। उसे मन के मुश्किल से पकड़ में आने वाले पदार्थ को लेकर काम करना पड़ता है और भंगुर शरीर के द्वारा बनायी सीमाओं का ख्याल रखना पड़ता है।

इसमें कोई शक नहीं कि प्राचीन पद्धतियों की अपेक्षा आज की यूरोपीय शिक्षा-पद्धति बहुत आगे बढ़ी हुई है, लेकिन उसकी त्रुटियां भी साफ दिखायी देती हैं। वह मानव मनोविज्ञान के अपर्याप्त ज्ञान पर आधारित है। संकटपूर्ण परिणामों से यूरोप की सुरक्षा बस इसी बात में है कि वहां का सामान्य विद्यार्थी प्रचलित पद्धति के आधीन नहीं चलता, वह बस उतना ही पढ़ता है जितना दण्ड से बचने के लिए या तात्कालिक परीक्षा पास करने के लिए ज़रूरी है। वह शारीरिक व्यायाम और सक्रिय आदतों में लगा रहता है। भारत में इस पद्धति के संकटपूर्ण प्रभाव शरीर, मन और चरित्र पर बहुत स्पष्ट दिखायी देते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में पहली समस्या है एक ऐसी शिक्षा देना जो यूरोपीय शिक्षा के जितनी ही व्यापक तो हो, पर

साथ ही अधिक पूर्ण भी हो, उसमें तनाव या रटने के दोष न हों। यह केवल ज्ञान के उपकरणों का अध्ययन करने और पढ़ाने की ऐसी पद्धति खोज निकालने से हो सकता है जो स्वाभाविक, सरल और प्रभावकारी हो। इन उपकरणों को उनकी क्षमता के अनुसार अधिक-से-अधिक मज़बूत और तेज़ बनाकर ही उन्हें आधुनिक परिस्थितियों के बढ़े हुए कार्यभार के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है। मन की मांसपेशियों को सरल और सहज उपायों से प्रशिक्षित करके ही, उसके बिना नहीं, उनसे बौद्धिक बल के बड़े-बड़े कामों की आशा की जा सकती है।

सच्चे शिक्षण का पहला सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। अध्यापक कोई प्रशिक्षक या कठोर अधिकारी नहीं है, वह सहायक और पथ-प्रदर्शक है। उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थी के मानस को प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बतलाता है कि अपने ज्ञान के उपकरणों को कैसे पूर्ण बनाया जाये और वह उसे इस कार्य में सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता, वह उसे यह बतलाता है कि अपने लिए ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये। वह अन्दर स्थित ज्ञान को प्रकट नहीं करता; वह केवल यह दिखलाता है कि वह कहां रखा है और उसे ऊपरी तल पर आने के लिए कैसे अभ्यस्त किया जा सकता है। जो प्रभेद इस सिद्धान्त को केवल वयस्क और किशोर मन की शिक्षा के लिए आरक्षित रखता है और बालक के लिए उसे लागू करने से इन्कार करता है वह एक पुराणपन्थी और नासमझ सिद्धान्त है। बालक हो या पुरुष, लड़का हो या लड़की, शिक्षा देने का एक ही अच्छा सिद्धान्त है। उम्र का भेद आवश्यक सहायता और पथ-प्रदर्शन की मात्रा को घटा-बढ़ा सकता है। इससे चीज़ की प्रकृति नहीं बदलती।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन के विकास में स्वयं उसकी सलाह ली जाये। बच्चे को हथौड़ी मार-मार कर माता-पिता या अध्यापक के चाहे हुए रूप में गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अन्ध-विश्वास है। विद्यार्थी को यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विस्तार करे। मां-बाप के लिए इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहले से ही तय कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएं, विचार या विशेषताएं विकसित करेगा या उसे पहले से ही निश्चित अमुक प्रकार की जीविका के लिए तैयार किया जाये। प्रकृति को इस बात के लिए बाधित करना कि वह स्वधर्म छोड़ दे, उसे स्थायी क्षति पहुंचाना, उसके विकास को विकृत करना और उसकी पूर्णता को विरूप कर देना है। यह मानव आत्मा पर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है, राष्ट्र पर एक आघात है जिसके कारण वह मनुष्य के सर्वोत्तम कार्य के लाभ से वञ्चित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य चीज़ स्वीकार करने के लिए बाधित होता है। हर एक में कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है। भगवान् स्वीकार करने या त्याग देने के लिए एक क्षेत्र देते हैं, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, जिसमें वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये अन्तरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अन्तर की अच्छी-से-अच्छी चीज़ को बाहर लाये और उसे किसी उदात्त उपयोग के लिए पूर्ण बनाये।

शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त है निकट से दूर की ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः हमेशा ही मनुष्य के स्वभाव का आधार उसकी आत्मा के अतीत के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी चीज़ों पर निर्भर होता है, जैसे : उसकी आनुवंशिकता,

उसका पास-पड़ोस, उसकी राष्ट्रीयता, उसका देश, वह धरती जहां से वह आहार पाता है, वह हवा जिसमें वह सांस लेता है, वे दृश्य, वे आवाज़ें और वे आदतें जिनका वह अभ्यस्त होता है। ये चीज़ें उसके जाने बिना, लेकिन इस कारण कम बल के साथ नहीं, उसको ढालती हैं। और हमें वहीं से शुरू करना चाहिये। हमें स्वभाव को उस ज़मीन में से जड़ों से नहीं उखाड़ देना चाहिये जहां उसे पनपना है। मन को ऐसे बिम्बों और ऐसे जीवन के विचारों से नहीं घेर देना चाहिये जो उस जीवन के विरोधी हों जिनमें उसे भौतिक रूप से हिलना-डुलना है। अगर बाहर से कोई चीज़ लानी है तो मन पर ज़ोर से आरोपित न की जाये, वह उसे भेंट की जा सकती है। सच्चे विकास के लिए एक ज़रूरी शर्त है : स्वाभाविक और मुक्त वृद्धि। ऐसी आत्माएं होती हैं जो अपने परिवेश के विरुद्ध विद्रोह करती हैं और ऐसा लगता है कि वे किसी और ही युग, किसी और ही देश की हैं। उन्हें अपनी पसन्द का अनुसरण करने दो। लेकिन कृत्रिम रूपों में ढाले जाने पर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं। भगवान् की व्यवस्था है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र-विशेष, देश, युग, समाज के हों। वे अतीत के बालक, वर्तमान के भोक्ता और भविष्य के निर्माता हों। अतीत हमारी नींव है, वर्तमान हमारा उपादान है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में हर एक को अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिये।

मन की शक्तियां

शिक्षक का उपकरण है मन या अन्तःकरण जिसके चार स्तर होते हैं। पिछले मानसिक संस्कारों का भण्डार या स्मृतियों का गोदाम —चित्त; इसे स्मरण की क्रिया-विशेष से अलग देखना चाहिये। यही

नींव है। और सभी स्तर इसी पर आधारित हैं। सभी अनुभूतियां हमारे अन्दर निष्क्रिय या सम्भाव्य स्मृति के रूप में रहती हैं। सक्रिय स्मृति अपनी आवश्यकता के अनुसार उस भण्डार में से चुनती और लेती है। लेकिन सक्रिय स्मृति एक ऐसे आदमी की तरह है जो ताले में बन्द बहुत बड़ी राशि में से कुछ ढूंढ़ रहा है। कभी-कभी वह उस चीज़ को नहीं पाता जिसे वह खोज रहा है। बहुधा अपनी तेज़ खोज में ऐसी बहुत-सी चीज़ों के साथ ठोकर खाता है जिनकी उसे तत्काल ज़रूरत नहीं है। और बहुधा वह भूल कर बैठता है और सोचता है कि उसे वास्तविक चीज़ मिल गयी है जब कि वह कोई और ही चीज़ होती है जिस पर उसका हाथ जा पड़ता है। वह एकदम बेकार नहीं तो अप्रासंगिक तो होती ही है। निष्क्रिय स्मृति या चित्त को किसी प्रशिक्षण की ज़रूरत नहीं होती। वह स्वतःचालित और स्वाभाविक रूप से अपने काम के लिए पर्याप्त होती है। उसके क्षेत्र में आने वाले ज्ञान के विषय का एक कण भी ऐसा नहीं होता जो उस अद्भुत आधार में सुरक्षित रूप से, बिना भूल के अपने स्थान पर न रखा जाये। सक्रिय स्मृति को, जो उच्चतर परन्तु कम विकसित क्षमता है, उन्नत करने की ज़रूरत है।

दूसरा स्तर है मानस, भारतीय मनोविज्ञान की छठी ज्ञानेन्द्रिय जिसमें और सभी समाये होते हैं। मन या मानस का काम है वस्तुओं के बिम्ब को दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्वाद और स्पर्श के द्वारा प्राप्त करना और फिर उन्हें विचार-संवेदनों में अनूदित करना। वह अपने सीधे बिम्ब भी प्राप्त करता है और उन्हें मानसिक संस्कारों का रूप दे देता है। ये संवेदन या संस्कार स्वयं विचार न होकर विचार की सामग्री होते हैं। लेकिन यह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि विचार पर्याप्त और पूर्ण सामग्री लेकर काम करे। इसलिए शिक्षक का पहला काम है कि वह बच्चे में छहों इन्द्रियों के ठीक उपयोग की क्षमता को विकसित

करे। उसे देखना चाहिये कि उपयोग न होने के कारण वे अविकसित या घायल न रह जायें। अध्यापक के निर्देशन में स्वयं बालक इन्हें प्रशिक्षित करे और उनकी क्षमता के अनुसार अधिक-से-अधिक पूर्ण यथार्थता और सूक्ष्म संवेदनशीलता को प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त, कर्मेन्द्रियों से जितनी सहायता प्राप्त हो सकती है उसका पूरी तरह उपयोग किया जाये। उदाहरण के लिए, आंख जो कुछ देखती है और मन जो कुछ अनुभव करता है उसकी प्रतिकृति तैयार करने की शिक्षा हाथ को दी जाये। अन्तःकरण में जो ज्ञान है उसे पूर्ण अभिव्यक्ति दे सकने के लिए वाणी को प्रशिक्षित किया जाये।

तीसरा स्तर है बुद्धि, जो विचार का वास्तविक उपकरण है और जो मशीन के अन्य भागों द्वारा अर्जित ज्ञान को सुव्यवस्थित करती है। मैंने जो तीन नाम बतलाये हैं उनमें शिक्षक की दृष्टि से यह सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि एक ऐसा अवयव है जिसमें बहुत प्रकार की क्षमताओं के समूह होते हैं जिन्हें हम दो महत्त्वपूर्ण भागों में बांट सकते हैं: दाहिने हाथ की क्रियाएं व क्षमताएं और बाएं हाथ की क्रियाएं व क्षमताएं। दाहिने हाथ की क्षमताएं व्यापक, सर्जनात्मक और समन्वयात्मक होती हैं। बाएं हाथ की क्षमताएं आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक होती हैं। निर्णय, मूल्यांकन, कल्पना, स्मृति, अवलोकन दाहिने हाथ की चीज़ें हैं, तुलना और तर्क बाएं हाथ की। समालोचनात्मक क्षमताएं भेद करती, तुलना करती, श्रेणीबद्ध करती, व्यापक बनाती, परिणाम निकालती, अनुमान करती और निष्कर्ष निकालती हैं। ये तर्क-बुद्धि के युक्तियुक्त घटक हैं। दाहिने हाथ की क्षमताएं समझती, आज्ञा देती और अपने अधिकार से निर्णय करती, पूरी तरह समझती, बात को पकड़ में लेती और परिचालित करती हैं। दाहिने हाथ का मन ज्ञान का स्वामी होता है और बाएं हाथ का मन उसका सेवक। बायां हाथ ज्ञान के शरीर को ही छूता है; दाहिना हाथ उसकी अन्तरात्मा में

प्रवेश कर जाता है। बायां हाथ अपने-आपको केवल निश्चित सत्यों तक सीमित रखता है; दाहिना हाथ उसे पकड़ सकता है जो अभी तक दुर्ग्राह्य या अनिश्चित है। मानव तर्क-बुद्धि की पूर्णता के लिए दोनों ज़रूरी हैं। अगर बच्चे की शिक्षा को अधूरा और एकतरफ़ा नहीं रखना है तो यन्त्र को इन सभी महत्त्वपूर्ण क्षमताओं को उनकी उच्चतम और विशुद्धतम क्षमता तक पहुंचाना होगा।

क्षमता का एक चौथा स्तर भी है जो मनुष्य के अन्दर अभी तक पूरी तरह विकसित नहीं हुआ है, लेकिन धीरे-धीरे ज़्यादा विस्तृत और अधिक विकसित होता जा रहा है। ज्ञान के इस उच्चतम स्तर का परिचय हमें प्रतिभाशाली व्यक्तियों में मिलता है : चरम विवेक, सत्य का अन्तर्भासात्मक दर्शन, वाणी को प्राप्त पूर्ण अन्तःप्रेरणा, ज्ञान का ऐसा प्रत्यक्ष दर्शन जो प्रायः अन्तःप्रकाश तक पहुंच जाता है और मनुष्य को सत्य का द्रष्टा बना देता है। बहुतों को ये शक्तियां अधूरे रूप में या दीप्तियों के रूप में प्राप्त होती हैं। परन्तु अपने उच्चतर विकास में ये बहुत विरल हैं। मानव जाति की तर्क-बुद्धि अभी तक इन पर बहुत अविश्वास करती है क्योंकि भ्रान्ति, स्वेच्छाचारिता, पक्षपातपूर्ण कल्पना इनकी सम्भव क्रिया में बाधा डालती और उसे विकृत करती हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि मानवजाति इन क्षमताओं की सहायता के बिना अपनी वर्तमान स्थिति तक प्रगति न कर पाती। लेकिन यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका सामना शिक्षाशास्त्री अभी तक नहीं कर पाये हैं। विद्यार्थी में प्रतिभा के सशक्त और चकराने वाले तत्त्व के साथ क्या किया जाये? सामान्य प्रशिक्षक प्रतिभा को हतोत्साह करके उसका दम घोंटने का पूरा प्रयास करता है। ज़्यादा उदार शिक्षक उसका स्वागत करता है। मानवजाति के लिए इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण क्षमताओं को अपने विचार-क्षेत्र के बाहर नहीं छोड़ा जा सकता। उनकी उपेक्षा करना मूर्खता है। उनके अपूर्ण विकास को पूर्ण करना

होगा; भ्रान्ति, सनक और पक्षपात-भरी कल्पना को सावधानी और बुद्धिमत्ता के साथ अलग करना होगा। लेकिन अध्यापक यह काम नहीं कर सकता। अगर वह इसमें पड़े तो वह जंगली घास के साथ-ही-साथ अच्छे दानों को भी निकाल फेंकेगा। इस विषय में और शिक्षा-सम्बन्धी सभी कामों में वह केवल विकसनशील अन्तरात्मा को उसकी पूर्णता के पथ पर रख सकता है।

नैतिक स्वभाव

मनुष्य की मितव्ययता में मानसिक स्वभाव नैतिक पर अवलम्बित होता है और जो बौद्धिक शिक्षा नैतिक और भावात्मक प्रकृति की पूर्णता से अलग रहती है वह मानव-प्रगति के लिए हानिकर होती है। फिर भी, यद्यपि मन के प्रशिक्षण के लिए एक प्रकार का कार्यक्रम या पाठ्यक्रम निर्धारित कर देना सरल है, लेकिन आधुनिक परिस्थितियों में विद्यालयों और महाविद्यालयों के लिए उचित नैतिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना सम्भव नहीं हुआ है। नैतिक और धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाकर बच्चों को नैतिक और धार्मिक बनाने का प्रयास निस्सार भ्रान्ति है। मुख्य कारण यह है कि हृदय मन नहीं है और यह ज़रूरी नहीं है कि मन को प्रशिक्षित करने से हृदय बदल जाये। यह कहना भी गलत होगा कि इसका कोई असर नहीं होता। यह अन्तःकरण में कुछ विचारों के बीज फैला देता है और अगर इन विचारों का अभ्यास हो जाये तो आचरण पर उनका असर पड़ता है। लेकिन नैतिक पाठ्य-पुस्तकों से यह बड़ा संकट होता है कि वे उच्चतर वस्तुओं के बारे में विचार को यान्त्रिक और कृत्रिम बना देती हैं, और जो कुछ यान्त्रिक और कृत्रिम है वह शुभ के लिए सक्रिय या व्यावहारिक नहीं होता।

Central Library
Gurukul K...ni University
Har...

मनुष्य की नैतिक प्रकृति के साथ व्यवहार करते हुए तीन चीज़ें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं—भाव, संस्कार या बनी हुई आदतें और सम्बन्ध व स्वभाव। अपने-आपको नैतिक दृष्टि से प्रशिक्षित करने का एक ही तरीका है, अपने-आपको समुचित भावों, उदात्ततम सम्बन्धों, सर्वोत्तम मानसिक, भावनात्मक और भौतिक आदतों के लिए अभ्यस्त करना और अपनी तत्त्वगत प्रकृति के मौलिक आवेगों का समुचित क्रिया में अनुसरण करना। तुम बच्चों पर एक विशेष प्रकार का नियन्त्रण थोप सकते हो। उन्हें एक खास तरह की वेश-भूषा पहना दो, वाञ्छित पथ पर उन्हें हांक दो, लेकिन जब तक तुम उनके हृदय और प्रकृति को अपने साथ नहीं ले लेते तब तक इस आरोपित अनुशासन का अनुमोदन आडम्बरपूर्ण, हृदयहीन, रूढ़िगत और प्रायः भीरुतापूर्ण पालन होता है। यूरोप में यही किया जाता है और इसी के परिणामस्वरूप वह स्थिति आती है जिसे अंग्रेज़ी में जंगली जौ बोना कहते हैं, यानी, घर में और विद्यालय में गरदन से जूआ उतरते ही सब तरह का जंगलीपन शुरू हो जाता है और इसी से सामाजिक ढोंग आता है जो यूरोपीय जीवन का एक बहुत बड़ा अंश है। मनुष्य जिस चीज़ की सराहना करता है और जिसे स्वीकार करता है वही उसका अपना अंश बन सकती है, बाकी सब छद्मवेश ही रहता है। वह जैसे घर और विद्यालय में नैतिक रूढ़ि का पालन करता है उसी तरह समाज के अनुशासन के अनुसार चलता है, लेकिन अपने आन्तरिक और व्यक्तिगत जीवन में, अपने वास्तविक जीवन में अपने मन के मुताबिक, अपने आवेगों के अनुसार चलने के लिए अपने-आपको स्वच्छन्द मानता है। दूसरी ओर, नैतिक और धार्मिक शिक्षा की पूरी-पूरी अवहेलना करने से मानव-जाति भ्रष्ट हो जाती है। स्वदेशी-आन्दोलन के रक्षक स्पर्श से पहले का भारतीय युवकों में फैला कुख्यात भ्रष्टाचार अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली के अनुसार

शुद्ध रूप से मानसिक शिक्षा देने का सीधा परिणाम था। सेंट्रल हिन्दू कॉलेज जैसी संस्थाओं में भारतीय वेश-भूषा में अंग्रेज़ी पद्धति अपनाने का परिणाम हमें यूरोपीय परिणाम की ओर ही ले जायेगा। उसके पक्ष में बस यही कहा जा सकता है कि वह कुछ नहीं से अच्छा है।

जैसा मन की शिक्षा के लिए है उसी तरह हृदय की शिक्षा के लिए भी सबसे अच्छा उपाय यही है कि बालक को उसकी अपनी पूर्णता के सीधे मार्ग पर लगा दिया जाये और उसे उस पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। उस पर नज़र रखी जाये, सुझाव दिये जायें, सहायता की जाये, पर उसमें हस्तक्षेप न किया जाये। अंग्रेज़ों की छात्रावास-प्रणाली में एक बात बहुत अच्छी है कि वहां अध्यक्ष, अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में, नैतिक पथ-प्रदर्शक और उदाहरण के रूप में रहता है। वह विद्यार्थियों को दिखाये गये मार्ग पर चलने के लिए चुपचाप आगे बढ़ने, एक-दूसरे की मदद करने और एक-दूसरे पर प्रभाव डालने के लिए छोड़ देता है। परन्तु जो पद्धति अपनायी जाती है वह अनगढ़ और अतिशय बाहरी अनुशासन के कारण बिगड़ी हुई है। उसके लिए विद्यार्थियों में मान नहीं, भय होता है, आन्तरिक सहायता भी कम ही रहती है। इससे जो थोड़ा-बहुत लाभ होता है उसकी अपेक्षा हानि कहीं अधिक होती है। नैतिक अनुशासन के लिए प्राचीन भारतीय पद्धति बहुत अधिक उत्कृष्ट थी जिसमें गुरु अपने ज्ञान और अपनी पवित्रता के कारण शिष्य से निर्विवाद आज्ञापालन, पूर्ण सराहना, आदरपूर्ण अनुकरण पाता था। अब उस प्राचीन पद्धति को फिर से स्थापित करना असम्भव है, लेकिन भाड़े के प्रशिक्षक या हितकारी पुलिस—यूरोपीय पद्धति ने शिक्षक को यही तो बना दिया है—की जगह बुद्धिमान् मित्र, पथ-प्रदर्शक और सहायक रखना असम्भव नहीं है।

नैतिक प्रशिक्षण का पहला नियम है सुझाव देना या निमन्त्रण

देना। सुझाव देने का सबसे अच्छा तरीका है व्यक्तिगत उदाहरण, रोज़ की बातचीत और रोज़ाना पढ़ी जाने वाली किताबें। छोटे बच्चों के लिए इन किताबों में भूतकाल के महान् उदाहरण नैतिक सीख के रूप में नहीं, मानव रस के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में दिये जायें और बड़े विद्यार्थियों के लिए महान् आत्माओं के महान् विचार, उच्चतम भावों को जगाने वाले, उच्चतम आदर्शों और अभीप्साओं को प्रेरित करने वाले साहित्य के अंश, इतिहास और जीवनी के ऐसे प्रसंगों के रूप में जो इन महान् विचारों, उदात्त भावों और अभीप्सा-भरे आदर्शों को जीवन में उतारने के उदाहरण हों। यह ऐसा सत्संग है जो प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, बशर्ते कि आडम्बरपूर्ण उपदेशों से बचा जाये। यह बहुत ज़्यादा प्रभावशाली हो सकता हैं यदि स्वयं अध्यापक का जीवन उन महान् आदर्शों में ढला हो जिन्हें वह अपने विद्यार्थियों के सामने रख रहा है। फिर भी इसमें पूरी शक्ति तबतक नहीं आ सकती जबतक युवा जीवन को अपने सीमित क्षेत्र में, अपने अन्दर उठने वाले नैतिक आवेगों को मूर्त रूप देने का अवसर न मिले। आर्यों के विशेष गुण ये हैं : ब्राह्मण के लिए ज्ञान-पिपासा, आत्मोत्सर्ग, पवित्रता और त्याग; क्षत्रिय के लिए साहस, उत्साह, स्वमान, उदात्तता, शौर्य; वैश्य के लिए उपकारिता, कौशल, उद्योग, उदारतापूर्ण उद्यम और मुक्तहस्तवृत्ति; और शूद्र के लिए निःस्वार्थ और प्रेमपूर्ण सेवा। ये गुण हैं जिन्हें हम अपने युवकों में और सारे राष्ट्र में देखना चाहते हैं। लेकिन यदि हम बच्चों को अपने-आपको आर्य-परिपाटी के अनुसार प्रशिक्षित करने का अवसर न दें, बचपन और किशोरावस्था के अभ्यास और परिचय के द्वारा वह द्रव्य तैयार न करने दें जिससे उनका प्रौढ़ जीवन बनेगा तो यह कैसे सम्भव हो सकता है?

इसलिए हर बच्चे को उसके स्वभाव में जो कुछ सर्वोत्तम है उसे विकसित करने के लिए क्रियात्मक अवसर और बौद्धिक प्रोत्साहन

मिलना चाहिये। अगर उसके अन्दर मन या शरीर के दुर्गुण, बुरी आदतें, बुरे संस्कार हों तो उसके साथ अपराधी जैसा व्यवहार न किया जाये, बल्कि राजयोग के बताये गये संयम, त्याग और प्रस्थापना के द्वारा उनसे पिण्ड छुड़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। उसे इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाये कि वह इन चीज़ों को पाप या अपराध के रूप में न लेकर एक साध्य रोग के लक्षणों के रूप में ले, यह जाने कि स्थिर और सतत संकल्प के प्रयास से इन्हें बदला जा सकता है। जब कभी मन में मिथ्यात्व सिर उठाये तो उसे अस्वीकार करके उसकी जगह सत्य को बिठाया जाये, भय के स्थान पर साहस, स्वार्थ की जगह त्याग और आत्मोत्सर्ग, दुर्भावना की जगह प्रेम को लाया जाये। इस बात की विशेष सावधानी रखनी होगी कि कहीं अस्पष्ट और अविकसित गुणों को दोष मानकर न त्याग दिया जाये। बहुत-से युवा स्वभावों में जंगलीपन और लापरवाही, बहुत अधिक बल, महानता और उदात्तता के उफान होते हैं। उन्हें दबाने की जगह शुद्ध करना चाहिये।

मैंने नैतिकता की बात की है। यहां धार्मिक शिक्षा के बारे में भी एक-दो शब्द कह देना ज़रूरी है। एक अजीब-सी मान्यता प्रचलित है कि किसी धर्म के रूढ़ सिद्धान्त पढ़ा देने से ही बच्चे धार्मिक और नैतिक बन सकते हैं। यह एक यूरोपीय भूल है और इसे मान लेने से या तो लोग यान्त्रिक रूप में किसी मत को स्वीकार कर लेते हैं जिसका उनके आन्तरिक जीवन पर कोई असर नहीं होता और बाहरी जीवन पर भी न के बराबर ही होता है; या फिर इससे मतान्ध, भक्तिवादी, कर्मकाण्डी, अनगढ़, पण्डिताऊ ढोंगी पैदा होते हैं। धर्म को मत के रूप में पढ़ने की जगह जीवन में उतारना चाहिये। बंगाल की तथाकथित राष्ट्रीय शिक्षा ने जो रास्ता अपनाया कि धार्मिक मतों की शिक्षा को अनिवार्य बना दिया, लेकिन धार्मिक क्रियाओं के अनुष्ठान

पर रोक लगा दी, यह अज्ञानपूर्ण अस्तव्यस्तता का नमूना है जो मानव मन को धर्म से दूर हटा देती है। और इस निषेध का अर्थ होगा घोषित या छिपी हुई धर्म-निरपेक्षता के मुंह में निवाला देना, यानी उसे प्रोत्साहित करना। किसी धार्मिक शिक्षा का तब तक कोई मूल्य नहीं जब तक उसे जीवन में न उतारा जाये और धार्मिक जीवन की उपयोगी तैयारी के लिए विभिन्न प्रकार की साधनाएं ज़रूरी हैं। प्रार्थना, श्रद्धाञ्जलि आदि के समारोहों के लिए बहुत-से मन तरसते हैं। यह उनके लिए आवश्यक तैयारी है। यह अपने-आपमें उद्देश्य नहीं, पर आध्यात्मिक प्रगति में बहुत सहायक अवश्य है। अगर इसे हटा दिया जाये तो ध्यान, भक्ति या धार्मिक कर्तव्य के किसी और रूप को इसके स्थान पर रखना होगा। अन्यथा धार्मिक शिक्षा का कोई उपयोग न रहेगा और उसे न देना ही ज़्यादा अच्छा होगा।

लेकिन हर ऐसे विद्यालय में जो अपने-आपको राष्ट्रीय कहता है, चाहे स्पष्ट रूप में धार्मिक शिक्षा दी जाये या न दी जाये, धर्म के सारतत्त्व, भगवान् के लिए, मानवजाति के लिए, देश के लिए, औरों के लिए जीने के आदर्श को ज़रूर अपनाना चाहिये। हमारे विद्यालयों में व्याप्त हिन्दुत्व का भाव—भारतीय विषय या भारतीय साधनों से, या सीधा भारतीय विश्वासों और भारतीय ग्रन्थों की पढ़ाई से कहीं अधिक—ही राष्ट्रीयता का वह सारतत्त्व होना चाहिये जो हमारे विद्यालयों को अन्य विद्यालयों से विशेष बनाये।

समकालिक और अनुक्रमिक शिक्षण

भारत में आधुनिक शिक्षण की एक विशेष चीज़ जो असंगति की हद तक पहुंच गयी है यह अभ्यास है कि हर चीज़ थोड़ी-थोड़ी करके, फुटकर रूप में पढ़ायी जाये। एक विषय एक समय में थोड़ा-

थोड़ा करके अन्य बहुत सारे फुटकर विषयों के साथ पढ़ाया जाता है और परिणाम यह होता है कि जो विषय एक वर्ष में अच्छी तरह सीखा जा सकता था वह बुरी तरह से सात वर्षों में सीखा जाता है और बालक पूरी तरह से तैयार हुए बिना ही निकल जाता है; उसके पास ज्ञान के अपूर्ण पैकेट तो होते हैं, पर वह मानव ज्ञान के किसी महा-विभाग का भली-भांति ज्ञाता नहीं बन पाता। नैशनल काउंसिल —जो उभयचर, दोहरे स्वभाववाली रचना है—ने जो शिक्षा-पद्धति अपनायी है उसने प्रारम्भिक और माध्यमिक वर्गों में तो इस तरह फुटकर विषय पढ़ाने की पद्धति को ही बढ़ावा दिया है, परन्तु ऊपर आकर वह अचानक आडम्बरपूर्ण विशेषज्ञता में बदल जाती है। यह तो ऐसा है जैसे किसी त्रिकोण को उसके शिखर-बिन्दु पर खड़ा कर दिया जाये और यह आशा की जाये कि वह टिका रहेगा।

प्राचीन पद्धति यह थी कि एक या दो विषय खूब अच्छी तरह पढ़ाये जाते थे और उसके बाद दूसरे विषय लिये जाते थे। निश्चय ही यह आधुनिक पद्धति की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त तरीका था। वह इतनी विविध प्रकार की सूचनाएं भले न देता हो, परन्तु ज़्यादा गहरी, उदात्त और वास्तविक संस्कृति अवश्य देता था। आधुनिक औसत मन का बहुत-सा छिछलापन, असम्बद्ध छिछोरापन, चञ्चल अस्थिरता का कारण फुटकर पढ़ाई के सिद्धान्त का ऋणी है। प्राचीन पद्धति के विरुद्ध जो एक दोष आरोपित किया जा सकता है वह यह है कि दूसरा विषय सीखते समय पहले सीखा हुआ विषय विद्यार्थी के मन से उतर सकता है। लेकिन प्राचीन लोग स्मरणशक्ति का जो अच्छा अभ्यास करवा देते थे वह इस दोष से रक्षा करता था। भावी शिक्षा के लिए हमारा प्राचीन या वर्तमान पद्धति के साथ बंधना ज़रूरी नहीं है। हम ज्ञान-प्राप्ति के पूर्णतम और द्रुत साधन अपना सकते हैं।

आधुनिक पद्धति के पक्ष में यह कहा जाता है कि बालकों का

ध्यान जल्दी ही थक जाता है और उन पर एक ही विषय पर लम्बे समय तक एकाग्र होने का भार नहीं डाला जा सकता। विषय बार-बार बदलने से मन को आराम मिल जाता है। यहां स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक बालक प्राचीन काल के बालकों से इतने भिन्न हैं? अगर ऐसे हैं भी तो क्या इसका कारण यह नहीं है कि हमने लम्बे समय तक एकाग्र हो सकने की क्षमता को हतोत्साह करके उन्हें ऐसा बना दिया है? यह ठीक है कि बहुत छोटा बच्चा इस तरह मन लगाने के क़ाबिल नहीं होता, लेकिन फिर बहुत छोटा बच्चा किसी प्रकार के विद्यालय के शिक्षण के योग्य भी नहीं होता। सात-आठ वर्ष का बालक—यही वह कम-से-कम आयु है जब नियमित विद्याध्ययन शुरू किया जा सकता है,—यदि किसी विषय में रस ले तो काफ़ी एकाग्र हो सकता है। आखिर रस ही तो एकाग्रता का आधार है। हम बच्चों के पाठ को बहुत अरुचिकर और अनाकर्षक बना देते हैं। शिक्षण का आधार होता है कठोर दबाव और फिर हम बेचैनी और एकाग्रता के अभाव की शिकायत करते हैं। वर्तमान अस्वाभाविक पद्धति के स्थान पर स्वाभाविक आत्म-शिक्षण आ जाये तो अक्षमता-विषयक आपत्ति दूर हो जायेगी। वयस्क मनुष्य की तरह बालक भी अगर किसी विषय में रस ले तो उसे अधूरा छोड़ने की जगह अन्त तक जाना पसन्द करेगा। पढ़ाने की सच्ची कला है विद्यार्थी को एक-एक कदम करके, हर कदम पर रुचि और रस पैदा करते हुए आगे ले जाना, यहां तक कि वह अपने विषय पर पूरा प्रभुत्व पा ले।

अध्यापक को सबसे पहले माध्यम और उपकरणों की ओर ध्यान देना चाहिये। जबतक ये पक्के न हो जायें तबतक नियमित अध्यापन के विषय पढ़ाना शक्ति और समय का अपव्यय है। जब मानसिक उपकरण किसी भाषा को आसानी से और तेज़ी से ग्रहण

करने के लिए काफी विकसित हो जायें तब कई भाषाओं के साथ परिचय कराने का समय होता है, उस समय नहीं जब वह, उसे जो कुछ सिखाया जाये, उसे कठिनाई के साथ अधूरे रूप में ही पकड़ पाता है। और फिर जब कोई अपनी भाषा पर अधिकार पा ले तभी उसमें अन्य भाषाओं पर अधिकार पाने की क्षमता आती है। जब अपनी ही भाषा में भाषाई क्षमता भली-भांति विकसित न हुई हो तब अन्य भाषाओं पर अधिकार पाना असम्भव है। अवलोकन, निर्णय, तर्क और तुलना करने की क्षमताओं के ज़रा-से विकास के साथ ही भौतिक विज्ञान का अध्ययन आरम्भ कर देना एक व्यर्थ और अनुपयोगी श्रम है। और विषयों के बारे में भी यही बात है।

मातृभाषा शिक्षा का उचित माध्यम है, इसलिए बच्चे की पहली शक्तियां उसी पर अधिकार पाने में खर्च होनी चाहियें। प्रायः हर एक बच्चे में कल्पना-शक्ति, शब्दों के लिए नैसर्गिक प्रवृत्ति, नाटकीय क्षमता, विचार आदि चीज़ें होती हैं। इन्हें देश के साहित्य और इतिहास में रसपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करना चाहिये। मूर्खतापूर्ण और शुष्क वर्तनी की पुस्तकों की जगह—यह सूखा और बेकार का काम माना जाता है—क्रमशः उसका परिचय अपने साहित्य के सबसे अधिक रुचिकर भागों से करवाना चाहिये। उसका अपने आस-पास के जीवन के साथ इस तरह परिचय कराना चाहिये कि ये चीज़ें उसके उन गुणों को आकर्षित करें जिनकी मैंने अभी बात की है। इस समय का बाकी सारा अध्ययन मानसिक क्षमताओं और नैतिक चरित्र को पूर्ण बनाने में लगना चाहिये। इस समय इतिहास, विज्ञान, दर्शन, कला के अध्ययन की नींव रखी जानी चाहिये, परन्तु दुराग्रही और औपचारिक ढंग से नहीं। हर एक बालक मज़ेदार वर्णन का प्रेमी और वीर-पूजा करने वाला देशप्रेमी होता है। उसकी इन क्षमताओं को विकसित करो और उसके बिना जाने उसे अपने देश के इतिहास के जीवन्त

और मानव-अंशों का ज्ञान पाने दो। हर एक बालक प्रश्नकर्ता, शोधकर्ता, विश्लेषक और निर्दय शरीरशास्त्री होता है। उसकी इन क्षमताओं को आकर्षित करो और उसे बिना जाने वैज्ञानिक का स्वभाव और वैज्ञानिक का आधारभूत ज्ञान पाने दो। हर बच्चे में न बुझने वाली बौद्धिक उत्सुकता होती है, तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी खोज की ओर प्रवृत्ति होती है। इसका धीरे-धीरे उपयोग करके उसे अपने-आपको और जगत् को समझने की ओर प्रवृत्त करो। हर बच्चे में अनुकरण करने की क्षमता और कल्पना-शक्ति का पुट होता है। इनका उपयोग करके उसके अन्दर कलाकार की क्षमता की नींव रखो।

हम प्रकृति को काम करने दें तो हम उसके प्रदान किये हुए उपहारों का लाभ उठा सकते हैं। मानव-जाति ने अपने बच्चों की शिक्षा में, उसकी पद्धतियों में बाधा डालने और उन्हें व्यर्थ करने का काम चुना है और यह करते हुए उसकी अग्रगति में बाधा डालने और उसे व्यर्थ करने के लिए बहुत कुछ किया है। खुशी की बात है कि अब ज़्यादा समझदारी के विचार प्रबल हो उठे हैं। लेकिन अभी तक मार्ग नहीं मिला है। अपनी समस्त भूल-भ्रान्तियों और पक्षपातों के साथ भूतकाल हमारी गरदन पर लटक रहा है और हमें छोड़ने से इन्कार करता है। हम जब परम मेधावी मां के पथ-प्रदर्शन की ओर लौटने के लिए उग्र प्रयास करते हैं तो वह उनमें घुस पड़ता है। हमारे अन्दर यह साहस होना चाहिये कि अधिक स्पष्ट ज्ञान को अपना सकें और बिना किसी भय के, आने वाली पीढ़ियों के लाभ के लिए उसका उपयोग करें। फुटकर विषयों की पढ़ाई को मृत दुःखों के कबाड़खाने में धकेल दें। पहला काम है बच्चे के जीवन में कर्म और ज्ञान के लिए रस पैदा करना, उसके ज्ञान के साधनों को सम्पूर्ण रूप से विकसित करना, वह जिस माध्यम का उपयोग करने वाला है उस पर उसे पूरा अधिकार दिलाना। इस तरह नियमित

अध्ययन शुरू करने में जो देर लग जायेगी उसकी कमी वह तेज़ी से ज्ञानार्जन करके पूरी कर लेगा। जहां आज वह कुछ चीज़ें बुरी तरह सीखता है वहां बहुत-सी चीज़ें पूर्णतया अच्छी तरह सीख पायेगा।

अभ्यास द्वारा इन्द्रियों का विकास

ज्ञान बटोरने में इन्द्रियों की अक्षमता का एक और कारण है उनका अपर्याप्त उपयोग। हम पर्याप्त अवलोकन नहीं करते या पर्याप्त ध्यान और एकाग्रता के साथ अवलोकन नहीं करते और कोई रूप, शब्द, गन्ध, यहां तक कि स्पर्श और रस भी प्रवेश पाने के लिए द्वार खटखटाते रह जाते हैं। निश्चय ही ग्रहण करने वाले यन्त्र की यह तामसिक अकर्मण्यता बुद्धि की उपेक्षा के कारण आती है यानी इस कारण कि हम ठीक तरह से मन का उपयोग नहीं करते। विद्यार्थी को अपने चारों ओर के दृश्यों, शब्दों आदि को आसानी से पकड़ सकना, उनमें भेद कर सकना, उनके गुणों, उनकी प्रकृति और उनके मूल को जान कर उन्हें हृदय में प्रतिष्ठित कर सकना चाहिये ताकि स्मृति जब भी बुलाये वे हमेशा प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार रह सकें।

यह एक तथ्य है और इसे सूक्ष्म परीक्षणों के द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि इन्द्रियों और स्मृति के उपयोग में लापरवाही के कारण अवलोकन की क्षमता का बहुत अधूरे ढंग से विकास हुआ है। बारह आदमियों को यह काम सौंपो कि वे दो घण्टे पहले देखी हुई किसी चीज़ का स्मृति के आधार पर वर्णन लिखें। उन सबके वर्णन एक-दूसरे से और वास्तविक घटना से बहुत भिन्न होंगे। हम इस अपूर्णता से पिण्ड छुड़ा लें तो भ्रान्ति को दूर करने के मार्ग पर काफ़ी आगे बढ़ जायेंगे। यह इन्द्रियों के द्वारा अपना काम पूर्णता के

साथ करने से हो सकता है। अगर उन्हें यह मालूम हो कि बुद्धि उनसे इस प्रकार काम करवाना चाहती है और स्मृति में तथ्यों को अपने उचित स्थान पर बिठाने के लिए उचित ध्यान देती है तो इन्द्रियां काफ़ी तत्परता के साथ ठीक-ठीक काम कर सकती हैं।

एकाग्रता ज्ञान का एक ऐसा तत्त्व है जिसके महत्त्व को हमेशा मान्यता दी गयी है। सम्यक् स्मृति और यथार्थता के लिए एकाग्रता पहली अवस्था है। विद्यार्थी जो कर रहा है उसे दत्तचित्त होकर करे, यह उसके लिए अनुशासन का पहला तत्त्व है। जैसा कि मैं कह चुका हूं, अगर मनोयोग या एकाग्रता के विषय को रुचिकर बनाया जाये तो उसे प्राप्त करना आसान है। एक ही विषय पर ध्यान देने का अर्थ है एकाग्रता। लेकिन लोग प्रायः एक बात भूल जाते हैं कि कई बार एक ही समय अनेक विषयों पर एकाग्र होना अनिवार्य हो जाता है। जब लोग एकाग्रता की बात करते हैं तो उनका मतलब होता है मन को एक समय में एक ही विषय पर केन्द्रित करना। लेकिन दो विषयों पर, तीन विषयों पर, अनेक विषयों पर एकाग्र होने की शक्ति विकसित करना बिलकुल सम्भव है। जब अमुक घटना घटती है तो वह एक ही समय होने वाली अनेक घटनाओं या एक साथ होने वाली अनेक स्थितियों से मिलकर बनती है; किसी दृश्य, किसी शब्द, किसी स्पर्श या अनेक दृश्यों, शब्दों और स्पर्शों से मिलकर बनती है जो एक ही समय में या बहुत थोड़े समय में एक साथ इकट्ठी हो गयी हों। मन की साधारण वृत्ति होती है कि वह किसी एक चीज़ को पकड़ लेता है और बाकी को अस्पष्ट रूप से देखता है या बिलकुल नहीं देखता। यदि वह सबकी ओर ध्यान देने के लिए बाधित हो तो वह अन्यमनस्क या उद्विग्न हो उठता है और किसी चीज़ पर पूरी तरह ध्यान नहीं देता। लेकिन इसका इलाज किया जा सकता है और एकाग्रता को अमुक परिस्थितियों में इस

तरह बराबर-बराबर बांटा जा सकता है कि हर एक का अवलोकन भली-भांति किया जा सके और उसे याद रखा जा सके। यह केवल अभ्यास की बात है।

यह भी बहुत वाञ्छनीय है कि हाथ आंख के विविध कार्य-कलाप के बारे में यथार्थता रखने के लिए उसकी सहायता करने आ जाये। यह उपयोग इतना स्पष्ट और इतना आवश्यक है कि इस पर विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं। आंख से देखी हुई चीज़ की हाथ से नकल करने की आदत मन को भूलों और गलतियों को पकड़ने और जो कुछ देखा है उसे ठीक-ठीक अंकित कर देने के लिए ज़रूरी है। हाथ से की गयी नकल अवलोकन की यथार्थता को निश्चित कर देती है...।

मानसिक क्षमताओं का प्रशिक्षण

मन के पहले गुण जिन्हें प्रशिक्षित करना है "अवलोकन" के वर्ग में गिने जा सकते हैं। हम कुछ चीज़ों की ओर ध्यान देते हैं और कुछ की उपेक्षा कर जाते हैं। और जिन चीज़ों की ओर ध्यान देते भी हैं उनका अवलोकन कम ही करते हैं। हम पूरे मनोयोग के बिना सरसरी नज़र डालकर सामान्य बोध ही प्राप्त करते हैं। ज़्यादा नज़दीक से देखने पर आसपास की चीज़ों से अलग उसके स्थान, रूप, स्वभाव का पता चलता है। अवलोकन की क्षमता को पूरी तरह एकाग्र किया जाये तो हमें तीनों मुख्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकने वाला पूरा ज्ञान मिल सकता है और अगर हम छूकर या चखकर देखें तो हमें उस वस्तु के बारे में, उसके स्वभाव और उसके गुणों के बारे में पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो सकने वाली पूरी जानकारी मिल जाती है। जो लोग छठी ज्ञानेन्द्रिय का भी उपयोग

कर सकते हैं, जैसे कवि, चित्रकार, योगी, वे ऐसा बहुत कुछ इकट्ठा कर सकते हैं जो साधारण देखने वाले की आंख से छिपा रहता है। वैज्ञानिक अपनी खोज द्वारा ऐसे ब्योरे का पता लगा लेता है जो अधिक सूक्ष्म अवलोकन से ही जाने जा सकते हैं। ये अवलोकन की क्षमता के ही अंश हैं, यद्यपि स्पष्ट है कि इसका आधार है मनोयोग जो केवल गहरा भी हो सकता है और गहरे के साथ ही सूक्ष्म भी। यदि हमारे अन्दर सात्त्विक ग्रहणशीलता की आदत और एकाग्रतापूर्ण मनोयोग हो तो हम एक सरसरी नज़र में भी बहुत कुछ जान सकते हैं। अध्यापक को पहली चीज़ यही करनी चाहिये कि विद्यार्थी में ध्यान को एकाग्र करने की आदत डाले।

हम एक फूल का उदाहरण ले सकते हैं। उस पर यूं ही एक सरसरी नज़र डालकर उसकी गन्ध, उसके रूप-रंग के बारे में एक चलता-सा विचार बना लेने की जगह विद्यार्थी को फूल को जानने के लिए प्रोत्साहित किया जाये—वह अपने मन में उसके रंग की ठीक छटा, विशेष चमक, गन्ध की ठीक-ठीक तीव्रता, उसके रूप की रेखा और आकृति की ठीक छाप ले। स्पर्श फूल की बनावट और विशेषताओं के बारे में पूरी तरह जान ले। उसके बाद फूल के भाग अलग-अलग करके उनकी बनावट की उसी सावधानी के साथ परीक्षा की जाये। यह सब एक बोझिल काम की तरह नहीं, बल्कि मनोरञ्जन की चीज़ की तरह किया जाये। इसके लिए विद्यार्थी के अनुकूल इस प्रकार के प्रश्न तैयार किये जायें जो एक-के-बाद-एक चीज़ के अवलोकन और अन्वेषण की ओर आकर्षित करें, यहांतक कि वह पूरी चीज़ पर, बिना जाने ही, अधिकार पा ले।

स्मरण-शक्ति और मूल्यांकन के गुणों की इसके बाद ज़रूरत होगी और इन्हें भी उसी तरह बिना जाने बढ़ावा देना चाहिये। विद्यार्थी को कोई पाठ याद कराने के लिए बार-बार दोहराने को नहीं कहना

चाहिये। यह स्मृति-प्रशिक्षण का यान्त्रिक बोझिल और नासमझी का तरीका है। अब पहले जैसा ही, पर उससे भिन्न फूल बच्चे के हाथ में दिया जाना चाहिये और उसे उसका अवलोकन उसी सावधानी के साथ करने की प्रेरणा देनी चाहिये जिसमें मुख्य उद्देश्य यह हो कि वह उन दोनों के सादृश्यों और भिन्नताओं पर ध्यान दे। इस प्रकार के अभ्यास को रोज़-रोज़ दोहराया जाये तो स्वभावतः स्मृति प्रशिक्षित हो जायेगी। इतना ही नहीं, तुलना और वैषम्य का अवलोकन करने वाले मानसिक केन्द्रों का भी विकास होगा। सीखने वाला आदत से ही चीज़ों की समानता और असमानता देखने लगेगा। इस क्षमता और अभ्यास के पूर्ण विकास को प्रोत्साहन देने के लिए अध्यापक को पूरा प्रयास करना चाहिये। इसी समय मन को वंश और जाति के नियमों का परिचय मिलने लगेगा। विकसनशील बाल-मानस का ठीक प्रकार अनुसरण और पथ-प्रदर्शन करके वैज्ञानिक अभ्यास, वैज्ञानिक वृत्ति और वैज्ञानिक जानकारी के मूलभूत तथ्यों को थोड़े ही समय में बालक का स्थायी उपकरण बनाया जा सकता है। फूलों, पत्तों, पौधों, पेड़ों का अवलोकन और तुलना करने से मन के ऊपर नामों और शुष्क सूचनाओं के भार के बिना ही वनस्पति-शास्त्र के ज्ञान की आधारशिला रख दी जायेगी। अस्वाभाविक आदतों से बिगड़े बिना, प्रकृति से आये हुए ताज़ा-स्वस्थ, मानव मन को इस प्रकार की रटाई से घृणा होती है। इसी प्रकार तारों के अवलोकन से ज्योतिष, मिट्टी-पत्थर आदि से भूगर्भ, कीड़े-मकौड़ों और जानवरों के अवलोकन से कृषि-शास्त्र और प्राणी-शास्त्र की नींव रखी जा सकती है। इसके कुछ बाद औपचारिक शिक्षण या मन पर किताबी ज्ञान या सूत्रों का भार डाले बिना केवल परीक्षणों के द्वारा रसायन-शास्त्र का आरम्भ हो सकता है। ऐसा कोई वैज्ञानिक विषय नहीं है जिसपर पूर्ण और स्वाभाविक अधिकार पाने की तैयारी बचपन में

इस तरह भिन्न प्रकार की चीज़ों के और वर्गों के अवलोकन, तुलना, स्मरण और मूल्यांकन के द्वारा इन्द्रियों के प्रशिक्षण से न की जा सके। यह आसानी से किया जा सकता है और विद्यार्थी के मन में रुचि और तल्लीनता पैदा हो सकती है। एक बार रुचि पैदा हो जाये तो हम यह विश्वास कर सकते हैं कि बालक अपने खाली समय में पूरे उत्साह के साथ उसे आगे बढ़ायेगा। इससे बड़े होकर हर चीज़ कक्षा में ही करने की आवश्यकता न रहेगी।

स्वभावतः अन्य क्षमताओं के साथ मूल्यांकन और निर्णय की क्षमता भी प्रशिक्षित होती जायेगी। पग-पग पर बालक को यह निर्णय करना होगा कि रंग, ध्वनि, गन्ध आदि का कौन-सा भाव, मात्रा, मूल्य ठीक है और कौन-सा ग़लत। प्रायः निर्णय और प्रभेद बहुत ही सूक्ष्म और नाज़ुक होते हैं। शुरू में बहुत-सी भूलें होती हैं, पर सीखने वाले को यह बताना होगा कि अपने निर्णय पर विश्वास करे पर उसके फल के साथ चिपका न रहे। तुम देखोगे कि शीघ्र ही निर्णय की क्षमता, की गयी मांगों का उत्तर देने लगेगी, अपने-आपको भूल-भ्रान्ति से शुद्ध करके बारीकी के साथ ठीक-ठीक निर्णय करने लगेगी। सबसे अच्छा तरीका यह है कि बालक को यह आदत डलवायी जाये कि वह अपने निर्णयों की तुलना औरों के निर्णयों से करे। जब वह भूल करे तो पहले उसे यह बतलाया जाये कि वह कहां तक ठीक था और वह भूल क्यों हुई। बाद में उसे ये चीज़ें अपने-आप देखने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। वह जब-जब ठीक निकले तब-तब इस बात की ओर उसका ध्यान खींचा जाये ताकि उसके अन्दर विश्वास जागे...।

तर्क-बुद्धि का प्रशिक्षण उन क्षमताओं के प्रशिक्षण के बाद आता है जो उस सामग्री को इकट्ठा करती है जिनके आधार पर तार्किक क्षमता को काम करना होता है। इतना ही नहीं, विचारों के साथ

सफलतापूर्वक व्यवहार कर सकने से पहले शब्दों के साथ व्यवहार करने की क्षमता का भी कुछ विकास होना चाहिये। प्रश्न यह है कि प्रारम्भिक काम हो जाने पर बालक को आधार-वाक्य लेकर ठीक तरह सोचना सिखाने की क्या विधि है? तर्क आधार-वाक्य या भूमिका के बिना नहीं चल सकता। वह या तो तथ्यों के आधार पर परिणाम का अनुमान करता है या पहले से बने हुए निर्णयों के आधार पर नये निर्णय करता है या एक तथ्य से दूसरे तथ्य की ओर जाता है। वह अनुमान करता है, निगमन करता है या परिणाम निकालता है। मैं दिन-पर-दिन सूर्योदय देखता हूं। इससे मैं यह अनुमान कर लेता हूं कि अंधेरे के कुछ कम या ज़्यादा घण्टों के बाद सूर्योदय अवश्य होता है। मैं देख चुका हूं कि जहां-जहां धुंआ हो वहां-वहां आग ज़रूर होती है। मैंने तथ्यों को देखकर यह सामान्य नियम बना लिया है। मैं यह परिणाम निकालता हूं कि अमुक प्रकार का धुंआ हो तो आग ज़रूर होगी, मैं यह अनुमान करता हूं कि आग किसी आदमी ने लगायी होगी क्योंकि इन विशेष परिस्थितियों में और कोई कारण सम्भव नहीं दीखता। मैं यह परिणाम नहीं निकाल सकता क्योंकि आग हमेशा आदमी के लगाने से नहीं लगती। ज्वालामुखी से आग लग सकती है, बिजली गिरने या आसपास किसी रगड़ के कारण चिनगारियों से भी आग लग सकती है।

ठीक-ठीक युक्ति करने के लिए ये तीन तत्त्व ज़रूरी हैं : पहला, मैं जिन तथ्यों या निष्पत्तियों से आरम्भ करूं वे ठीक हों; दूसरा, मेरे पास पूरी और ठीक सामग्री हो; तीसरा, उन्हीं तथ्यों से प्राप्त हो सकने वाली अन्य सम्भव या असम्भव निष्पत्तियों का खण्डन। तर्क-बुद्धि की भूलें कुछ अंश में इन चीज़ों को ठीक रूप में प्राप्त करने में कठिनाई या लापरवाही या ढील से आती हैं, उससे भी बढ़कर पूरे-पूरे सभी तथ्य पाने की कठिनाई से और सबसे बढ़कर यथार्थ

निष्कर्ष को छोड़कर बाकी सभी सम्भव निष्कर्षों को हटाने से। गुरुत्वाकर्षण का तथ्य पूरी मज़बूती के साथ सिद्ध माना जाता है। लेकिन अगर एक भी ऐसा तथ्य निकल आये जो इसके साथ मेल नहीं खाता तो इस नियम की तथाकथित व्यापकता उलट-पुलट जायेगी। और ऐसे तथ्य मौजूद हैं। फिर भी सावधानी और कुशाग्रता से भूलों की सम्भावनाओं को बहुत कम किया जा सकता है।

सामान्य विधि है एक न्यायशास्त्र पढ़ाकर तर्क-बुद्धि को प्रशिक्षित किया जाता है। यह एक ऐसी प्रचलित भूल का नमूना है जिसमें किसी वस्तु की अपेक्षा उसके किताबी ज्ञान को अध्ययन का विषय बनाया जाता है। पहले मन को तर्क की अनुभूति और उसकी भूलें दिखानी चाहियें और उसे यह देखना सिखलाना चाहिये कि ये कैसे काम करती हैं। उसे उदाहरण से नियम की ओर चलाना चाहिये और नियमों के बढ़ते हुए सामञ्जस्य से इस विषय के शास्त्र की ओर जाना चाहिये। यह नहीं कि औपचारिक शास्त्र से, नियमों की ओर और नियमों से उदाहरणों की ओर चला जाये।

पहला पग यह है कि युवा मन में, कार्य-कारण देखते हुए, तथ्यों से निष्कर्ष निकालने में रस पैदा किया जाये। फिर उसे इसकी सफलता-विफलता और उनके कारणों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया जाये। इन चीज़ों की ओर ध्यान देना होगा : प्रारम्भिक सामग्री की भूल, अपर्याप्त तथ्यों से निष्कर्ष निकालने में जल्दबाज़ी, असम्भव से निष्कर्ष को लापरवाही से स्वीकार करना, ऐसे निष्कर्ष स्वीकार कर लेना जिनका समर्थन आधार-सामग्री से न होता हो, जिनपर सन्देह किया जा सकता हो, प्रमाद या पूर्वाग्रह के कारण अन्य व्याख्याओं या निष्कर्षों की ओर ध्यान देने से इन्कार करना। इस भांति जहांतक हो सके, जहांतक मानव तर्क की भ्रमशीलता के बावजूद सम्भव हो, भूल और भ्रान्ति के अवसर कम किये जा सकते हैं। ...

सितम्बर २००६
रु. ७.००

3:1
2

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

Grant
15/Nov/06

अग्निशिखा सितम्बर २००६ वर्ष ३७, अंक २, पूर्णांक ४३४

विषय-सूची

भवानी भारती **श्रीअरविन्द का काव्य** १

नीरदबरन ३५

सोसायटी समाचार ३६

वार्षिक जनरल मीटिंग की सूचना ३८

मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

ऊर्जस्वी शक्ति

प्रगति के लिए अनिवार्य

वानस्पतिक नाम—Hibiscus

हिन्दी—जवाकुसुम

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

भवानी भारती

क़रीब सौ साल पहले श्रीअरविन्द ने लिखा था : परमा भगवती, निर्विकार जननी, प्राचीन, भव्य, शक्तिशाली, आश्चर्यजनक और भयावह—वे जो रक्षा करती और संहार भी करती हैं—वे ही हैं भवानी भारती।

भवानी भारती है श्रीअरविन्द का एकमात्र संस्कृत काव्य जो उन्होंने शायद १९०४ से १९०८ के बीच कभी लिखा था। उपजाति छन्द में लिखे हुए ९९ श्लोकों का यह संग्रह है। इस काव्य में ओजस्विता, शौर्य, क्रोध, युद्ध, हर तरह के भाव उपस्थित हैं। श्रीअरविन्द इसे कोई शीर्षक नहीं दे पाये थे, उनके इस अद्‌भुत काव्य को कलकत्ते की पुलिस ने ज़ब्त कर लिया था, अतः यह कई वर्षों तक अन्धकार के गर्भ में छिपा रहा। १९८५ में श्रीअरविन्द आश्रम ने इसे ढूंढ़ निकाला और भवानी भारती नामक उपयुक्त शीर्षक देकर पहली बार छापा।

इसका सम्पूर्ण रसास्वादन लेने के लिए हमें एक शताब्दी पीछे नहीं जाना होगा, क्योंकि आज भी यह काव्य उतना ही महत्त्व रखता है, उतना ही सटीक बैठता है जितना सौ साल पहले रखता था क्योंकि हमारे देश भारतवर्ष को आज भी कई अन्य प्रकार की दासताओं से मुक्त होना है।

भवानी भारती इस धरती की माटी से हमेशा प्रतिध्वनित होती हुई एक ऐसी प्रार्थना है जो परमा शक्ति का, स्वयं राष्ट्र की मां का निरन्तर आवाहन करती रहती है।

इसका हिन्दी रूपान्तरण आश्रमवासी देवदत्तजी ने किया है।

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सुखे निमग्नः शयने यदासं
मधोश्च रथ्यासु मनश्चचार ।
स चिन्तयामास कुलानि काव्यं
दारांश्च भोगांश्च सुखं धनानि ॥१॥

सुख में मग्न शयन करता था शय्या पर जब,
मन विचरण करता था मधुमय राजपथों पर ।
चिन्तन करता था निज कुल का और काव्य का,
दारा का, भोगों का, सुख का, अपने धन का ॥

कान्तैश्च शृङ्गारयुतैश्च हृष्टो
गानैः स छन्दो ललितं बबन्ध ।
जगौ च कान्तावदनं सहास्यं
पूज्ये च मातुश्चरणे गरिष्ठे ॥२॥

शृंगारी रस-भरे और रमणीय गान को
कान्ता के हित ललित विलास छन्द में रच कर ।
प्राणप्रिया के हास-भरे मुख की सुन्दरता
गायन करता, पूज्य मातृ-पद-गौरव गाता ॥

चक्रन्द भूमिः परितो मदीया
खलो हि पुत्रानसुरो ममर्द ।
स्वार्थेन नीतोऽहमनर्च पादौ
दुरात्मनो भ्रातृवधेन लिप्तौ ॥३॥

मेरे चारों ओर भूमि थी क्रन्दन करती,
दुष्ट असुर खल माता के सुत रौंद रहा था ।
स्वार्थ-मग्न मैं भ्रातृरक्त से सने हुए उस
दुष्टात्मा के पैरों को ही पूज रहा था ॥

सुखं मृदावास्तरणे शयानं
    सुखानि भोगान् वसु चिन्तयन्तम् ।
पस्पर्श भीमेन करेण वक्षः
    प्रत्यक्षमक्ष्णोश्च बभूव काली ॥४॥

सुख से कोमल शय्या पर लेटा-लेटा मैं,
चिन्तन में डूबा था सुख, धन और भोग के ।
एक भयंकर कर ने छुआ वक्ष को मेरे,
नेत्रों के सम्मुख काली प्रत्यक्ष हो गयी ॥

नरास्थिमालां नृकपालकाञ्चीं
    वृकोदराक्षीं क्षुधितां दरिद्राम् ।
पृष्ठे व्रणाङ्कामसुरप्रतोदैः
    सिंहीं नदन्तीमिव हन्तुकामाम् ॥५॥

नरास्थि माला, मुण्ड-मेखला को धारण कर
वृकोदराक्षी क्षुधिता और दरिद्रा वह थी ।
असुर-कशा आघातों से थे घाव पीठ पर
आखेटोद्यत सिंही के सम गर्जन करती ॥

क्रूरैः क्षुधार्तैर्नयनैर्ज्वलद्भि-
    र्विद्योतयन्तीं भुवनानि विश्वा ।
हुङ्काररूपेण कटुस्वरेण
    विदारयन्तीं हृदयं सुराणाम् ॥६॥

क्रूर क्षुधार्तनयन अंगारों से जलते थे
जो समस्त भुवनों को थे उद्दीप्त कर रहे ।
कटु-कर्कश स्वर भरे हुए हुंकार-नाद से,
देवी हृदय दीर्ण करती थी सब देवों का ॥

आपूर्य विश्वं पशुवद्विरावै-
लेलिह्यमानाञ्च हनू कराले ।
क्रूराञ्च नग्नां तमसीव चक्षु-
हिंस्रस्य जन्तोर्जननीं ददर्श ॥७॥

पशु-समान चीत्कारों से वह विश्व भर रही,
चाट रही थी महाभयंकर जबड़े अपने ।
क्रूरा, नग्ना अंधकार में हिंस्र जन्तु की
आंखों-जैसी जननी मैंने सम्मुख देखी ॥

आलोलकेशैः शिखरान्निगृह्य
करालदंष्ट्रैश्च विसार्य सिन्धून् ।
श्वासेन दुद्राव नभो विदीर्णं
न्यासेन पादस्य च भूश्चकम्पे ॥८॥

चंचल केशावलि में शिखरों को समेट कर,
सागर-गण को ठेल कराल दांत से अपने ।
निज श्वासों से मेघ-राशि को वह बिखरा कर
चरण-न्यास से धरती को थी कम्पित करती ॥

उत्तिष्ठ देहीति पिपासुरम्बा
दध्वान रात्रौ नगरे वितारे ।
सेयं स्तनन्ती रजनीं तमिस्रां
बभौ समापूर्य मनांसि चार्या ॥९॥

वह पिपासु मां तारकहीना अमा निशा में
गरज उठी "उठ जाओ ! मुझे प्रदान करो तुम" ।
आर्या माँ के इस गर्जन से हुई प्रपूर्णा,
घोर तमिस्रामयी रात्रि भी, मनुज हृदय भी ॥

भीतः समुद्विग्नमनाश्च तल्पाद्
उत्थाय पप्रच्छ तमो नमस्यम् ।
का भासि नक्तं हृदये करालि
कुर्वीय किं ब्रूहि नमोऽस्तु भीमे ॥१०॥

समुद्विग्न भयभीत हृदय से शय्या तज कर,
वन्दनीय उस अंधकार से पूछा मैंने ।
कौन प्रकाशित निशि में मेरे हृदय कराली !
मैं क्या करूं, कहो भीमे ! तुमको प्रणाम है ॥

सिंहस्य सारावमुदीरयन्ती
क्रूरस्य कुञ्जे भ्रमतो वधार्थम् ।
ससर्ज वाक्यानि करालमूर्ति-
र्यथा समुद्रस्तनितं शिलायाम् ॥११॥

वन में मृगया हेतु घूमती क्रूर सिंहिनी
सदृश दहाड़ी थी माता जो बनी कराली ।
उस विकराल मूर्ति के भीषण वचन लगे ज्यों,
सिन्धु, शिला से टकरा कर हो रहा निनादित ॥

मातास्मि भोः पुत्रक भारतानां
सनातनानां त्रिदशप्रियाणाम् ।
शक्तो न यान् पुत्र विधिर्विपक्षः
कालोऽपि नो नाशयितुं यमो वा ॥१२॥

पुत्र ! भारतीयों की मैं माता हूं, जो हैं
नित्य सनातन और सदा देवों को प्रिय हैं ।
पुत्र ! नहीं जिनके प्रतिकूल भाग्य जा सकता,
स्वयं काल भी नहीं नाश कर सकता जिनका ॥

ते ब्रह्मचर्येण विशुद्धवीर्या
ज्ञानेन ते भीमतपोभिरार्याः ।
सहस्रसूर्या इव भासुरास्ते
समृद्धिमत्यां शुशुभुर्धरित्र्याम् ॥१३॥

जिनका वीर्य विशुद्ध बना है ब्रह्मचर्य से,
ज्ञान, कठोर तपस्या से जो बने आर्य हैं ।
दीप्तिमन्त जो हैं समृद्धि से भरी धरा पर,
सूर्य सहस्र समान प्रभासित चमक रहे हैं ॥

शूराः प्रगल्भाश्च हि शात्रवाणां
स्पर्धालवं सोढुममर्षणास्ते ।
पूजां जनन्या रिपुभिः समाप्य
रेजू रणान्ते रुधिराक्तदेहाः ॥१४॥

शूर और निर्भीक, प्रगल्भ शत्रु-गण से जो
प्रतिद्वंद्विता न तिल भर भी वे सहन कर सकें ।
रिपुगण की बलि देकर जननी की पूजा में,
युद्ध-अन्त में वे हैं रक्तस्नात-तन शोभित ॥

दीनाः क एते घृणिनो दरिद्राः
शान्तिं जघन्यां गणिकामिवान्धाः ।
भजन्ति भोः कापुरुषा विमूढा
आलिङ्ग्य ये मोदथ मृत्युमेव ॥१५॥

कौन दीन ये घृणित दरिद्र, जघन्य शान्ति करके आलिंगन
जैसे हैं कामान्ध-बार-वनिताओं का आलिंगन करते ।
हे कापुरुष, कुबुद्धि! ज्ञान क्या नहीं तुम्हें, तुम क्या हो करते
नहीं जानते अरे! मृत्यु का आलिंगन ही तुम करते हो ॥

क्लीबाः कियन्त्येवमसून् दिनानि
धरिष्यथार्ताः प्रहता वृथैव ।
हसन्त्यमित्रा अपमानराशिं
क्रीणीथ शान्त्या धनशोषणञ्च ॥१६॥

हे निर्वीर्य, नपुंसक ! वृथा मार सह करके,
कितने दिवस जिओगे आखिर क्या तुम जानो ।
आज हँस रहे बुरा चाहने वाले तेरा,
सहो शान्ति से, क्या अपमान और धनशोषण ॥

म्लेच्छस्य पूतश्चरणामृतेन
गर्वं द्विजोऽस्मीति करोति कोऽयम् ।
शूद्रादथानार्यतरोऽसि शूद्रो
व्रतैः किमेतैर्नरकस्य पान्थे ॥१७॥

म्लेच्छों का चरणामृत पीकर अपने को पवित्र जो माने
गर्व करे अपनी द्विजता पर कौन मूर्ख पामर ऐसा है ।
तुम शूद्रों से अधम शूद्र हो, राही हो तुम नरक-मार्ग के
तुम्हें प्रयोजन, आवश्यकता क्या है इतने कठिन व्रतों की॥

उत्तिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन्
साक्षाद्धि तेजोऽसि परस्य शौरेः ।
वक्षःस्थितेनैव सनातनेन
शत्रून् हुताशेन दहन्नटस्व ॥१८॥

उठो ! जगा दो यज्ञों की तुम सकल अग्नियां,
तुम तो हो साक्षात् तेज श्रीकृष्ण शौरि के ।
अग्नि सनातन वक्षस्थल में छुपी हुई जो,
उससे शत्रु-गणों को भस्म करो, तुम विचरो ॥

कः क्षत्रबन्धुर्भवनेषु गूढो
मद्यैः कटाक्षैश्च विलासिनीनाम् ।
धर्मान् यशो दुर्बल विस्मृतोऽसि
युध्यस्व भो वञ्चक रक्ष धर्मान् ॥१९॥

क्षत्रिय बन्धु कौन यह अन्तःपुर में डूबा,
मदिरा और विलासिनियों के मधुकटाक्ष में ।
रे दुर्बल ! तू भूल गया निज धर्मकीर्ति क्या ?
वंचक ! धर्मों की रक्षा कर, करो युद्ध तुम ॥

अस्त्येव लोहं निशितश्च खड्गः
क्रूरा शतघ्नी नदतीह मत्ता ।
कथं निरस्त्रोऽसि मृतोऽसि शेषे
रक्ष स्वजातिं परहा भवार्यः ॥२०॥

तेरे पास शस्त्र लोहे के, तीक्ष्ण खड्ग है,
क्रूर-कराल शतघ्नी बनी प्रमत्त गरजती ।
फिर निरस्त्र क्यों तुम हो पड़े मृतक के जैसे,
रक्षा कर निज राष्ट्र, आर्य बन, शत्रु नष्ट कर ॥

वैश्योऽसि कश्चेह विशः समृद्ध्यै
धनं किमेतद्विपणीषु सज्जम् ।
म्लेच्छर्द्धिरेषा कुरुषे दरिद्रां
मामेव कालीं खल मातृद्रोहिन् ॥२१॥

कैसा तू है वैश्य, यहां मानव-समृद्धि हित,
सजा कौन धन रखा हाट-बाज़ारों में है ।
दुष्ट मातृद्रोही यह तो संपत्ति म्लेच्छ की,
ऐसे तू कंगाल बनाता, मुझ काली को ॥

म्लेच्छर्द्धिमेतां ज्वलनाय देहि
रोषाग्निना किं न बिभेषि काल्याः ।
देवीं भवानीं हृदि पूजयित्वा
यतस्व लक्ष्म्यै भव जन्मभूम्याः ॥२२॥

म्लेच्छों की यह ऋद्धि आग में पुत्र ! फेंक दे,
डरे नहीं क्या तू काली की रोष-अग्नि से ।
देवी भवानी की निज हृदय-मध्य पूजा कर,
जन्मभूमि-लक्ष्मी को लाने का प्रयत्न कर ॥

भो भो अवन्त्यो मगधाश्च बङ्गा
अङ्गाः कलिङ्गाः कुरुसिन्धवश्च ।
भो दाक्षिणात्याः शृणुतान्ध्रचोला
वसन्ति ये पञ्चनदेषु शूराः ॥२३॥

हे अवन्तिवासियो, मागधो, बंगवासियो,
अंग, कलिंग, सिन्धु कुरुक्षेत्रवासियो मेरे ।
दाक्षिणात्य हे ! सुनो चोलगण, आन्ध्रवासियो,
शूर वीर पंचनद क्षेत्र के वासी सुन लो ॥

ये के त्रिमूर्तिं भजथैकमीशं
ये चैकमूर्तिं यवना मदीयाः ।
माताह्वये वस्तनयान् हि सर्वान्
निद्रां विमुञ्चध्वमये शृणुध्वम् ॥२४॥

एकेश्वरवादी, त्रिमूर्तिपूजक सन्तानो !
एकदेव-पूजक हे मेरे यवन पुत्रगण ! सुन लो मेरी ।
मैं पुकारती, मैं हूँ सब पुत्रों की माता,
निद्रा त्यागो, सुनो तुम सभी अब मम वाणी ॥

कालस्य भेरीं शृणुताद्रिशृङ्गे
रौद्रं कृतान्तं मम दूतरूपम् ।
दुर्भिक्षमेतानथ भूमिकम्पान्
निबोधताधीशतमागतास्मि ॥२५॥

सुनो काल की भेरी उच्चहिमाद्रि शृंग पर,
मरण, रुद्ररूपी, देखो मम दूत-रूप में ।
भूमिकंप, दुर्भिक्ष घोषणा इसकी करते,
मैं निज पूरी शक्ति और बल संग पधारी ॥

देहि क्रतून् देहि पिपासुरस्मि
जानीहि दृष्ट्वा भज शक्तिमाद्याम् ।
शिरांसि राज्ञां महतां तनूश्च
भोक्तुं नदन्ती चरतीह काली ॥२६॥

मुझे चढ़ाओ बलि, मुझको दो बलि, पिपासु मैं,
आद्याशक्ति जानकर भजन करो तुम मेरा ।
महाराजगण का मस्तक, शरीर खाने को,
विचरण करती यहां कालिका करे गर्जना ॥

रक्तप्रवाहैरपि नास्मि तृप्ता
शतैः सहस्रैरयुतैरजानाम् ।
प्रदत्त भित्त्वा हृदयानि रक्तं
सम्पूजयन्त्येवमजां करालीम् ॥२७॥

नहीं सैकड़ों और सहस्रों, अयुत बकरियों
के शोणित प्रवाह से भी मैं तृप्त बनूंगी।
निज हृदयों को चीर, चढ़ाओ मुझको लोहू,
इसी रीति से भक्त पूजते देवी, अजन्मा और कराली ॥

येषां सदैवात्मबलिप्रवृत्ताः
शूरा महान्तः प्रमुखाः कुलार्थे ।
सौम्या कराली भवति प्रजानां
रक्तेन पुष्टा विनिहन्ति शत्रून् ॥२८॥

जिन कुल के महनीय प्रमुख, योद्धा कुल के हित,
सदा आत्मबलि देने को प्रस्तुत रहते हैं ।
उनकी प्रजा हेतु सौम्या बन जाये कराली !
लोहू से परिपुष्ट बनी रिपुवध करती हैं ॥

कं बिभ्यतार्या रुधिरस्य सिन्धौ
निमज्जतास्मिन् भवतार्यसत्त्वाः ।
त्रिशूलि भोः पश्यत तत्र पारे
ज्योतिर्ह्युदेतीदमभिन्नतेजः ॥२९॥

किससे हो भयभीत, आर्यगण, रुधिर-सिन्धु में
अवगाहन कर आर्यस्वभाव-युक्त बन जाओ ।
देखो तो उस पार अखण्ड, अभिन्न तेजोमयि !
वह त्रिशूलधारिणी, ज्योतिर्मयी उदित हो रही ॥

कवे विलासिन् शृणु मातृवाक्यं
कालीं करालीं भज पुत्र चण्डीम् ।
द्रष्टासि वै भारतमातरं तां
घ्नतीमरातीन् भृशमाजिमध्ये ॥३०॥

अरे विलासी कवि ! सुन तू अब मातृवचन को,
पुत्र ! कराली काली, चंडी की पूजा कर ।
निश्चित ही तू देखेगा भारतमाता को,
युद्धभूमि में निहत कर रही है रिपुगण को ॥

सनातनान्याह्वय भारतानां
कुलानि युद्धाय जयोऽस्तु मा भैः ।
भो जागृतास्मि क्व धनुः क्व खड्ग
उत्तिष्ठतोत्तिष्ठत सुप्तसिंहाः ॥३१॥

करो भारतीयों के कुलगण, आदि सनातन
का आवाहन रणहित, डरो नहीं, जय तेरी ।
देखो मैं जागृता, धनुष, असि कहां तुम्हारी,
सुप्त सिंहगण उठ जाओ तुम, उठो उठो हे ॥

इमानि वाक्यानि निशम्य रात्रौ
तेजश्च भीमं तिमिरे विलोक्य ।
चित्तं ननर्ताशु विहाय सद्म
भोगान् विनिर्धूय च निर्जगाम ॥३२॥

उस काली रजनी में ऐसे वचन श्रवण कर,
घोर तमस में तेज भयंकर देवी को लख ।
नर्त्तन करने लगा चित्त मम, त्याग गेह को,
भोग झटक कर छोड़ा, मैं था बाहर निकला ॥

सान्द्रं तमिस्रावृतमार्तमन्धं
ददर्श तद्भारतमार्यखण्डम् ।
गूढा रजन्यामरिभिर्विनष्टा
माता भृशं क्रन्दति भारतानाम् ॥३३॥

तब मैंने घन अंधकार से घिरी हुई भारत माता का,
आर्यभूमि का, माता का था दर्शन पाया ।
गहन निशा में शत्रुगणों से क्षत-विक्षत हो,
आर्य जनों की माता रोती फूट-फूट कर ॥

स भ्रामयामास दृशं रजन्यां
भ्रातॄन् स तप्तस्तिमिरे विचिन्वन् ।
कङ्कालसाराणि ददर्श तानि
शवानि तेषां करुणानि भूमौ ॥३४॥

उसने थी तब दृष्टि घुमायी घन-रजनी में,
भ्राताओं के अन्वेषण हित चिन्तित निशि में ।
देखा था उसने उनके कंकाल शेष थे,
दीन-हीन शव उनके भू पर पड़े हुए दे रहे दिखाई ॥

तदा ददर्शासुरमेकमीशं
किरीटिनं वज्रधरं महान्तम् ।
अश्रूणि रक्तौघशतानि मातुः
सङ्गृह्य पुष्णन्तमपत्यसङ्घान् ॥३५॥

तब उसने देखा बलशाली महा असुरपति,
मस्तक पर किरीट हाथों में महावज्र धर ।
अपने पुत्रों की माता के रक्त-अश्रु के
शत प्रवाह से पोषित करता निज अपत्यगण ॥

पदा तुषाराद्रिमदीनसत्त्वं
मृद्नन्तमन्ध्रानितरेण पौण्ड्रान् ।
प्रसारयन्तं करवालमुग्रं
चीनावनौ पह्लवभूमिखण्डे ॥३६॥

एक पाँव से दाबे हुए अजेय हिमालय,
दूजे से वह रौंद रहा था आन्ध्र, पौण्ड्र को ।
वह करता निज उग्र तीक्ष्ण तलवार प्रसारित
चीन अवनि की ओर और पह्लव धरणी में ॥

खलं विशालं बलगर्वितं तं
धर्मेण दृप्यन्तमधर्मबुद्धिम् ।
दृष्ट्वा त्वभूच्चित्तमिवाग्निकुण्डं
क्रोधेन जज्वाल हि शाश्वतेन ॥३७॥

महादुष्ट वह असुर, घमण्डी निज विशाल बल,
स्वयं अधर्मी, किन्तु धर्म-उपदेश दे रहा ।
देख चित्त मम अग्निकुण्ड बन गया क्रोध से,
शाश्वत रोषपूर्ण ज्वाला से हुआ प्रज्वलित ॥

कुलानि सुप्तानि सनातनानि
ह्वातुं जगौ जागरणाय भीमा ।
क्रूरं विरावौघमुदीरयन्ती
पार्श्वे ममायाद्रजनीव घोरा ॥३८॥

सुप्त सनातन कुलगण के जागरण हेतु,
करती है आवाहन भीमा, देवी काली ।
क्रूर, और हुंकार कर रही देवी घोरा, गर्जन करती
अंध निशा की भांति, पास थी मेरे आई ॥

भीमैः करालैर्धरणी वचोभि-
श्चचाल सिन्धुश्च नभो जगर्ज ।
भीमैः सरोषैश्च विलोकनैस्तै-
र्ब्रह्माण्डमुत्तप्तमिवाग्निवृष्ट्या ॥३९॥

भीम, विकट, विकराल वचन देवी के सुन कर,
कांप उठे धरती, सागर, आकाश प्रध्वनित ।
क्रोध-भरी भीषण चितवन से, तप्त हुआ
ब्रह्माण्ड, अग्नि की वृष्टि हो रही मानों उस पर ॥

त्रैलोक्यमुन्मादकरैः कराल्या
आवाहनैः पूर्णमभूच्च सर्वम् ।
ज्वालामुखी दारुणवह्निगर्भा
कण्ठादुदक्रामदजस्रशब्दा ॥४०॥

त्रिभुवन में उन्मादित देवी का आवाहन,
हुआ ध्वनित, अनुरणित, कराली काली का स्वर ।
ज्वालामुखी-समान अग्निगर्भा दारुण वह,
शब्द अजस्र घोष कण्ठों से अविरत फूटे ॥

क्षोभेण तीव्रेण चराचरस्य
क्षुब्धान्यपश्यं पृतनानि तत्र ।
स्वप्नोत्थितानीव वचः सुरौद्रं
भो हन्यतां दुष्ट इतीरयन्ति ॥४१॥

सचराचर के तीव्र क्षोभ से क्षुब्ध सैन्यगण
का था मैंने किया पूर्व अवलोकन उस थल ।
वे प्रतीत होती थीं मानों उठी स्वप्न से, उनकी
क्रोध-भरी वाणी थी "अरे वध करो इन दुष्टों का"॥

ज्ञात्वा हि मातू रुदितं क्षतानि
विद्युद्धराण्यक्षिशतान्यभूवन् ।
क्रोधैः सहस्राणि ततो मुखानि
भीमानि भीमं दनुजेशमायन् ॥४२॥

माँ का क्रन्दन, माँ के घावों को निहार कर,
दृष्टि दामिनी शत-शत जैसी दमक उठी थी ।
और सहस्रों चेहरे क्रोधित, बने भयानक,
उस दानवपति ओर रोष से भरे मुड़े थे ॥

सुप्तेषु पुत्रेषु रणोत्सुकेषु
निशाचरः शोणितमार्यमातुः ।
पिबन् विनर्दस्यबलान् बली को
विहंसि चाण्डाल कृतान्तभक्ष्य ॥४३॥

युद्ध-हेतु उत्सुक पुत्रों के सो जाने पर,
कौन निशाचर रुधिर आर्यमाता का पीता ।
रे चाण्डाल ! कौन तू भोजन यम राजा का,
जो होकर बलवान करे हत्या निर्बल की ॥

इतीरयन्ती वचनानि रुष्टा
शस्त्रं गृहीत्वा धनुरग्निगर्भम् ।
अभ्यद्रवद् भीममरातिमुग्रा
पश्चात् पुरस्ताच्च जगर्ज काली ॥४४॥

उग्र रोष से वचन इस तरह उच्चारित कर,
शस्त्र ग्रहण कर अग्निगर्भ निज धनुष उठाए ।
होकर के क्रोधार्त भयंकर, काली दौड़ी,
महा भयंकर रिपु के आगे भी पीछे भी गर्जन करती ॥

ज्वालाकराला धरणी बभूव
क्रोधैर्ज्वलद्भिर्गगनञ्च तूर्णैः ।
हेषारवैर्दुन्दुभिघोरनादै-
स्त्रस्ता धराभूद् दनुजस्य युद्धे ॥४५॥

काली के क्रोधानल की असह्य ज्वाला से,
धरा और आकाश जलें ज्यों तूर्ण प्रज्वलित ।
रण में दानवरथ-अश्वों की हिन-हिन, दुन्दुभि,
महानाद से त्राहि-त्राहि कर उठा जगत् था ॥

रक्ताक्तमेघा नभसीव तेपुः
पपात चोर्व्यां रुधिरोग्रवृष्टिः ।
रक्तोदधौ रेजुरथाद्रिसङ्घाः
वसुन्धरा रक्तमयी बभासे ॥४६॥

तपते थे रक्ताभ मेघ आकाश-मध्य में,
रुधिर-वृष्टि घनघोर धरा पर होती झर-झर ।
रक्त उदधि से पर्वतगण थे ऊपर उठते,
वसुन्धरा थी रक्तमयी, स्नाता शोणित से ॥

भीमो रजन्यामसुरो बलीयान्
ममर्द सैन्यानि सुरप्रियाणाम् ।
जगर्ज चोन्मत्तमनाः सुरारिः
को मे समः पुंस्विति रूढगर्वः ॥४७॥

सुरगण प्रिय भारत पुत्रों की सेनाओं को,
वह बलवान् असुर यामा में रौंद रहा था ।
देवशत्रु, दानव उन्मत्त गर्व से गरजा
"मम समान बलवान् कौन है मनुज जाति में"॥

तदा तमिस्रामपसारयन्तं
रक्तप्रकाशं दिवि बालसूर्यम् ।
शरोपमैर्घ्नन्तमिवांशुभिस्तं
प्रीतो ददर्शाहमुदग्ररश्मिम् ॥४८॥

तभी तमिस्रा अपसारण करते सूर्योदय,
की द्युति में अरुणाभा बाल-सूर्य की देखी ।
रश्मिबाण से अंधकार को चीर प्रगट हो,
उदित सूर्य को मैंने मुद के संग निहारा ॥

समाकुलं भाविभिरास्यवर्यै-
ब्रह्माणमद्राक्षमथाभ्ररूपम् ।
सहस्रमक्षीणि ददर्श तस्मिन्
प्रतीक्षमाणान्यभयं जनन्याः ॥४९॥

तब मैंने ब्रह्मा को मेघरूप में देखा, भावी
श्रेष्ठ मुखों से जो थे घिरे समाकुल ।
देखा ब्रह्मा में मैंने सहस्र नयनों को,
जिनमें माँ के अभयदान की दिखे प्रतीक्षा ॥

द्विकोटिभास्वद्वरसूर्यभासं
ज्योतिस्तदा सौम्यमरातिनाशि ।
नारीशरीरं रमणीयकान्ति
दूरादुदीच्यामुदियाय शुभ्रम् ॥५०॥

दो करोड़ भास्वत सूर्यों सम चमक रही थी,
उत्तर दिशि में ज्योति सौम्य, रिपुगण विनाशिनी ।
नारी तन, रमणीय कान्ति को, ग्रहण किए वह
धवल ज्योतिर्मयी आविर्भूता महाभवानी ॥

तां ह्लादिता दीप्तजगत्सु देवा-
स्तामन्तरीक्षे मधुरं वयांसि ।
जगुर्मनुष्याः प्रणिपत्य चोर्व्यां
विश्वं विनष्टाधि यदाविवेश ॥५१॥

जब देवी पैठी थी कष्ट-मुक्त जगती में,
तो प्रकाश-पूरित भुवनों, आह्लादित सुरगण,
भू पर प्रणत मनुज ने, कलरव करते खगकुल
अन्तरिक्ष में, सबने वन्दन-गान किया था ॥

समाधिधीरा हिमभूतदेहा
युगान्यनेकानि हिमाद्रिकूटे ।
ये योगिनो भारतगोप्तृरूपा-
स्ते तुष्टुवुस्तां मुदिता महान्तः ॥५२॥

हिमगिरि शिखरों पर समाधि में अचल युगों से,
भारत के संरक्षक योगीजन जो रहते ।
हिमीभूत जिनका शरीर था हुआ समुज्ज्वल,
प्रमुदित होकर उनने वन्दन किया देवि का ॥

ज्ञानाकरेभ्यो हि विलोचनेभ्यो
हिमानि मन्दं युगसञ्चितानि ।
उत्सार्य देवीमथ भीमकान्ति
महाप्रतापा बलिनीमगायन् ॥५३॥

131528

ज्ञानकरों से अपने नयनों से, युग-युग से
संचित हिम-संभार हटा करके धीरे से ।
परम कान्ति जगदम्बा का आराधन करके,
महा प्रतापी जन ने की थी श्रद्धा अर्पित ॥

तुभ्यं नमो देवि विशालशक्त्यै
नमामि भीमां बलिनीं कृपालुम् ।
त्वमेव वै तारयसीह जाती-
रूर्जस्वलायै नम आदिदेव्यै ॥५४॥

हे विशालबलयुक्त भगवति तुम्हें नमन है,
हे भीमे, सबले, कृपालु, मैं प्रणत तुझे हूं ।
सकल राष्ट्रगण की तुम हो उद्धारकारिणी,
हे ऊर्जस्वल, आदि देवि तुमको प्रणाम है ॥

कस्ते बलं वर्णयितुं समर्थो
देवि प्रचण्डे करपल्लवेन ।
एकेन हि भ्रामयसे रुणत्सि
विश्वं सतारार्कमनन्तवीर्ये ॥५५॥

कौन समर्थ शक्तिवर्णन में देवि तुम्हारे,
देवि प्रचण्डे ! अपने कर-पल्लव के द्वारा ।
सूर्य और नक्षत्र सहित संपूर्ण विश्व का,
संचालन, नियमन, अनन्तवीर्ये ! तुम करतीं ॥

आजौ यदा नृत्यसि चण्डि घोरे
शृगालघुष्टे दधती त्रिशूलम् ।
स्पर्शेन कम्पन्त इवायुधस्य
महान्ति तारानियुतानि नाके ॥५६॥

चण्डी, घोरा ! शृगालगण की हुआं-हुआं से
नादित युद्धभूमि में जब तुम नर्त्तन करतीं ।
कर त्रिशूल धर, स्पर्श मात्र से आयुध तेरे,
कम्पित थर-थर अगणित तारकदल अम्बर में ॥

दयार्द्रचित्ता रुदितेन पुंसां
हंसि प्रजापीडकमस्तकेषु ।
यो मृत्युरत्ता भुवनस्य रौद्रः
स किङ्करस्ते वसति त्रिशूले ॥५७॥

तेरा चित्त दयार्द्र बने सुन मानव-क्रंदन,
प्रजापीड़कों के मस्तक पर करती हो प्रहार तुम देवी ।
महाभयंकर कालदेव, इस जग का भक्षक,
वह किंकर तेरा, निवास तेरे त्रिशूल में करता देवी ॥

शक्तिः परा कोटिषु मानवानां
मन्युश्रितानां भवसि प्रबुद्धा ।
आर्यान् विपन्नानवतीर्य पासि
युगे युगे युध्यस आर्यमातः ॥५८॥

कोटि-कोटि जन में प्रबुद्ध तू पराशक्ति है,
उनमें तू ही है प्रबुद्ध , जागृत तू देवी ।
तू ही विपदग्रस्त आर्यों की रक्षा करती,
आर्यों की माता ! युग-युग से युद्धरता तू आर्यों के हित ॥

सद्योऽपि पश्यामि गिरावुदीच्यां
देदीप्यमानं धवलं वपुस्ते ।
त्वं भ्राजसे ज्योतिरुदेषि सौम्ये
प्रकाशयन्ती भुवनानि कान्त्या ॥५९॥

देख रहा हूँ, उत्तर में हिमाद्रि-चोटी पर,
धवल और देदीप्यमान तेरा तन है दे रहा दिखाई ।
सौम्ये ! तुम स्वकान्ति से सारे ही भुवनों को
करो प्रकाशित, दमक रही हो ज्योतिरूपिणी ॥

धेनौ समारूढमनोज्ञकान्ती
रणोन्मदायां चरसीयमार्या ।
शैला इवोत्तुङ्गशिखाः समूलाः
पतन्ति सङ्घाः परितोऽसुराणाम् ॥६०॥

कान्ति मनोहर, वृषभारूढ़ा, रण में जाने
को उन्मत्त, कर रही हो तुम विचरण आर्ये !
तेरे चारों ओर समूह असुर के गिरते, जैसे भू पर
तेरे द्वारा गये उखाड़े, गिरते हों समूल पर्वतगण ॥

सा शुभ्रवर्णासितवृत्तशृङ्गा
हिमस्य राशिश्चलतीव तूर्णम् ।
देवप्रिया भारतभूमिरार्या
धेनुस्वरूपेण विहन्ति शत्रून् ॥६१॥

धवल धेनु वह, मुड़े हुए काले शृंगों की,
जैसे हिम की राशि वेग से विचरण करती ।
देवप्रिया वह भारत भूमा आर्यजनों की,
धेनु-रूप धारण कर करे विनाश शत्रु का ॥

व्यूहास्त्वकस्माज्जितदैवतानां
भयेन ते पाण्डुरकान्तिवक्त्राः ।
वारिप्रपाता इव पर्वतेभ्यो
धावन्त्यधो वेगपराः सशब्दाः ॥६२॥

जिन दैत्यों ने देवों को था किया पराजित,
भय से उनके मुख पीले हो गये, तेज से हीन हुए वे ।
पर्वत से निर्झर की भांति वेग से वे कोलाहल करते,
धावमान थे बड़े वेग से अधोमुखी हो ॥

शृणोमि ते पञ्चनदेषु भीमे
स्वरानुदाराञ्जयनादमुग्रम् ।
निहन्यमानस्य रवं बलस्य
भयङ्करे तारतरं शृणोमि ॥६३॥

भीमे ! सुनता हूं प्रदेश में पञ्चसिन्धु के
तेरे महत् स्वरों को तथा क्षेत्रवासी जन द्वारा जयध्वनि ।
उससे ऊंचे स्वर में सुनता आर्त्तनाद को,
उस दानव सेना का जिसका हनन हो रहा ॥

कृष्णस्य सैषा यमुना स्रवन्ती
रक्तेन नीलं विससर्ज वर्णम् ।
बङ्गेष्वसृक्कर्दममेव पश्य
दिग्दक्षिणा भाति सुलोहितेव ॥६४॥

कृष्णप्रिया नीली यमुना बहती लोहित हो
रक्तस्नात हो गंवा चुकी वह नीलवर्ण है ।
देखो बंगभूमि लोहू-कीचड़ में लथपथ,
देखो दक्षिण दिशा रक्त की भांति लाल है ॥

स्पृष्टास्त्रिशूलेन विहायसीमाः
सुलोहिता भान्ति दिशः समन्तात् ।
अभ्राणि ते रक्तमयानि भीमे
विभान्ति युद्धेन सुदारुणेन ॥६५॥

भीमे ! स्पर्शित हो त्रिशूल से सीमाओं का
अतिक्रम करके, लोहित बनी दिशाएं सारी ।
देवि कराली ! तेरे भीषण रण-प्रभाव से
बादल भी रक्ताभ बन गये गगन क्षेत्र में ॥

सिन्धोस्तटेषूपलकर्कशेषु
देवीमपश्यं युधि शेषितारीन् ।
निःशेषयन्तीमदयां सकोपां
शिवां त्रिशूलेन शिवस्य शत्रून् ॥६६॥

देखा था कठोर पत्थर से भरा सिन्धु-तट
देवी भवानी वध करती अवशिष्ट खलों का ।
मंगलमयी शिवा है दया त्याग, क्रोधित हो,
शिव के रिपुगण का त्रिशूल से नाश कर रही ॥

खुरैः सुनिष्पिष्टमिदं सुरभ्या
घोरं किमेवापि सुकृष्णवर्णम् ।
मांसस्य पिण्डं ह्यवनौ निरीक्षे
शेषोऽयमस्त्येव तवाहितानाम् ॥६७॥

देवों की गौ, सुरभी के खुर से यह कुचली,
कृष्ण घृणास्पद काया जैसी वस्तु यहां पर ।
धरती पर यह पड़ा मांस का पिण्ड देखता,
देवि ! यह अवशिष्ट मांस तेरे रिपुगण का ॥

भग्नानि तस्मिन्निचये विरूपे
प्रनिःसरन्तीव शिरांसि कानि ।
पादाः कराश्चापि हि तत्र तत्र
क्रूरासि रुद्राणि करालकृत्या ॥६८॥

किस-किसके क्षत-विक्षत शीश कुरूप इकट्ठे,
शीश उठाते से जो हैं दे रहे दिखाई ।
हाथ-पैर भी यत्र तत्र बिखरे दिखते हैं,
हे रुद्राणि ! कराल कृत्य में अपने महाक्रूर तू लगती ॥

क्रूरासि रुद्राण्यथवा जघन्ये
क्रूरे प्रजापीडनरूढगर्वे ।
दयेव भूतेयमलं यदार्यं
स्वर्गप्रदं मृत्युमवाप युद्धे ॥६९॥

रुद्राणि ! तू क्रूरा अथवा बनी जघन्या
जनपीड़क दर्पान्ध असुर के हेतु दयामयि ।
जिससे रण में असुर, स्वर्गप्रद मृत्यु प्राप्त कर
तेरे हाथों, स्वर्ग प्रदायिनि मृत्यु पा सके ॥

एको गतासोरपि रुद्रशत्रो-
धर्त्ते करः पावकगर्भमस्त्रम् ।
प्लुष्टश्च चीर्णश्च तथापि दग्धान्
असून् भवान्यां क्षिपतीव दैत्यः ॥७०॥

यद्यपि शिव का शत्रु हुआ म्रियमाण किन्तु वह
पावक-गर्भ शस्त्र धारण कर एक हाथ में ।
हाथ दग्ध, क्षत-विक्षत था, पर दैत्य, भवानी
पर था, अपने जले प्राण के अस्त्र फेंकता ॥

स्रोतांसि पश्यामि महायुधास्याद्
उद्गीर्यमाणानि हुताशनस्य ।
धृष्टोऽप्यसौ नालभते तु चण्डीं
तिष्ठन् प्रभामण्डलमूर्तिमग्रे ॥७१॥

असुरराज के अग्नि फेंकते शस्त्र-वदन से,
उगल रही पावक-लपटों को देख रहा हूं ।
यद्यपि खड़ा धृष्ट दानवपति चण्डी सम्मुख,
फिर भी वह असमर्थ नष्ट कर पाए उसका ज्योतिर्मण्डल ॥

प्रक्षिप्तखड्गस्तु विषाणमध्ये
विष्टम्भयत्यन्तिमचेष्टितं तत् ।
समाप्तमेतत्तव तर्कयामि
महाव्रतं देवि विशालवीर्ये ॥७२॥

देवी द्वारा फेंका गया खड्ग, शृंगों के मध्य भेद कर
यह अंतिम प्रयास दानव का विफल हो चुका ।
हे विशाल वीर्ये, हे देवि ! मुझे लगता है
सफल महाव्रत तेरा, अब यह सब समाप्त है ॥

तुभ्यं नमो देवि विशालशक्त्यै
भीमव्रते तारिणि कष्टसाध्ये ।
त्वं भारती राजसि भारतानां
त्वमीश्वरी भासि चराचरस्य ॥७३॥

देवि ! विशाल शक्तिरूपिणि ! तुझको प्रणाम है,
हे कठोर-व्रत-धारिणि, तारिणि, कष्टसाधिके ।
भारतीय गण में राजित तुम देवि भारती,
तुम ईश्वरी चराचर पर तुम राज्य कर रहीं ॥

त्वमीश्वरी त्वं जननी प्रजानां
कोऽन्यः प्रभुर्दानमिदं तवाढ्ये ।
स्वामित्वमैश्वर्यमनिन्द्यतेजो
ददासि या सापि निहंसि रुष्टा ॥७४॥

तुम्हीं ईश्वरी, तुम ही जननी प्रजाजनों की,
कौन अन्य ऐसा जो दान दे सके तुमको छोड़ भवानी ॥
यह स्वामित्व, और ऐश्वर्य अनिन्द्य तेज जो
तुम ही देतीं किन्तु रुष्ट यदि, नाश करो तुम ॥

नमो नमो वाहनमेतदार्ये
हिमाभकान्तं मधुरायताक्षि ।
तल्लाङ्गुलाग्रेण सुकृष्णभासा
ध्वजं करोतीव तवोच्छ्रितेन ॥७५॥

मधुर विशाल नयन हे देवि ! हे आर्ये तुम !
हिम-समान कमनीय कान्तिमय तेरा यह वाहन है आर्ये ।
उठा पूँछ के अपने सुन्दर कृष्ण सिरे को,
फहराए यह जैसे फहरे यशध्वज तेरा, नमो नमस्ते ॥

नमो नमो देवि तवालकाली
रणश्रमेण प्रसभं विमुक्ता ।
उड्डीयमाना नभसीव मेघो
वेणिच्युता भाति सुदीर्घवक्रा ॥७६॥

काली ! तुम्हें नमन करता हूँ, युद्ध-क्षेत्र में,
अथक परिश्रम से वेणी, घन केशराशि की खुली तुम्हारी ।
है प्रतीत होती मानों लम्बी, घुँघराली,
केशराशि आकाश-मध्य में बादल जैसी उड़ती जाती ॥

श्वेतानने विद्युदिवासि भूमौ
रुषा प्रदीप्ते हि विलोचने ते ।
क्रीडन्त्यपाङ्गेषु करालहासाः
शतह्रदेव स्तनयित्नुमध्ये ॥७७॥

श्वेतानने ! विजयकर्त्री की भांति विद्यमाना तू भू पर,
हुए प्रदीप्त रोष से तेरे रक्त विलोचन ।
तिरछी चितवन की कोरों पर भीषण हास्य बने लीलायित
मानों खेल रही हो बिजली मेघ-मध्य में ॥

द्रष्टुं रिपूंस्तान् पतितान् गतासून्
ग्रीवेयमीषन्नमिता च शुक्ला ।
सजानुवर्यं चरणं भवान्याः
स्तम्भो हिमस्येव विभाति शुभ्रम् ॥७८॥

ग्रीवा धवल देखने के हित जरा झुकाए,
रिपुगण जो निष्प्राण बने हैं उनके ही हित ।
शुभ्र चरण जंघा तक तेरे चमकें जैसे,
हिम के ही खम्भे हों चमक रहे, हे देवी !

शुक्लं प्रवातैरनिलोपमं ते
संक्षोभितं भासुरतोयदाभम् ।
वातीव वासो रुचिराणि मध्ये
राजन्ति तेऽङ्गानि शशिप्रभेव ॥७९॥

धवल वसन है वायु वेग से उड़ता जाता,
वायु, चमकते बादल सम नीले अम्बर में।
रुचिर अतीव वसन में हैं चांदनी सरीखे,
झलमल करते अंग तुम्हारे बने सुशोभन ॥

उदीर्णफेनः पयसस्तरङ्गः
क्षीराब्धिमध्ये स्तन एक एषः ।
त्वं दुर्निरीक्ष्यासि यदङ्गकान्ते-
स्त्विषाक्षि मातः प्रतिहन्यते मे ॥८०॥

क्षीर सिन्धु के दुग्ध धवल उत्तुंग और
फेनिल तरंग की भांति पयोधर तेरा माता ।
मैया ! ऐसा दर्शन कठिन तुम्हारा मम हित,
आंखों में चकचौंध तुम्हारी अंग-कान्ति से ॥

सनातनी देवि शिवस्य पूर्वं
वपुस्त्विदं धारयसे युवत्याः ।
तुभ्यं नमस्तुभ्यमनादिमातः
सौम्या भवाम्ब प्रणतेषु भीमे ॥८१॥

सनातनी तुम देवी शिव के जन्म पूर्व से,
युवती का शरीर तुम धारण किए हुई हो ।
आदि मातृके ! नमन तुम्हें, मेरा प्रणाम लो,
भीमे ! उनको सौम्य बनो जो प्रणत चरण में ॥

उद्दिश्य भूमिं द्रुमराजिनीलां
शैलान्तरालेषु महत्सु दृश्याम् ।
कारुण्यमय्याः प्रसृतः करस्ते
ददासि रुद्राण्यभयं प्रजानाम् ॥८२॥

करुणामयि ! तरुगण समूह के कारण श्यामल
पर्वतगण के विस्तृत अन्तराल में दिखती ।
भूमि ओर इंगित करता कर प्रसृत तुम्हारा,
रुद्राणी ! तू प्रजाजनों को अभय दान दे रही भवानी ॥

तत्संज्ञया ते करपल्लवस्य
तमो विधूतं भुवि भारतानाम् ।
रक्तस्य मेघा नभसोऽपधूता
अचिन्त्यवीर्यासि शुभासि सौम्या ॥८३॥

तेरे करपल्लव के उस संकेत मात्र से,
भारतीय जन की धरणी से अंधकार है लुप्त हो गया ।
रक्तमेघ हैं अम्बर से छंट गये भवानी !
देवि, शक्ति तेरी अचिन्त्य, तू है शुभ, सौम्या ॥

सौम्यं वपुस्ते हिमवर्णमार्यं
सौम्यं भवान्या वदनं ह्युदारम् ।
शुक्लाम्बरां यौवनशुभ्रकान्तिं
स्नेहार्द्रनेत्रां बलिनीं नमामि ॥८४॥

आर्य-वर्ण तेरा है सौम्य, धवल है हिम-सम,
तेरा है मुखमण्डल सौम्य, उदात्त भवानी ।
शुक्लाम्बरा दीप्त यौवन की शुभ्रकान्ति से,
स्नेहसजलनेत्रा, बलशालिनि, देवि, नमस्ते ॥

नरास्थिमाला नृकपालकाञ्ची
क्व सा कराली क्षुधिता च काली ।
नग्ना च घोरा विवृतास्यभीमा
यस्या विरावैः सहसोत्थितोऽस्मि ॥८५॥

धारण कर माला नरास्थि की, नरमुण्डों की
पहन मेखला, कौन कराली क्षुधिता काली ।
नग्ना, भयंकरी, वह खुले हुए मुख वाली,
सहम उठा सहसा देखा आक्रोश देवि का ॥

रक्तस्य योऽयं वहतीह सिन्धु-
श्छायाशुभाया हसतीव तस्मिन् ।
खड्गं परिभ्रामयति स्तनन्ती
नग्ना सुघोरा च नमामि कालीम् ॥८६॥

यह जो शोणित सिन्धु प्रवाहित, इसमें देखा,
उस कल्याणमयी की मानों छाया हंसती ।
गर्जन करती जो अपनी तलवार घुमाती,
उस नग्ना, घोरा, काली को नमन करूं मैं ॥

काली त्वमेवासि सुनिष्ठुरासि
त्वमन्नपूर्णा सदया च सौम्या ।
नमामि रौद्रां भुवनान्तकर्त्रि
प्रेमाकुलामेव नमामि राधे ॥८७॥

तू अतिनिष्ठुर, तू ही काली, तू ही अन्नपूर्णा देवी,
दया-भरी तू अतिशय सौम्या, देवि भवानी ।
तू ही रुद्राणी ! भुवनों की अन्तकारिणी,
प्रेमाकुला तुम्हीं राधा हो, तुम्हें नमन है ॥

अनन्तशक्त्यृद्धिमशेषमूर्तिं
को वक्ष्यतीमां तव सर्वशक्ते ।
तेजस्त्वमेतद्बलिनां बलञ्च
त्वं कोमलानामपि कोमलासि ॥८८॥

सर्वशक्तिमयि ! तेरी शक्ति अनन्त, ऋद्धि तुम, अखिल
मूर्तिमयि, उसका वर्णन कौन यहां पर जो कर पाए ।
तू ही बल है बलवानों में, तेज तुम्हीं तेजस्वी जन में,
पर कोमल से भी कोमल तू देवि भवानी ॥

सौम्यामहं त्वां द्विभुजां नमामि
त्रिशूलिनीं त्वामभयं वहन्तीम् ।
त्वामम्ब सावित्रि शुभे त्रिनेत्रे
शुक्लाङ्गवस्त्रां वृषरूढकान्तिम् ॥८९॥

तुम महती सौम्या, हे द्विभुजा, तुम्हें नमन है,
हे त्रिशूलिनी, अभयदायिनी तुम्हें नमस्ते ।
हे सावित्री, शुभे, त्रिनेत्रे, महा-अम्बिके !
शुक्लाम्बरधारिणी वृषभ-आरूढ़ भवानी ॥

दशायुधाढ्या दशदिक्ष्वगम्या
पातासि मातर्दशबाहुरार्यान् ।
सहस्रहस्तैरुपगुह्य पुत्रान्
आस्से जगद्योनिरचिन्त्यवीर्या ॥९०॥

दशप्रहरणधारिणी देवि, दशभुजा भवानी !
आर्य-रक्षिके ! दसों दिशाओं में दुर्लभ तू ।
हे अचिन्त्यवीर्ये ! सहस्र कर पुत्रों को परिरम्भित करती,
जग की उद्‌गम तू कल्पनातीत बलशालिनि ॥

प्रकाशयन्तीं गहनानि भासै-
भीमां ज्वलत्पर्वतमूर्तिमग्रचाम् ।
पश्यामि देवीं नगरेषु सौम्यां
द्वारि स्थितामार्यभुवः सखड्गाम् ॥९१॥

ज्योतित करती अंधतमस् घन, जलते गिरि
की मूर्ति, भीम आकारमयी तुम देवी सौम्या ।
आर्यावर्त नगर द्वारों पर तुम्हें देखता, सौम्ये लेकर
खड्ग हाथ में सजग बनी तुम रक्षा करतीं ॥

कलिं दमित्वा जननी प्रजानां
सत्त्वाधिकापत्यकुलैर्विभाति ।
स्वाधीनवृत्तीनि पुनश्चरन्ति
पश्यामि तान्यागममार्गगाणि ॥९२॥

कलि का करके दमन, प्रजा की माता देवी
सत्त्वाधिका आत्म-संतति से होकर शोभित ।
फिर स्वाधीन आचरण करते, वेदमार्ग का
अनुसर करते पुनः प्रजाजन को मैं करते देखूं ॥

पुनः शृणोमीमरण्यभूमौ
वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम् ।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां
कुल्येव पुंसां वहति प्रपूर्णा ॥९३॥

पुनः अरण्यभूमि में मैं हूं श्रवण कर रहा,
वेद-घोष जो अमृत तत्त्व का उत्स हृदय में ।
मुनियों के गंभीर ज्ञानमय आश्रम दिशि को,
बहती है परिपूर्ण प्रवाहित मानव-सरिता ॥

सनातनान् रक्षति धर्ममार्गान्
पुनः सहस्रांशुकुलार्यजन्मा ।
लक्ष्मीः पुनः साप्यचला स्मितास्या
समुज्ज्वला राजति भारतेषु ॥९४॥

सहस्रांशु कुल में जन्मे जो आर्य कर रहे,
पुनः सनातन धर्म पथों की सम्यक् रक्षा ।
पुनः उज्ज्वला चंचल लक्ष्मी के अधरों पर
स्मिति लेकर भारत के मध्य विराज रही हैं ॥

पुरातनीं मातरमागमानाम्
आगच्छताञ्च स्तुवताञ्च भूमिम् ।
प्राच्यां प्रतीच्यां जगतोऽखिलस्य
कोलाहलं वेगरवाञ्शृणोमि ॥९५॥

पुरातनी माता वेदों की, जो उसकी दिशि ओर जा रहे,
उस धरती का वन्दन करते हैं समस्त जन ।
पूर्व, प्रतीच्य दिशा में, मैं हूं सारे जग के
निकट आ रहे कोलाहल को श्रवण कर रहा ॥

सद्धर्मगर्भेति महाव्रतेति
स्तुवन्ति सौम्याञ्च भयङ्करीञ्च ।
देव्याः प्रियां भूमिमनादिशक्त्यास्
तीर्थस्वरूपेण च पूजयन्ति ॥९६॥

हे सद्धर्म धारिणी देवी, धारण किए महाव्रत जग में,
आदि आदि वन्दन करते हैं हे सौम्ये हे देवि भयंकरि ।
आदि अनादि शक्ति, माता की प्रिया भूमि को,
तीर्थ स्वरूप मान करके जन करते पूजन और वन्दना ॥

शिवस्य काश्यां निवसन्ति ये के
स्पर्शेन ते तस्य भवन्ति मुक्ताः ।
देव्यास्तु पुण्येन पदार्पणेन
सर्वार्यभूमिर्जगतोऽपि काशी ॥९७॥

शंकर की काशी में करके वास लोग जो,
शिव-स्पर्श से मुक्ति पा सकें, वैसे ही अब मातृशक्ति के,
पदार्पण से ही पावन बन करके सारी,
आर्यभूमि बन जाएगी सारी जगती के हित में काशी ॥

प्रीतिर्दया धैर्यमदम्यशौर्यं
श्रद्धा तितिक्षा विविधाश्च विद्याः ।
अनन्तरूपे त्वमसि प्रसीद
चिरं वसार्ये हृदि भारतानाम् ॥९८॥

प्रीति-प्रेम की, दया-धैर्य की, शौर्य-अदम्यमयी तू माता
श्रद्धा और तितिक्षा, विविधा विद्या तुममें बने मूर्त्तिता ।
सब कुछ तू है, हे अनन्तरूपे ! प्रसन्न हो !
करो सर्वदा वास भारतीयों के हृदयस्थल में माता ॥

सिन्धून् हिमाद्रिञ्च सुसौम्यभासा
प्रकाशयन्ती सुदृढप्रतिष्ठा ।
तिष्ठ प्रसन्ना चिरमार्यभूमौ
महाप्रतापे जगतो हिताय ॥९९॥

सकल सिन्धुओं, सभी पर्वतों को सुसौम्य
निज परंज्योति से करो प्रकाशित सुदृढ़प्रतिष्ठे !
महाप्रताप तुम्हारा, तू प्रसन्न होकर माँ !
जगत्-हिताय आर्य-भूमा पर चिर निवास कर ॥

नीरदबरन

श्रीअरविन्द आश्रम के वरिष्ठ समर्पित साधक नीरदबरन ने १७ जुलाई २००६ को हम सबसे हमेशा के लिए विदा ले ली। इनका जन्म १७ नवम्बर १९०३ को हुआ था। अपने गुरु श्रीअरविन्द के दर्शन के समर्थ व्याख्याता नीरद दा १९३८ से १९५०—बारह वर्षों तक—गुरु के व्यक्तिगत परिचारक रहे। एडिनबर्ग—लन्दन से शिक्षा-प्राप्त नीरद दा ने डॉक्टरी की परीक्षा पास की थी, आश्रम के भी वे चिकित्सक रह चुके थे, साथ ही उनका जीवन गुरु को समर्पित एक जीती-जागती मिसाल था, गुरु ने ही उनके अन्दर के कवि को जगाया।

श्रीअरविन्द के साथ नीरद दा के विशेष सम्बन्ध के बारे में हम नीरद दा की ही कृति से उद्धृत कर सकते हैं : "जब हम श्रीअरविन्द के पैर की हड्डी टूटने के बाद उनकी सेवा में निरत रहते थे, एक दिन श्रीमां कमरे में आयीं और उन्होंने एक अन्तर्दर्शन देखा कि श्रीअरविन्द और मैं एक बिस्तर पर दो शिशुओं की तरह आपस में खेल रहे थे।" कितना सुन्दर अन्तर्दर्शन!

नीरदबरन की प्रमुख कृतियां—१—Correspondence with Sri Aurobindo, २—Twelve Years with Sri Aurobindo, ३—Sri Aurobindo for All Ages, ४—Memorable Contact with the Mother. ये तथा कुछ अन्य पुस्तकें इस योग का अभ्यास करने वालों के लिए अत्युत्तम पथ-प्रदर्शक हैं जो जिज्ञासुओं को श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के योग की गभीरता में प्रवेश कराने के साथ-साथ जीवन और साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर भी प्रकाश डालती हैं।

नीरद दा को हमारी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि!

सोसायटी समाचार

१५ अगस्त २००६—दर्शन-दिवस पर श्रीअरविन्द का यह सन्देश बंटा:

आध्यात्मिकता कोई उच्च बौद्धिकता नहीं है, न ही यह आदर्शवाद है, न है यह मन का नीतिपरक झुकाव या नैतिक पवित्रता तथा कठोरता, न है यह धर्मपरायणता, न ही तीव्र और उदात्त भावुक ज्वर और न ही है इन सभी अत्युत्तम वस्तुओं का संयोजन . . . । अपने सार में आध्यात्मिकता है हमारी सत्ता की आन्तरिक वास्तविकता का एक ऐसी आत्मा, स्व, अन्तरात्मा में उद्बोधन जो हमारे मन, प्राण और शरीर से एकदम भिन्न है; यह है जानने, अनुभव करने, वही बन जाने, परे की उस महानतर परम वास्तविकता के सम्पर्क में आने की अभीप्सा जो सारे विश्व पर छायी हुई है और हमारी अपनी सत्ता में भी निवास करती है। अभीप्सा, सम्पर्क, तादात्म्य, हमारी सत्ता का नये सम्भवन या नयी सत्ता, नयी आत्मा और नयी प्रकृति में प्रस्फुटन के परिणाम-स्वरूप परम वास्तविकता के साथ सायुज्य, तादात्म्य सिद्ध हो जाता है और हमारी सारी सत्ता पलट जाती, परिवर्तित और अन्त में रूपान्तरित हो जाती है।

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द सोसायटी की वार्षिक जनरल सभा १४ अक्तूबर २००६ को कलकत्ता के रजिस्टर्ड ऑफिस में होगी। इसकी विस्तृत सूचना इस अंक के पृ. ३८ पर दी गयी है।

सोसायटी के बीच-ऑफिस में डॉ. मंगेश नडकर्णी के दो अध्ययन शिविर : १)—२६ नवम्बर से ४ दिसम्बर २००६ तक श्रीअरविन्द के Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) और २)—२३ फरवरी से ५ मार्च २००७ तक 'सावित्री' पर—लगेंगे।

हमेशा की तरह ये शिविर सवेरे ९ से १० तक, फिर १०.३० से

११.४५ तक लगेंगे। इसमें सभी का स्वागत है।

पैगम्बरपुर (उ. प्र.) केन्द्र ने पैगम्बरपुर और उसके आस-पास के गांवों के बच्चों के लिए एक 'वर्कशॉप' का आयोजन २९ मई से १८ जून २००६ तक किया। विषय था, 'श्रीअरविन्द के प्रकाश तले सर्वांगीण विकास'। दिल्ली के लेडी श्रीराम कॉलेज और हंसराज कॉलेज की २ युवा लड़कियों ने गांव की तीन लड़कियों के साथ इस 'वर्कशॉप' का सञ्चालन किया। बच्चों को अपने शरीर के विभिन्न भागों—भौतिक, मानसिक, प्राणिक, आध्यात्मिक तथा चैत्य—के बारे में कुछ सोचने, समझने और सचेतन होने के सरल उपाय दर्शाये गये। करीब ६० बच्चों ने इसमें भाग लिया।

नॉएडा (उ, प्र.) शाखा में हांग-कांग के Sri Maa School of Transformational Yoga के प्रमुख श्री स्वामी विद्यानन्द का भाषण हुआ, विषय था, 'श्रीमां'। १८ जून २००६ को श्रीअरविन्द सोसायटी के अध्यक्ष श्री प्रदीप नारंग ने Harmony (सामञ्जस्य) पर भाषण दिया, बाद में प्रश्नोत्तर का सिलसिला भी चला। इस शाखा ने 'योगासन, प्राणायाम और ध्यान-शिविर' का आयोजन १७.६.०६ से २५.६.०६ तक किया। इसके सञ्चालक थे लखनऊ के स्वामी सत्य गोविन्द जी।

नव विहान का 'डेस्क कैलेण्डर' नाप—८"×५.७५"

नव विहान के २००७ के 'डेस्क कैलेण्डर' का विषय है—'Hibiscus' —जवाकुसुम। श्रीमां ने ५७ विभिन्न जवाकुसुमों को उनका आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया है, नव विहान ने उनमें से १२ पुष्पों को २००७ के कैलेण्डर के लिए चुना है। सभी चित्र रंगीन हैं और हर पन्ने के पीछे मासिक आयोजक भी छपा है। प्रत्येक का दाम ६० रु. है। पूरी जानकारी के लिए कृपया इस पते पर सीधा पत्र-व्यवहार करें :

Nava Vihan, 23 Rue de la Campagnie, Pondicherry-605001
E-mail: navavihan@eth.net; Ph. No.: (0413) 2233697

Notice for the Annual General Meeting

The Annual General Meeting of the members of Sri Aurobindo Society will be held on Saturday, the 14th October 2006, at 4.00 p.m., at its registered office at Sri **Aurobindo Bhavan, 8, Shakespeare Sarani, Kolkata-700071,** to transact the following business:

1. To confirm the minutes of the last Annual General Meeting held on 22nd October 2005.
2. To consider and approve the Audited Balance Sheet and Income & Expenditure Accounts of the Society for the year ended 31.03.2006.
3. To consider and adopt the Executive Commitee's Annual Report of Activities for the year 2005-2006.
4. To appoint an auditor for the Society for the year 2006-2007.
5. To consider any other matter with the permission of the chair.

16th August 2006
Pondicherry

(Pradeep Narang)
Chairman

Note: The members are entitled to appoint proxy. Proxies must be deposited at the Registered Office of the Society at No.8, Shakespeare Sarani, Kolkata–700071, during office hours, in advance but not less than 48 hours before the time fixed for holding the meeting.

अक्तूबर २००६

रु. ७.००

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

अग्निशिखा

37/3

अखिल भारतीय पत्रिका

30/Nov/06

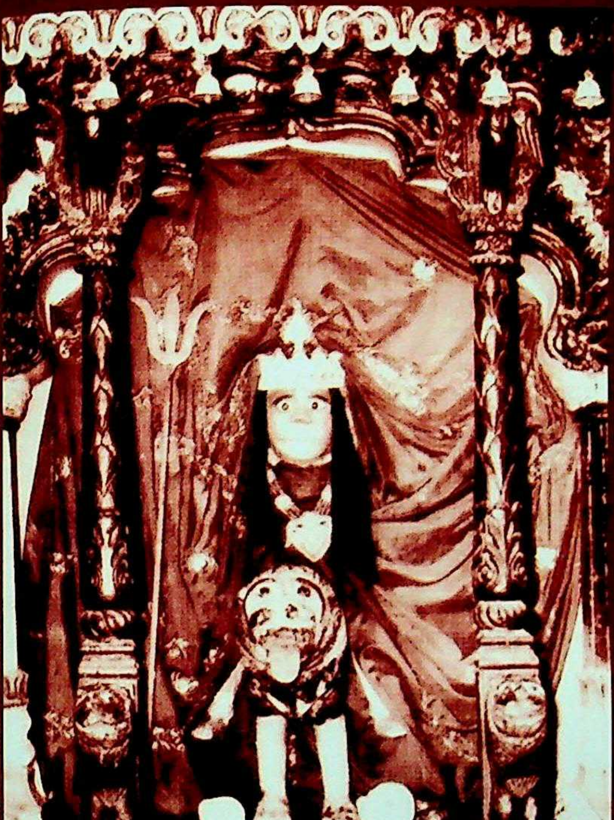

Mahakali Temple at Karnali

अग्निशिखा अक्तूबर २००६ वर्ष ३७, अंक ३, पूर्णांक ४३५

विषय-सूची

सन्देश	श्रीअरविन्द	१
'सम्पादकीय' : अपराजेय (३)	अनुबेन	२
दैनन्दिनी		६
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क : माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया	नीरदवरण	८

महाकाली तथा काली के रूप

(श्रीमां के वचन)

काली का कार्य	१३
महाकाली का सक्रिय और सबल प्रेम	१५
महाकाली को चित्रित करने वाली मूर्तियां	१७
माताजी की चार शक्तियों की स्वतन्त्रता	२२
दो प्रकार की कालियों के साथ श्रीमां की भेंट	२३
धार्मिक क्रियाओं के बारे में श्रीमां	३०
आश्रम में पूजा-दिवस	३३
भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध	३६
सोसायटी समाचार	३८

मुखपृष्ठ का चित्र

गुजरात, चान्दोद के पास करनाली में काली-मन्दिर की मूर्ति का चित्र

(श्रीअरविन्द यह मन्दिर देखने गये थे।)

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

... मातः दुर्गे! तुम्हारी सन्तान हम, तुम्हारे प्रसाद से, तुम्हारे प्रभाव से महत् कार्य के, महत् भाव के उपयुक्त हों। विनाश करो क्षुद्रता का, विनाश करो स्वार्थ का, विनाश करो भय का।

... मातः दुर्गे! अन्तःस्थ रिपुओं का संहार कर बाहर के बाधा-विघ्नों को निर्मूल करो। बलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता जाति भारत के पवित्र काननों में, उर्वर खेतों में, गगनसहचर पर्वतों के नीचे, पूतसलिला नदियों के किनारे एकता में, प्रेम में, सत्य में, शक्ति में, शिल्प में, साहित्य में, विक्रम में, ज्ञान में श्रेष्ठ होकर निवास करे, मातृचरणों में यही प्रार्थना है, प्रकट होओ।

... वीरमार्गप्रदर्शिनि आओ! अब विसर्जन नहीं करेंगे। हमारा अखिल जीवन अविच्छिन्न दुर्गापूजा हो, हमारा समस्त कार्य अविरत पवित्र-प्रेममय-शक्तिमय मातृसेवाव्रत हो, यही प्रार्थना है, मातः, आविर्भूत होओ, भारत में प्रकट होओ।

—श्रीअरविन्द

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

'सम्पादकीय' :

अपराजेय

(३)

हालांकि श्रीअरविन्द सयाजी राव की नौकरी में थे किन्तु उनके साथ सयाजी राव बराबरी का व्यवहार रखते थे।

एक दिन महाराजा घोड़े पर सवार हो सैर के लिए निकले। श्रीअरविन्द भी उसी दिशा में जा रहे थे। रास्ते में एक बुढ़िया खड़ी थी जिसके पास ही गोबर का एक टोकरा पड़ा था, उसको उठाना बुढ़िया के बस का काम न था। सामने घुड़सवार को देखा तो बोल उठी, "ए भाई, जरा मेरी टोकरी उठा दो न।" सयाजी राव घोड़े से कूद पड़े और टोकरी उसके सिर पर चढ़ा दी। बुढ़िया के जाने से पहले महाराजा ने उसका पता पूछ लिया। महाराजा पीछे मुड़े तो देखा कि श्रीअरविन्द उनकी ओर देख कर मुस्कुरा रहे थे। महाराजा ने मुस्कुराने का कारण पूछा तो वे कुछ नहीं बोले, किन्तु उनके आग्रह करने पर श्रीअरविन्द बोले, "बड़ौदा के महाराजा को गरीबों का भार चढ़ाना चाहिये या उतारना!" महाराजा उनका मतलब ताड़ गये और दूसरे दिन सवेरे ही उन्होंने बुढ़िया को दरबार में बुलाया। वह हांफती-कांपती जब दरबार में पहुंची तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि कल वाला घुड़सवार सिंहासन पर बैठा है! वह सहम गयी, लेकिन महाराजा ने बुढ़िया से मधुर बातें कीं और उसका डर चला गया। उन्होंने उसकी स्थिति का पता लगाया और उसके पालन-पोषण की व्यवस्था के साथ-साथ मकान बनाने का हुकुम भी दे दिया। यह घटना महाराजा और श्रीअरविन्द के मधुर सम्बन्ध का बड़ा मार्मिक उदाहरण है।

श्रीअरविन्द को जो काम दिया गया वह उन्होंने अच्छी तरह किया हालांकि उसमें उन्हें रस नहीं था, किन्तु वे अपने ध्येय को भूले नहीं थे।

बड़ौदा में रहते हुए उन्हें चाय और सिगरेट का शौक हो गया था, बस उनका यही एक शौक था। उनके एक विद्यार्थी आर. एन. पाटकर उनके कमरे का वर्णन करते हैं, वे लिखते हैं, "श्रीअरविन्द बहुत सादगी से रहते थे। उनके ठाठ-बाट के कपड़े न थे। वे न तो टीम-टाम करते थे न घर की सजावट में रस लेते थे...।" एडवोकेट पाटकर कहते हैं, "श्रीअरविन्द को धन की ममता न थी। उन्हें तीन महीने का वेतन एक थैली में मिलता था। वे पूरी थैली तश्तरी में मेज पर रख देते थे, यानी पैसे ताले-चाबी में कभी न रखते थे न ही हिसाब रखते थे। एक दिन मैंने पूछ लिया, 'आप पैसे इस तरह क्यों रखते हैं?' उन्होंने हंस कर कहा, 'यह इस बात का प्रमाण है कि मेरे आसपास के लोग प्रामाणिक और ईमानदार हैं।' मैंने कहा, 'लेकिन आप हिसाब कहां रखते हैं...?' यह सुनकर श्रीअरविन्द गम्भीर हो गये और थोड़ी देर चुप रहकर बोले, 'मेरे लिए भगवान् स्वयं हिसाब रखते हैं..."

इस तरह सोने के पिंजरे में रहते हुए भी श्रीअरविन्द अपने उद्देश्य को भूल न पाये और इसीलिए वे अन्दर ही अन्दर छटपटा रहे थे। ऐसे समय उनके मित्र बैरिस्टर केशवराव गवेश देशपाण्डे भारत आये जिन्हें पत्रकारिता में रुचि थी। वे भी भारत की स्वाधीनता के लिए कुछ कर गुजरना चाहते थे। उस समय मराठी की एक पत्रिका 'इन्दु-प्रकाश' निकल रही थी। उसके संचालक चाहते थे कि 'इन्दु-प्रकाश' अंग्रेजी में निकाली जाये। संचालक ने देशपाण्डे को यह काम सौंप दिया। देशपाण्डे श्रीअरविन्द के पास गये और उनसे उस पत्रिका के लिए कुछ लिखने का आग्रह किया। "अन्धा क्या

चाहे ? दो आंखें न ! !" भारत में दो ही वर्ष रहते हुए उन्होंने भारतीय जनता और अंग्रेज सरकार का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण किया था। उन्होंने एक लेखमाला लिखनी शुरू की। उसका शीर्षक था, 'पुराने दीपकों की जगह नये दीपक'। पहले लेख में ही उन्होंने जो लिखा था उसे पढ़कर ऐसा लगा कि उन्होंने भारतीय चरित्र को बहुत अच्छी तरह समझ लिया था, जब कि भारत में आये हुए उन्हें केवल दो वर्ष ही हुए थे! बाईस वर्ष के इस युवक की वाणी, अनुभवी परिपक्व नेता की वाणी थी। वे लिखते हैं, "हमारे वास्तविक शत्रु हैं : हमारी बिलबिलाती हुई दुर्बलता, हमारी भीरुता, हमारी स्वार्थपरता, हमारा ढोंग, हमारी मन्दबुद्धिपूर्ण भावुकता। अगर हम अंग्रेजों के कृत्रिम रौब-दाब से चुंधिया न जायें तो हमें तुरन्त पता लग जायेगा कि उनसे नाराज होने की जरूरत नहीं। हमें उनकी न्यायपरायणता से अपील करने की जरूरत नहीं है। हमें अपने अन्दर पौरुष जगाना होगा...।" इस पहले लेख ने खलबली मचा दी। भारतीय और अंग्रेज अफसर सबने जानना चाहा कि ऐसी धृष्ट और बेबाक वाणी किस सिरफिरे की है। वे लेखक का नाम जान न पाये, कारण यह था कि श्रीअरविन्द ने अपना नाम देना उचित न समझा था, उन्होंने लेखक के नाम की जगह लगाया था शून्य! फिर भी जैसे सूर्य को किसी तरह छिपाया नहीं जा सकता वैसे ही उस समय की काँग्रेस के नेताओं ने उनको ढूंढ़ ही निकाला। उन्होंने भयभीत होकर उन पर दबाव डाला कि इतने क्रान्तिकारी, आवेशपूर्ण लेख न लिखें क्योंकि काँग्रेस के नेता उस समय अनुनय-विनय करके सरकार से छोटी-छोटी बातें मनवाने के लिए प्रार्थना किया करते थे। कैसी सचोट और स्पष्ट भाषा में उन्होंने अपने देशवासियों को लताड़ा है! ऐसी भाषा तभी सुनायी देती है जब किसी को अपने लोगों से अगाध प्रेम हो। उस लेखमाला का सारांश यह था :

१. काँग्रेस के आदर्श भूलों से भरे हैं। इसके उत्तम उद्देश्यों की सिद्धि के लिए सच्चे दिल से प्रयास नहीं किया जाता, नेताओं की पद्धति सच्ची नहीं है। यहां अन्धे नहीं तो काने अन्धों को रास्ता दिखाते हैं।
२. हमारे अन्दर दिल की सचाई और शक्ति की कमी है। हमारी जनता के चरित्र और शक्ति को जगाने की जरूरत है। हमें अपनी दासता का भान नहीं है, हमारे अन्दर स्वाधीनता के लिए ललक नहीं है। हमारे अन्दर ऐसी भावना जागनी चाहिये कि दासता का जीवन मरण से भी निकृष्ट है। भारत की जनता को जगाना और उसे राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिये।

केवल दो वर्ष भारत में रहकर इस तरह का लेख लिखनेवाले की दृष्टि कितनी पैनी होगी और मस्तिष्क कितना तेज होगा! लेकिन काँग्रेस के नेता, जो अंग्रेज सरकार से विनती करते आये थे, ऐसे लेख से डर गये और उन्होंने इस लेखमाला को बन्द करवा दिया।

फिर भी ऐसी-वैसी रुकावट से श्रीअरविन्द रुकनेवाले तो थे नहीं। एक दरवाजा बन्द हुआ तो उन्होंने दूसरा दरवाजा खोल लिया। जतीन्द्रनाथ बैनर्जी सयाजी राव की सेना में भर्ती होने के लिए बंगाल से बड़ौदा आये थे। वे बंगाल में क्रान्तिकारी काम करना चाहते थे इसलिए अपने-आपको तैयार करने के लिए बड़ौदा आये थे। श्रीअरविन्द अपने मित्र खासीराव जाधव और माधवराव की सहायता से उन्हें सेना में भेज पाये। चूंकि बंगाली क्रान्ति के लिए बदनाम थे (सरकार की नजरों में) इसलिए सेना में दाखिल होते समय उन्हें उत्तर-प्रदेश का निवासी बताया गया था।

(क्रमशः)

—अनुबेन

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. सम्पूर्ण सच्चाई और शुद्ध अमिश्रित नम्रता ही तुम्हारी रक्षा कर सकती हैं।
२. परेशान मत होओ और जिस रास्ते से तुम्हें सहायता मिले उससे अपने-आपको पूरी तरह परम प्रभु को दे दो।
३. सभी काम यौगिक भाव से किया जा सकता है और किया जाना चाहिये परन्तु आहुति भगवान् के प्रति होनी चाहिये किसी मनुष्य के प्रति नहीं।
४. जो संसार में एकाकी अनुभव करते हैं वे भगवान् के साथ एक होने के लिए तैयार हैं।
५. सच्चाई भगवान् के दरवाजों की चाबी है।
६. भागवत कार्य के लिए अपने उत्सर्ग में पूरी तरह सच्चे बनो। यह तुम्हारे बल और तुम्हारी सफलता को आश्वासन देगा।
७. भगवान् के प्रति अपने समर्पण में सच्चे और सम्पूर्ण बनो तो तुम्हारा जीवन सामंजस्यपूर्ण और सुन्दर बन जायेगा।
८. कभी डरो मत, तुम्हारी सच्चाई तुम्हारी सुरक्षा है।
९. अपने आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सच्चे बनो, यानी उसे ही अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाओ।
१०. भगवान् हमेशा उनके साथी होते हैं जो उत्साही और सच्चे हैं।
११. सच्चाई और निष्ठा—पथ के दो रक्षक हैं।
१२. हम सभी विपरीत मतों के बावजूद सच्चे होना चाहते हैं, सच्चाई हमारी सुरक्षा है।
१३. सच्चे बनो और आवश्यक हो तो मैं तुम्हारी भूलें हजार बार ठीक करने के लिए भी तैयार हूं।

१४. जो सच्चे हैं, मैं उनकी सहायता कर सकती हूं और उन्हें आसानी से भगवान् के प्रति मोड़ सकती हूं।

१५. जब तुम्हें यह विश्वास हो कि तुमने पूर्ण सच्चाई पा ली है, तो निश्चय जानो कि तुम मिथ्यात्व में डूब गये हो।

१६. शाश्वत चेतना के सामने सचाई की एक बूंद का मूल्य पाखण्ड और ढोंग के सागर से बढ़कर है।

१७. भगवान् को धोखा देने की कोशिश न करो।

१८. अपने-आप सच्चा बनने के लिए यह जरूरी नहीं है कि तुम औरों के सच्चा बनने का इन्तजार करो।

१९. अभीप्सा करते चलो तो आवश्यक प्रगति आकर रहेगी।

२०. अभीप्सा की लौ इतनी सीधी और इतनी तीव्र होनी चाहिये कि कोई बाधा उसे विलीन न कर सके।

२१. अग्नि को अनवरत जलने दो और शान्ति से निश्चित परिणाम की प्रतीक्षा करो।

२२. वर दे कि अभीप्सा का सूर्य अहंकार के बादलों को छितरा दे।

२३. श्रद्धा सबसे घने अन्धकार के दिनों में सबसे अधिक निश्चित पथ-प्रदर्शक है।

२४. अपरिवर्तनशील श्रद्धा बनाये रखो, सत्य की विजय होगी।

२५. भगवान् पर श्रद्धा रखो और अपने अन्दर गहरे जाओ, मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ है।

२६. कठिनाइयों का सामना करने के लिए सबसे अच्छा तरीका है भागवत कृपा पर स्थिर, अचंचल विश्वास।

२७. विश्वास के साथ हम आगे बढ़ेंगे, निश्चिति के साथ हम प्रतीक्षा करेंगे।

२८. हे प्रभो! कौन है जो तेरे सामने खड़ा होकर पूरी सच्चाई के

साथ कह सके कि उसने कभी कोई भूल नहीं की!

२९. दिन में कितनी बार हम तेरे कार्य के विरुद्ध अपराध करते हैं और हमेशा तेरी कृपा उन्हें मिटा देने के लिए आ जाती है।

३०. जहां कहीं सचाई और सद्भावना होती है, वहीं भगवान् की सहायता भी रहती है।

३१. सच्ची पुकारें अवश्य ही 'उन' तक पहुंचती हैं और उत्तर प्राप्त करती हैं।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड १४ से

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

माताजी ने चिकित्सा-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू किया

अब मैं यह बतलाना चाहता हूं कि केवल दो व्यक्तियों के कारण माताजी ने सामूहिक कार्य में कैसे हस्तक्षेप किया। भोजनालय में एक तरकारी परोसी जाती थी। उसमें प्याज की-सी गन्ध होती थी। तरकारी तो स्वादिष्ट होती थी किन्तु एक साधक ने यह सोच कर कि उसमें प्याज है, माताजी से शिकायत की कि मुझे प्याज खाने की आदत नहीं है और उसे खाते ही मुझे उल्टी हो जाती है। माताजी ने उस एक व्यक्ति के कारण वह व्यंजन बन्द करवा दिया! वास्तव में उस व्यंजन में प्याज नहीं बल्कि लीक (एक तरह का पौधा) होती थी जिसमें प्याज की-सी गन्ध होती है।

माताजी का दूसरा हस्तक्षेप एक साधिका के कारण हुआ था। उसे बहुत समय से दमे की बीमारी थी। अजीब बात यह थी कि सहिजन की फली खाने से उसे 'एलर्जी' हो जाती थी और सारे

शरीर में ददोरे निकल आते थे, उसके बाद दमे का भयंकर आक्रमण होता था। इस एक के कारण माताजी ने आज्ञा दी कि सहिजन की फली भोजनालय की तरकारी में न डाली जाये। शायद एक बार गलती से या जान-बूझ कर थोड़ी-सी सहिजन की फलियां तरकारी में आ गयीं, यह सोच कर कि इतनी कम मात्रा से नुकसान न होगा। लेकिन उसे खाते ही उसके शरीर में ददोरे फिर से फैल गये और दमे का हल्का आक्रमण भी हुआ। तब सख्ती से माताजी ने आश्रम के भोजन से बेचारी सहिजन की फलियों का बहिष्कार कर दिया।

वही साधिका प्रायः आधे वर्ष तक एग्ज़िमा का दर्द सहती रही। यह बात सब जानते हैं कि दमा और एग्ज़िमा रहस्यमय ढंग से जुड़े हुए हैं। अगर एक को ठीक किया जाये या दबाया जाये तो दूसरा प्रकट हो ही जाता है। एग्ज़िमा को दूर करने के लिए हम लोगों ने कई दवाइयों का उपयोग क़िया, मरहम लगाने से लेकर विशेष इंजेक्शन तक दिया, सब कुछ किया। जब हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये तब माताजी ने एक सरल उपाय सुझाया, उन्होंने लिखा, "तुमने कभी रुई को लिस्टरिन से भिगो कर उस स्थान को धोने की कोशिश की है? जब त्वचा सूख जाये तब क्या उसके ऊपर एन्टी सेप्टिक पाउडर छिड़का है?"

उनके लिखे अनुसार मैंने करने का प्रयास किया किन्तु मुझे बहुत सफलता नहीं मिली। बीमार लड़की का धैर्य भी टूटता जा रहा था। मुझे याद नहीं, कैसे एक दिन एग्ज़िमा ठीक-सा लग रहा था। माताजी ने कहा कि वे उसे देखना चाहेंगी। वे चाहती थीं कि मैं उसे ऊपर ले आऊं। तब माताजी ने उसके दोनों पांवों पर दृष्टि डाली, दोनों पर धब्बे थे, बहुत दुःखद स्थिति थी; फफोले, फोड़े सब बहते जा रहे थे। बहुत ध्यान से देखकर माताजी ने गम्भीर स्वर में पूरा जोर लगा कर कहा कि दवाइयों में इसका इलाज नहीं है। इस

बीमारी का उपाय इस लड़की के हाथ में है। इसे अपना स्वभाव बदलना होगा। अन्त में माताजी ने मुझे ऐसा लोशन और पाउडर लगाने के लिए दिये जो दाहक न थे। मुझे पता नहीं माताजी की डांट से उस बीमार का स्वभाव बदला या नहीं, लेकिन एग्ज़िमा को तो जाना ही पड़ा! यह मेरे लिए माताजी के हस्तक्षेप का पहला और अन्तिम अनुभव था। माताजी उस बीमार लड़की के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित थीं। जब माताजी के साथ मैं अकेला था, तब उन्होंने मुझसे कहा कि उस लड़की को साफ-साफ और कुछ हद तक कठोर ढंग से जो कहने की जरूरत थी, वह कहने का उन्हें अवसर मिल गया। यही माताजी और श्रीअरविन्द के कार्य करने का रहस्य है। वे समय और अवसर की प्रतीक्षा करते रहते हैं। मैंने यह भी सीखा कि स्वभाव और बीमारी का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चिकित्सा की अन्तिम उपकथा जिसमें प्रकट रूप से श्रीअरविन्द के साथ मेरी लम्बी और प्रसन्न चर्चा हुई थी, उस सारी चर्चा को सचमुच माताजी पीछे से प्रेरित कर रही थीं। उस चर्चा का विषय था टीका लगाना। फ्रेंच सरकार के आदेश के कारण टीके ने आश्रम के शान्त वातावरण पर प्लेग की तरह आक्रमण कर दिया। श्रीअरविन्द ने लिखा, "सरकारी विभाग की ओर से एक हुक्म आया है और हम उसकी अवज्ञा कर उसे टाल न पायेंगे, हम केवल उस भार को कम कर पायेंगे।" टीका चेचक से भी बड़ी विपत्ति महसूस हो रही थी जब कि चेचक को रोकने के लिए टीका अनिवार्य था। सरकार की इस मांग को पूरा करने के लिए हमें बहुत-सी मुसीबतें, असुविधाएं, कठिनाइयां झेलनी पड़ीं।

टीके के बारे में श्रीअरविन्द की राय यह थी कि, "यह टीका बड़ा अप्रिय मामला है।" जब मैंने उनसे पूछा, "साहब, टीके के मामले में आप जी. बी. शॉ. (अंग्रेजी भाषा के विख्यात नाटककार)

के बराबर लग रहे हैं। क्या आप उसके फायदे से भी इन्कार करते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैंने इसके आंशिक प्रभाव को नकारा नहीं है, लेकिन वह पूर्ण उपचार नहीं है क्योंकि तुम कहते हो कि उसे हर वर्ष लगवाना पड़ता है। वैज्ञानिक पास्तर (टीके के आविष्कारक) का सारा मामला मुझे विरोधाभासी लगता है—कितना भी प्रभावशाली हो, उसका सिद्धान्त अशुभ और खतरनाक है...।"

और वह "अशुभ और खतरनाक" सिद्धान्त अधिकारियों ने हम पर लाद दिया था कि सारी की सारी संस्था के २०० निवासी और साथ-साथ नौकरों को भी टीके लगने चाहियें! माताजी और श्रीअरविन्द को अपनी पूरी अतिमानसिक प्रवीणता का प्रयोग करना पड़ा फिर भी काफी लोगों की बलि तो "साइंस की पवित्र वेदी" पर देनी ही पड़ी ताकि वाल (फ्रेंच डॉक्टर का नाम) सन्तुष्ट होकर कह पायें, "आह, हां, आश्रम के लोगों को टीके लग चुके!" इस मामले के बारे में जब लम्बा पत्र छपेगा तब पता लगेगा कि माताजी कितने सूक्ष्म ब्योरों में साधकों के स्वास्थ्य को देखा करती थीं। इन पत्रों की शैली चमकते विनोद, व्यंग्य और साथ-साथ व्यावहारिक कुशाग्रता के स्पष्ट आदेश से भरी थी। जिन लोगों को टीका लगाया गया था उनमें से कम ही व्यक्तियों में नकारात्मक प्रतिक्रिया हुई थी, यह आश्चर्य-जनक था। ऐसा इसलिए हुआ कि माताजी की शक्ति ने प्राचीर बन कर अप्रिय प्रतिक्रियाओं को रोक दिया था। श्रीअरविन्द ने मुझे लिखा था, "तुम किन-किन लोगों के टीका लगा रहे हो? माताजी रोज उनकी रिपोर्ट देखना चाहती हैं।" इसका अर्थ यह हुआ कि माताजी अपनी शक्ति का प्रयोग करती थीं ताकि उन साधकों पर टीके की प्रतिक्रिया कम हो।

लोग सोचते होंगे, "टीके जैसी छोटी और सर्वत्र स्वीकृत प्रथा के लिए इतनी परेशानी क्यों?" मैं भी ऐसा ही सोचता अगर मैं

आश्रम में नहीं, बल्कि बाहर होता, लेकिन योग की अन्तर्दृष्टि और सामान्य दृष्टि में बहुत अन्तर है, यह अब मैं समझ पाया।

अब मेरी सक्रिय चिकित्सा की साधना की कहानी समाप्त होती है क्योंकि जब श्रीअरविन्द की १९३८ में दुर्घटना हुई तब मुझे उनकी सेवा करने के लिए बुलाया गया।

बीमारियां

सत्य परम सामंजस्य और परम आनन्द है। सारी अव्यवस्था, सारे दुःख, शोक मिथ्यात्व हैं। हम कह सकते हैं कि सारी बीमारियां शरीर का मिथ्यात्व हैं और सारे डॉक्टर संसार में विजय पाने के लिए परम सत्य की ऐसी महान् और भव्य सेना जो युद्ध कर रही है।

—नीरदवरण

तुम्हें मेरी सलाह : दुःख-दर्द को पोसो नहीं और दुःख-दर्द तुम्हें पूरी तरह से छोड़ देगा। दुःख-दर्द प्रगति के लिए अनिवार्य बिलकुल नहीं है। महानतम प्रगति स्थिर तथा प्रफुल्ल समता के द्वारा की जाती है।

—श्रीमां

१०-८-१९३२

महाकाली तथा काली के रूप

(श्रीमां के वचन)

काली का कार्य

समस्त विनाश के पीछे, चाहे वे प्रकृति के भूकम्प, ज्वालामुखी, तूफान, बाढ़ आदि विकट, असीम विनाश हों या मानव उग्रता और हिंसा द्वारा लाये गये युद्ध, क्रान्ति, विद्रोह आदि, उनमें मैं काली की शक्ति देखती हूं जो पार्थिव वातावरण में रूपान्तर की गति को तेज करने के लिए कार्य कर रही है।

वह सब, जो केवल तत्त्वतः ही नहीं बल्कि चरितार्थता में भी दिव्य है, वह इन विनाशों से ऊपर और उनसे अछूता रहता है। इस तरह विनाश का परिमाण अपूर्णता का परिमाण बताता है।

इन विनाशों को बार-बार दोहराये जाने से रोकने के लिए सबसे अच्छा तरीका है उनसे पाठ सीखना और आवश्यक प्रगति करना।

*

विनाश का स्वागत करने का तो कोई सवाल ही नहीं। वह जो पाठ पढ़ाता है उसे सीखना चाहिये।

*

मनुष्य को दया और कृपा के लिए मांग करनी चाहिये, शक्ति और न्याय के लिए नहीं, क्योंकि अगर काली अभिव्यक्त हो जायें तो कौन खड़ा रह सकेगा!...

*

ऐसा लगता है कि कपट एक ऐसा रोग है जिसे ठीक नहीं किया जा सकता, जो सत्ता के अन्दर कृपा के कार्य को व्यर्थ कर देता है। निश्चित रूप से कपट और पाखण्ड ने ही जगत् में काली के उग्र हस्तक्षेप को आवश्यक बना दिया।

*

तुम दुर्गा की कहानी जानते ही हो न? दुर्गा, जिसे हर वर्ष अपने असुर का संहार करना होता है और जो हमेशा यह काम फिर से शुरू करने के लिए बाधित होती है। असुरों को जो राज्यकाल दिया गया है उसके अन्त तक यह सिलसिला चलता ही रहता है। जब वे संसार से निकाल दिये जायेंगे तब फिर ऐसा नहीं रहेगा। लेकिन तबतक, यानी, जबतक वे उपयोगी हैं (जैसा कि मैंने इस पुस्तक[1] में कहा है), अभीप्सा को तीव्र बनाने के लिए, चेतना को शुद्ध करने के लिए, लोगों की सचाई की परख करने के लिए उपयोगी हैं,

---

[1] विरोधी शक्तियों के आक्रमण अपरिहार्य हैं। तुम्हें उन्हें मार्ग पर आनेवाली परीक्षाएं मानकर साहस के साथ अग्नि-परीक्षाओं में से आगे बढ़ते जाना चाहिये। संघर्ष कठिन हो सकता है पर जब तुम उसमें से बाहर आते हो तो कुछ लाभ उठाते हो, एक कदम आगे बढ़ जाते हो। विरोधी शक्तियों के रहने की भी एक आवश्यकता है। वे तुम्हारे निश्चय को अधिक दृढ़ और अभीप्सा को अधिक स्पष्ट बनाती हैं।

फिर भी यह सच है कि उनका अस्तित्व इसलिए है कि तुम उन्हें रहने का कारण देते हो। जबतक तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी चीज है जो उन्हें प्रत्युत्तर देती है तबतक उनका हस्तक्षेप बिलकुल उचित है। अगर तुम्हारे अन्दर कोई चीज प्रत्युत्तर न दे, अगर तुम्हारी प्रकृति के किसी अंश पर उनका अधिकार न हो तो वे हट जायेंगी और तुम्हें छोड़ देंगी।

प्रश्न और उत्तर १९२९ (५ मई)

तबतक वे बने रहेंगे। जिस दिन परख की जरूरत न रहेगी, जिस दिन सचाई और निष्कपटता शुद्ध होंगी और अपने पैरों पर खड़ी होंगी, वे गायब हो जायेंगे। तब, उस दिन से दुर्गा को हर वर्ष नया युद्ध न शुरू करना पड़ेगा।

*

दुर्गा का वार्षिक युद्ध और उसकी विजय उस परम भागवत चेतना के लयपूर्ण हस्तक्षेप का प्रतीक है जो वैश्व प्रगति को समय-समय पर नया आवेग प्रदान करता है।

महाकाली का सक्रिय और सबल प्रेम

एक पुरानी कैल्डियन कथा

बहुत, बहुत समय पहले, उस रेगिस्तान में, जो अब अरब है, पृथ्वी में परम 'प्रेम' को जगाने के लिए एक भागवत सत्ता ने अवतार लिया। जैसी कि आशा थी, मनुष्यों ने उसे सताया, उसे गलत समझा, उस पर शंका की, उसका पीछा किया। अपने आक्रमणकारियों के द्वारा घातक रूप से घायल हो, अपने काम को पूरा कर सकने के लिए वह एकान्त में शान्ति के साथ मरना चाहती थी, और चूंकि उसका पीछा किया जा रहा था, वह भाग गयी। अचानक उस विशाल रेगिस्तान में अनार की छोटी-सी झाड़ी प्रकट हुई। उद्धारक उसकी निचली शाखाओं में दुबक गया, ताकि वह अपना शरीर शान्ति से छोड़ सके; और तुरन्त वह झाड़ी आश्चर्यजनक रूप से फैल गयी, वह ऊंची हो गयी, चौड़ी हो गयी, गहरी और घनी हो गयी, जिसके कारण जब पीछा करनेवाले वहां से गुजरे, तो उन्हें यह शंका तक

न हुई कि जिसका वे पीछा कर रहे हैं वह यहां छिपा है, और वे अपने रास्ते हो लिये।

बूंद-बूंद करके, धरती को उर्वर बनाता हुआ जब वह पुण्य रक्त गिरा, तो झाड़ी अलौकिक, लाल, बड़ी-बड़ी पंखुड़ियों से भरपूर फूलों से ढक गयी... मानों वे रक्त की असंख्य बूंदें हों।

ये ही वे फूल हैं जो हमारे लिए 'भागवत प्रेम' (अनार के फूल) को अभिव्यक्त करते और धारण करते हैं।

*

मधुर मां, आपने जो कैल्डियन कहानी लिखी है, क्या उसका काली पूजा के साथ कोई सम्बन्ध है?

हां, मेरे वत्स, क्योंकि काली पूजा के दिन मैं **हमेशा** 'भागवत प्रेम' के फूल बांटा करती हूं; क्योंकि महाशक्ति के सभी रूपों में काली सबसे अधिक प्रेम-भरी हैं; उन्हीं का प्रेम सबसे अधिक सक्रिय और सबसे अधिक शक्तिशाली प्रेम है। इसीलिए मैं हर वर्ष काली पूजा के दिन "भागवत प्रेम" की पंखुड़ियां बांटती हूं। तो स्वभावतः इस प्रश्न के लिए कि 'भागवत प्रेम' को प्रकट करने के लिए ये फूल क्यों चुने गये, यह व्याख्या काफी है।

*

मां के सभी रूपों में काली सबसे अधिक शक्ति के साथ स्पन्दनशील और सक्रिय प्रेम को प्रकट करती हैं और कभी-कभी अपने भयानक रूप के बावजूद वे अपने अन्दर सर्वशक्तिमान् प्रेम की स्वर्णिम भव्यता का वहन करती हैं।

*

काली कभी-कदास ही मन में कार्य करती हैं। उच्चतर क्षेत्रों में वे प्रेम की शक्ति हैं जो प्रगति और रूपान्तर की ओर धकेलती है। प्राण में वे मिथ्यात्व, आडम्बर और दुर्भावना के विनाश की शक्ति हैं।

और जो कुछ शुभ, सत्यमय और प्रगतिशील हो उसे वे कभी नष्ट नहीं करतीं, इसके विपरीत, वे उसकी रक्षा करती और उसे सहारा देती हैं।

*

हम धरती पर प्रगति करने और अपने-आपको उत्तरोत्तर जीवनों में अधिक पूर्ण बनाने के लिए हैं।...

काली उन सबकी सहायता करती हैं जो उन्हें पुकारते हैं, और उनकी सहायता से प्रगति अधिक तेजी से आती है।

*

सृष्टि में महाकाली दिव्य प्रेम को व्यक्त करती हैं; लेकिन यह प्रेम इतना शक्तिशाली और उदात्त है कि अधिकतर मनुष्य इससे डरते हैं।

महाकाली को चित्रित करनेवाली मूर्तियां

(श्रीअरविन्द कृत 'माता' पुस्तक से श्रीमां ने महाकाली-विषयक अनुच्छेद पढ़कर सुनाया)

क्या महाकाली की मूर्तियों के विषय में कथित कहानियां सच्ची हैं?

कौन-सी कहानियां? सैकड़ों कहानियां कही जाती हैं, मेरे बच्चे। तुम किन कहानियों की बात कह रहे हो? कौन-सी महाकाली? उनकी बनी प्रतिमाएं, पत्थर की मूर्तियां? यह वस्तुओं को देखने का मानवीय तरीका है। वे वैसी नहीं हैं।

मेरे ख्याल से मैं एक बार पहले तुम्हें बता चुकी हूं कि आदि देवगण अपने उच्चतर सत्य-स्वरूपों में विद्यमान हैं और ये एक विशेष प्रकार के हैं; फिर, जब वे अधिकाधिक स्थूल-भौतिक क्षेत्रों में अभिव्यक्त होते हैं, पृथ्वी के अधिकाधिक समीप आते हैं, वे भिन्न प्रकार का रूप ग्रहण कर लेते हैं और फिर अजीब ढंग से अनेक बन जाते हैं। तुम चाहो तो कह सकते हो कि यहां श्रीअरविन्द जिन देव-सत्ताओं की चर्चा कर रहे हैं वे उन क्षेत्रों की हैं जो 'अतिमानस' के अत्यन्त समीप हैं, ये सत्ताएं अभी भी अतिमानसिक मूल के साथ एकदम सुस्पष्ट और सचेतन सम्पर्क बनाये हुए हैं। ये सत्ताएं उस लोक में भी अभिव्यक्त होती हैं जिसे श्रीअरविन्द "अधिमानस" कहते हैं और वहां उनका आकार मानों अधिक स्पष्ट, थोड़ा अधिक सुनिश्चित पर साथ-ही-साथ शक्ति और क्षमताओं में क्षयग्रस्त हो जाता है। फिर अधिमानस से वे मानव मन में, पार्थिव मन में उतर आती हैं और वहां... उदाहरण के लिए इस बेचारी महाकाली को ही ले लो; कालियों का एक बड़ा-सा समुदाय है, एक काली दूसरी से अधिक भयंकर है; उनमें से कुछ तो पूर्ण रूप से डराने और दहलानेवाली होती हैं, और कभी-कभी वे अत्यन्त घृणित सत्ताएं बन जाती हैं जो नितान्त मानवीय रचनाएं होती हैं, अर्थात् उनका बाहरी रूप मानवीय कल्पना द्वारा, मानवीय मन की रचनात्मक क्षमता द्वारा दिया जाता है। हो सकता है कि उस आकार के अन्दर महाकाली की शक्ति का कोई अस्पष्ट प्रतिबिम्ब विद्यमान हो, पर वह इतना क्षीण, विकृत, लघुकृत, मानवीय चेतना के दायरे में आबद्ध होता है

कि वह वास्तव में भली-भांति इन्कार कर सकती है कि यह चीज वह नहीं है! मैंने महाकाली को प्रकाशित करनेवाले चित्रों के रूप में सभी प्रकार की भयावह वस्तुओं को देखा है। इन चित्रों के विषय में हम कुछ नहीं कहेंगे। यदि उनके चित्रकार महान् कलाकार हों तो शायद कुछ सौन्दर्य अभी भी उनमें विद्यमान रहता है, पर चूंकि वे सामान्यतया रंग पोतनेवाले ही होते हैं, इसलिए कुछ भी सौन्दर्य वहां नहीं रहता। उन प्रतिमाओं या चित्रों का जहांतक सम्बन्ध है, जिन्हें मन्दिरों में स्थापित किया जाता है, उसके लिए एक धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है, और यदि पुरोहित या उसका सहकर्मी ऐसा हो जिसे गुह्य शक्तियां प्राप्त हों, यदि सीमित शक्तियां भी हों, तो वह, अपनी अभीप्सा के बल से और अनुष्ठान-पद्धति के द्वारा एक अति-पार्थिव चेतना को उन आकारों में उतार ला सकता है। यही है सिद्धान्त, तुमसे कहा जाता है, "यह कोई लकड़ी का टुकड़ा नहीं है, यह कोई पत्थर नहीं है, यह कोई चित्र नहीं है; इसके अन्दर तो एक शक्ति है जिसे धार्मिक अनुष्ठान नीचे उतार लाया है और तुम इससे बातें कर सकते हो।" यह बात सही है, परन्तु तुम्हें पुरोहित का स्वभाव मालूम होना चाहिये, उसके गुह्य ज्ञान तथा जिन शक्तियों के साथ उसका सम्पर्क है उनका भी ज्ञान होना चाहिये। इस तरह, इसमें बहुत-सी चीजें हो सकती हैं...। वहां "कोई चीज" होती है (जबतक कि वहां कोई जड़ अनभिज्ञ व्यक्ति ही न हो जिसने अनुष्ठान को सम्पन्न किया हो, जिसमें बिलकुल कोई शक्ति न हो, जिसने कुछ भी नीचे न उतारा हो, जिसने महज़ दिखावा ही किया हो—परन्तु यह विरल ही होता है; मैं यह नहीं कह सकती कि ऐसा प्रायः ही होता है, यह बहुत विरल होता है), सामान्य तौर पर वहां कोई चीज होती है, पर तब प्रश्न उठता है इस चीज के स्वभाव का, उसके गुण का, समझे... इसके अनन्त भेद होते हैं और यह कभी-कभी थोड़ी बाधक

भी होती है। मैंने महाकाली का दृष्टान्त दिया है, क्योंकि मानव-चेतना में महाकाली-सम्बन्धी भावना विशेष रूप से भयावह है : जब मनुष्य अन्य देवताओं की ओर जाता है, उदाहरणार्थ, महासरस्वती की ओर, जिनके साथ सभी प्रकार की कलात्मक, साहित्यिक तथा अन्यान्य क्षमताएं जुड़ी हुई हैं, तो उसकी कल्पना उतनी भयंकर नहीं होती। परन्तु महाकाली विशेष रूप से...। बल-वीर्य, शक्ति, सामरिक ओज की उनकी परिकल्पना इतनी भीषण होती है कि जो कुछ वे नीचे उतार लाते हैं वह सचमुच उन लोगों के लिए कुछ संकटपूर्ण होता है जो उसकी पूजा करते हैं। भारत आने के समय से मैंने अनगिनत कहानियां सुनी हैं। मैंने असंख्य आकृतियां देखी हैं और ऐसे लोगों के सम्पर्क में मैं आयी हूं जिनके घरों में काली की मूर्ति की पूजा हुआ करती थी तथा जिनके साथ कभी-कभी भयानक घटनाएं घटित हुई थीं। मैंने सदा उन्हें सावधान रहने को कहा, मैंने उनसे कहा, "यह बिलकुल न समझो कि तुम्हारी विपत्तियों का उत्तरदायित्व महाकाली पर है,—क्योंकि वह उनके लिए जिम्मेदार नहीं है। परन्तु यह सम्भव है कि जो काली तुम्हारे घर में है उसने अपने अन्दर किसी प्रतिहिंसात्मक सत्ता को आश्रय दे रखा हो, शायद वह सत्ता बहुत ईर्ष्यालु, बेहद दुराग्रही और प्रतिशोध की बहुत प्रबल भावना से पूर्ण हो, और चूंकि तुम्हारा उस पर विश्वास है और चूंकि वह सामान्यतया कोई प्राणिक शक्ति है, उसके वास्तव में खतरनाक परिणाम हो सकते हैं।" मैं ऐसे लोगों को जानती हूं जिन्होंने, सभी प्रकार के दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव होने के बाद, महाकाली की मूर्ति को उठाकर गंगा में फेंक दिया। यदि उसके साथ-ही-साथ उन्होंने आत्मा की एक प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली होती तो सभी प्रकार के अनिष्ट विलीन हो गये होते, पर उनमें से कुछ लोग अपने किये कर्म से इतने भयभीत हो जाते हैं कि बुरे प्रभाव जारी रहते हैं...।

इन चीजों को तबतक किसी को कभी नहीं छूना चाहिये जबतक उसे गुह्य ज्ञान की कम-से-कम प्रारम्भिक शिक्षा न प्राप्त हो। दुर्भाग्यवश, धर्मों में—सभी धर्मों में, न केवल यहां बल्कि सर्वत्र—ज्ञान कभी अनुयायियों को नहीं दिया जाता। कभी-कभी पुरोहितों को वह प्राप्त होता है (मैं नहीं कहती कि सर्वदा), परन्तु उन्हें जब वह प्राप्त होता है तो वे उसे अनुयायियों को न देने की भरपूर सावधानी रखते हैं, क्योंकि उससे उनका अपना अधिकार और प्रभाव छिन जायेगा, और यही वास्तव में वह बुराई है जो सभी धार्मिक विधियों के पीछे विद्यमान है।

जो हो, यह एक प्रकार की पथभ्रष्टता है। आओ, हम अपने विषय पर वापस आयें। पार्थिव वातावरण में निस्सन्देह एक काली है जो पार्थिव वस्तुओं के साथ व्यवहार करती है और जो एक हदतक, हम स्वतन्त्र नहीं कह सकते, फिर भी महाकाली की ठीक अभिव्यक्ति नहीं है; परन्तु वह उन महाकाली की पूर्ण अनुगत है और उसमें उनके प्रधान गुण विद्यमान हैं। उन गुणों की शक्ति और प्रभावशालिता तो क्षीण हो गयी हैं पर वे वहां हैं, तथा महाकाली की प्रकृति का सौन्दर्य भी वहां है। सम्भवतः तुम लोगों में से कुछ लोग उन महाकाली के साथ सम्बन्ध रखते हों। वे स्वयं प्रतिशोध नहीं लेतीं, वे कभी उन लोगों को हानि नहीं पहुंचातीं जो उनकी भक्ति करते हैं, वे उन देशों को महामारियों के द्वारा आक्रान्त नहीं करतीं जो उनके प्रति पर्याप्त आदर और सम्मान नहीं दिखाते। परन्तु वे हिंसा पसन्द करती हैं, वे युद्ध पसन्द करती हैं तथा उनका न्याय कुचलनेवाला होता है।

माताजी की चार शक्तियों की स्वतन्त्रता

लेकिन ये चारों (माताजी की शक्तियां) एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं न?

कुछ हदतक, लेकिन पूरी तरह नहीं। हमेशा वही चीज होती है। एक ऐसी स्वतन्त्रता होती है जो कभी-कभी पूर्ण प्रतीत होती है और, साथ-ही-साथ उन्हें जोड़नेवाला एक घनिष्ठ सूत्र भी होता है, यहांतक कि कह सकते हैं कि वह निरपेक्ष होता है। यहां, भौतिक जगत् में, केन्द्रीय चेतना हैं 'महाशक्ति'। हां, तो उनमें अपने विविध रूपों की क्रियाओं को नियन्त्रण करने की शक्ति है—चाहे वे रूप कितने भी स्वतन्त्र क्यों न हों, और अपनी-अपनी अभीप्सा के अनुसार ही काम करते हों। और फिर भी वे नियन्त्रण कर सकती हैं, इस अर्थ में कि यदि...

उदाहरण के लिए, काली को लो। अगर काली हस्तक्षेप करने का निश्चय करती हैं और 'महाशक्ति'—जिनमें स्वभावतः चीजों की ज्यादा पूर्ण और व्यापक दृष्टि है—देखती हैं कि हस्तक्षेप करने का समय ठीक नहीं है, या बहुत जल्दी है तो वे महाकाली पर दबाव डाल सकती हैं और उनसे कह सकती हैं : "शान्त रहो।" और तब वे शान्त रहने के लिए बाधित होती हैं; और फिर भी वे बिलकुल स्वतन्त्र रूप से काम करती हैं।

लेकिन वे महाकाली को क्यों क्रिया नहीं करने देतीं? क्योंकि यहां तो उन्होंने (श्रीअरविन्द ने) कहा है कि अगर महाकाली हस्तक्षेप करें तो जिसके होने में शताब्दियां लगतीं वह अभी हो सकता है।

मैं कहती हूं, इसीलिए तो महाकाली हैं और अपना काम करती हैं।

लेकिन काम को देखने का महाकाली का अपना तरीका होता है; और जब तुम्हें पूर्ण दृष्टि प्राप्त हो तो तुम देख सकोगे कि, है न... कि वे केवल अपने काम का ही पक्ष देखती हैं, और जब तुम समग्र को देख सको तो कह सकोगे : "नहीं, नहीं, यह ठीक समय नहीं है!"

दो प्रकार की कालियों के साथ श्रीमां की भेंट

मन्दिरों में लोग भगवान् के आगे पशुओं की बलि देते हैं। क्या इसे क्रूरता कहा जा सकता है?

यह क्रूरता से अधिक अज्ञान और अचेतना के नजदीक है। वे हत्या इसलिए नहीं करते कि वे निर्दयी हैं—कुछ अपवाद होते हैं—फिर भी, यदि सामान्यतया कहा जाये तो वे इसलिए नहीं करते कि उन्हें मारने में विशेष सुख मिलता है बल्कि इसलिए कि वे किसी विशेष देवता से डरते हैं और सोचते हैं कि बलि चढ़ाने से वे उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेंगे।

यहां से निकट ही, समुद्र के किनारे, मछुआरों का एक मन्दिर है, उसका नाम शायद वीरमपट्टनम् है; जब तुम आर्यनकुप्पम् तक जाते हो और वहां से बायें मुड़कर समुद्र की तरफ चलते हो, तो सड़क के अन्त में ही वह मन्दिर है। वह एक अनोखे देवता का मन्दिर है... यह एक काली मानी जाती है। हां तो, इस काली के बारे में अनोखी कहानियां प्रचलित हैं, बहरहाल, वहां की रीति है कि प्रत्येक वर्ष उसे बहुत-से चूजों की बलि चढ़ायी जाती है। मैं एक बार वहां जा निकली—शायद उत्सव के एक दिन बाद : वहां तब भी रेत पर मुर्गियों के पंख बिखरे पड़े थे—और, सबसे बढ़कर, वहां रेंगते हुए भय और पूर्ण अज्ञान का वायुमण्डल व्याप्त था, साथ

ही लालच का वातावरण छाया हुआ था, न सिर्फ लालच का बल्कि लोलुपता का भी, उन लोगों की लोलुपता का जो सदा खाने के बारे में ही सोचते रहते हैं (मुझे पता नहीं वहां क्या होता था—उन मुर्गियों को कौन खाता था? जो उन्हें मारता था वह या पुजारी लोग—पर वहां तो सचमुच बहुत मुर्गियों की बलि दी जाती थी! यदि पुजारी ही सब खाते तो अवश्य बीमार पड़ जाते! इसलिए शायद बलि चढ़ानेवाले लोग भी उन्हें खाते होंगे)। और वहां की काली उन सब बेचारे चूजों की प्राणिक शक्तियों से विशेष रूप से प्रसन्न थी; वे सैकड़ों की संख्या में मारे जाते थे और प्रत्येक की थोड़ी-सी प्राण-शक्ति थी जो गला कटते ही बाहर निकल जाती थी, और वह काली उस शक्ति को अपना आहार बनाती थी : वह बहुत प्रसन्न थी और स्पष्ट ही—मैं नहीं कह सकती कि उसे क्रूरता कहा जा सकता है या नहीं, प्राणिक शक्तियों का लालच तो वहां अवश्य ही था—यह लालच प्राणिक शक्ति का, अत्यधिक अचेतन प्राणिक शक्ति का था, क्योंकि बेचारी मुर्गियों में चेतन वस्तु तो कोई थी ही नहीं। और इस सबने वहां एक बड़े निम्न प्रकार का, अत्यन्त बोझिल, अत्यन्त अचेतन और कष्टप्रद वातावरण पैदा कर दिया था, फिर भी, इसमें क्रूरता की तीव्रता नहीं थी। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रथा का कारण क्रूरता है, मेरे ख्याल से नहीं। शायद इनमें से कुछ लोग यदि किसी बकरी या मेमने की बलि चढ़ाते जिसे वे प्यार करते थे, तो थोड़ी उदासी महसूस करते। वहां तो भारी अचेतना और महान् भय था। ओह, भय! धर्मों में कितना भय होता है! यह भय : "यदि मैं यह या वह न करूं, यदि मैं एक दर्जन चूजों का गला न काटूं तो मेरे सारे जीवन में या कम-से-कम इस सारे वर्ष में मुझ पर संकट आयेंगे। मेरे बच्चे बीमार हो जायेंगे, मेरी नौकरी चली जायेगी, मैं कुछ कमाई न कर सकूंगा, मेरे साथ बड़ी, बड़ी असुखकर घटनाएं

घटेंगी।"... तो वे सोचते, चलो, एक दर्जन चूजों की ही बलि चढ़ा दें। किन्तु उसका कारण उनकी मारने की इच्छा नहीं है। वे यह क्रूरतावश नहीं, अचेतनावश करते हैं।

जब आप उस काली को देखने गयीं तो उसने क्या किया?

तुम्हें कहानी मालूम है, नहीं जानते?... मुझे उस स्थान का पता नहीं था, लेकिन आर्यनकुप्पम् और इस मन्दिर के बीच एक सड़क थी। मैं अपनी कार में बिना कुछ जाने, चुपचाप बैठी थी—मुझे कुछ पता नहीं था, न उस काली का, न मुर्गियों का और न किसी अन्य वस्तु का—मैं कार में बैठी थी, अचानक आधे रास्ते मैंने एक काली सत्ता को अपनी ओर आते देखा, उसके बाल फैले थे, वह मेरे साथ एक समझौता करना चाहती थी। और बड़ी नर्मी के साथ उसने मुझसे कहा : "आह ! यदि आप मुझे अपनाना चाहें और मेरी सहायता करें तो यहां कितने ही लोग आयेंगे और यह स्थान कितना महिमामय हो उठेगा।" वह एक हास्यास्पद छोटी-सी आकृति थी, काले रंग की, बाल फैले, दुबली-पतली, मानों वह बहुत फलती-फूलती न हो! बाद में मुझे किसी ने बताया कि उस पर कोई विपत्ति आ पड़ी है: उसका सिर काट दिया गया है—कुछ-कुछ ऐसी ही बात थी, मुझे ठीक पता नहीं। (एक साधक की ओर मुड़कर) अमृत, क्या तुम वीरमपट्टनम् की काली की कहानी जानते हो?... नहीं जानते? किसी ने मुझे यह कहानी सुनायी तो थी, जो भी हो, वह अधिक मनोरंजक नहीं थी, वह एक अभागी काली थी। मैंने उसे शान्त रहने के लिए कहा और यह भी कि मैं समझी नहीं कि वह मुझसे क्या चाहती है, पर यदि उसमें सच्ची अभीप्सा होगी, तो उसे प्रत्युत्तर मिलेगा। अगले क्षण ही हम मन्दिर तक पहुंच गये; तब मुझे यह

समझ में आने लगा कि इसी के लिए यह मन्दिर बनाया गया था। इसके बाद हम समुद्र के किनारे झाऊ के वृक्षों के नीचे सैर करने के लिए गये, और वहां हमने बहुत-से पंख और खून की बूंदें देखीं, साथ ही वहां आग जलने के निशान भी मौजूद थे—ये उस आग के चिह्न थे जिसपर उन्होंने, स्पष्ट ही, चूजे पकाये होंगे। हमने सारी कहानी जाननी चाही। और तब मैंने काली की कहानी सुनी कि किस प्रकार उस दिन मुर्गियों की बड़ी संख्या में हत्या की गयी थी।

हां, तो बात ऐसी है। मुझे नहीं लगता कि वह सत्ता मुर्गियों को मरता देखकर बहुत सन्तुष्ट होती होगी—मुझे इस विषय में कुछ पता नहीं। जैसा कि मैंने कहा, वह केवल इतना ही लाभ पा सकती थी कि मुर्गियों की प्राणिक शक्तियों को प्राप्त कर सके। किन्तु यह स्पष्ट था कि उसे मनुष्यों की भारी भीड़ देखकर बहुत सन्तोष मिलता था—जितने अधिक आदमी आयें, जितनी अधिक मुर्गियां कटें, सफलता का उतना ही बड़ा लक्षण होगा। यही बात उसके महत्त्व के बढ़ने का प्रमाण था! अतएव भोलेपन से ही उसने मुझसे सहायता मांगी थी, उसने कहा कि यदि मैं उसकी सहायता करना चाहती, उसे अपनी कुछ प्राणिक शक्ति और प्राणिक उपस्थिति दे देती, तो और अधिक लोग वहां आते और फलस्वरूप अधिक मुर्गियां भी कटतीं! और तब और भी अधिक सफलता होती। मैंने उसे कहा था कि जितना है वही काफी है, उसे शान्त रहना चाहिये।

मां, वह कौन-से स्तर की सत्ता थी?

अत्यधिक स्थूल प्राणिक स्तर की।

उसे काली क्यों कहते हैं?

मुझे पता नहीं। यह एक प्रकार की काली है—मुझे धुंधला-सा ख्याल है कि उसका सिर कटा हुआ था या गले तक धंसा हुआ, पता नहीं क्या था। कुछ-कुछ ऐसा ही। एक ऐसे सिर की कहानी प्रचलित है जो रेत में से बाहर निकलता है और धड़ गले तक दबा हुआ होता है। किन्तु इस देश में तुम्हें कहीं भी यह कहानी सुनने को मिल जायेगी, मुझे याद नहीं। यह काली का ही एक रूप है—काली के असंख्य रूप हैं। प्रत्येक श्रद्धालु की अपनी कल्पित मूर्ति होती है, किसी एक काली के साथ उसका सम्बन्ध होता है। कभी-कभी यह उनकी अपनी ही काली होती है : परिवारों की भी अपनी काली होती है—ऐसी बहुत-सी पारिवारिक कालियां हैं। मैं कई ऐसे परिवारों को जानती थी जिनकी कालियां बड़ी भयानक थीं। यदि उनका कहा न किया जाता, तो परिवार पर कोई विपत्ति आ पड़ती थी। यह रचना बड़ी शक्तिशाली होती थी। मेरे विचार में तो इसके लिए परिवार के सदस्य अपनी काली से अधिक उत्तरदायी थे। मैं ऐसे लोगों को भी जानती थी जिन्होंने परिवार में विपत्ति आने पर, सचमुच की विपत्ति—किसी की मृत्यु—गुस्से में आकर काली की मूर्ति को जाकर गंगा में फेंक दिया।

क्या इस काली का महाकाली से कोई सम्बन्ध नहीं है?

नहीं। इसका मानव मन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मेरे विचार में ये प्रायः पूरी तरह से मानव मन की ही रचनाएं हैं... किन्तु मैंने देखा है कि गणपति का वास्तव में अस्तित्व है—मैं इसपर विश्वास नहीं करती थी, मैं सोचा करती थी कि यह एक विशुद्ध मानव रचना है, हाथी के सिर की कहानी—किन्तु ऐसी सत्ता वास्तव में है। मैंने उसे देखा है, वह जीवन्त रूप में विद्यमान है, रचना नहीं। इसी

प्रकार काले रंग की, मुण्डमाला-धारिणी, लम्बी लटकती जीभवाली काली भी है। मैंने उसे देखा है। मैंने उसे बड़ी-बड़ी आंखें खोले अपने कमरे में प्रवेश करते देखा है। अतएव मुझे उसके अस्तित्व का भी निश्चय है। और यह भी मानव रचना नहीं थी : एक सत्ता थी—वास्तविक सत्ता। यह अवश्य सम्भव है कि मानव विचारों ने कुछ छोटी-मोटी बातें उसके साथ जोड़ दी हों। किन्तु फिर भी वह एक वास्तविक सत्ता थी, निरी रचना नहीं।

वह काले रंग की काली क्या करती है?

मेरे विचार में वह काफी बुरे काम करती है! यह तो स्पष्ट ही है कि विनाश में वह बहुत सुख पाती है।

यह पहले महायुद्ध की बात है, युद्ध के प्रारम्भिक दिनों की। मैं तब यहीं थी। मैं 'डूप्लेक्स स्ट्रीट' पर एक घर 'डूप्लेक्स हाउस' में रहती थी। उस घर की छत से मैं श्रीअरविन्द का कमरा देख सकती थी, वह कमरा जो 'गेस्ट हाउस' में था। श्रीअरविन्द उसी घर में रहते थे। उनके पास दो कमरे थे और एक छोटी-सी छत। और 'डूप्लेक्स हाउस' की छत से 'गेस्ट हाउस' की छत दीखती थी। मुझे पता नहीं अब भी दीखती है या नहीं; यह बीच के घरों पर निर्भर है, पर तब उसे देखा जा सकता था। मैं रोज प्रातः छत पर बैठकर श्रीअरविन्द के कमरे की ओर मुंह करके ध्यान किया करती थी। उस दिन मैं अपने कमरे में थी, किन्तु छोटी-सी खिड़की में से श्रीअरविन्द के कमरे की ओर देख रही थी। मैं ध्यान में थी पर मेरी आंखें खुली थीं। मैंने इस काली को दरवाजे में से अन्दर आते देखा; मैंने उससे पूछा : "तुम्हें क्या चाहिये?" और वह नाच रही थी, सचमुच में बड़े जंगली प्रकार का नृत्य था वह। उसने मुझसे

कहा : "पैरिस ले लिया गया है, पैरिस नष्ट हो जायेगा।" हमें तब खबरें नहीं मिला करती थीं, वे युद्ध के आरम्भिक दिन ही थे। मैं ध्यान में थी, मैंने उसकी ओर मुड़कर देखा और बोली : "नहीं, पैरिस नहीं लिया जायेगा, वह बचा लिया जायेगा," मैंने यह बात बड़ी शान्ति से, पर थोड़े बल के साथ कही। उसने मुंह बनाया और चली गयी। और अगले दिन खबर आयी। उन दिनों रेडियो नहीं था, तार द्वारा खबरें आती थीं जिन्हें राजनिवास के दरवाजे पर लगा दिया जाता था, खबर यह थी कि जर्मन पैरिस पर चढ़े आ रहे थे, और पैरिस अरक्षित था; रास्ता खुला था, उन्हें केवल कुछ किलोमीटर ही आगे बढ़ना था और वे शहर में प्रवेश कर जाते। किन्तु जब उन्होंने देखा कि सड़क खुली पड़ी है और वहां उनका सामना करने के लिए कोई नहीं है, तो उन्होंने सोचा कि निश्चय ही यह कोई जाल है, कोई उनकी घात में बैठा है। बस, वे मुड़कर वापिस लौट पड़े! (हंसती हैं) और जब फरासीसी सेना ने यह देखा तो स्वभावतया ही उसने उनका पीछा किया और उन्हें पकड़ लिया, वह एक निर्णायक युद्ध था : उन्हें रोक दिया गया। हां, स्पष्ट रूप से यही बात हुई। इसकी व्याख्या यों की जाती है : जब मैंने काली से कहा, "नहीं," तो वे घबरा गये। वे वापिस मुड़ गये। अन्यथा, यदि वे आगे बढ़ते जाते तो सब कुछ समाप्त हो जाता।

महाकाली कैसी है?

वह मेरे बच्चो, जब तुम उसे देखोगे, तो मुझे बताओगे। वह इस प्रकार की काली नहीं है। एक बात जो मैं बता सकती हूं वह यही है कि वह काले रंग की नहीं है, उसकी जीभ बाहर नहीं निकली है, न वह मानवमुण्डों की माला पहनती है!

धार्मिक क्रियाओं के बारे में श्रीमां

मधुर मां, क्या साधारण चेतनावालों के लिए धार्मिक क्रियाएं जरूरी हैं?

धार्मिक क्रियाएं? मुझे नहीं मालूम! धार्मिक क्रियाओं से तुम्हारा क्या मतलब है?

जप आदि।

ओह! ये चीजें! अगर तुम्हें इनसे सहायता मिलती हो तो ठीक है। अगर तुम्हें सहायता नहीं मिलती तो यह केवल...। यह उन पूर्णतः सापेक्ष चीजों में से एक है। यह पूर्ण रूप से सापेक्ष है। इसका मूल्य तुम्हारे ऊपर होनेवाले असर पर निर्भर करता है और उसी हदतक होता है जिस हदतक तुम उसपर विश्वास करते हो। अगर वह तुम्हें एकाग्रचित्त होने में सहायता देता है तो अच्छा है। साधारण चेतना उसे केवल अन्धविश्वास द्वारा करती है, वह इस विचार से करती है कि: “अगर मैं ऐसा करूं, अगर मैं सप्ताह में एक बार मन्दिर या गिरजाघर जाऊं, अगर मैं प्रार्थना करूं तो मेरे लिए बहुत शुभ चीज होगी।” यह एक अन्धविश्वास है, और जगत् में सब जगह फैला हुआ है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है।...

अदृश्य लोक में प्राणिक सत्ताओं के सिवाय शायद ही किसी को पूजा करवाना प्रिय हो। जैसा कि मैंने कहा, उन्हें यह अच्छा लगता है। और फिर इससे उन्हें महत्त्व मिलता है। वे घमण्ड से फूल उठती हैं और बहुत खुश होती हैं। और अगर उन्हें ऐसे लोगों का एक दल मिल जाये जो उन्हें पूजता हो तो वे पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाती हैं।

लेकिन अगर तुम सच्ची दिव्य सत्ताओं को लो तो ये ऐसी चीज

को बिलकुल कोई मूल्य नहीं देतीं। उन्हें अपनी पूजा करवाना अच्छा नहीं लगता। नहीं, उन्हें इससे कोई विशेष खुशी नहीं होती! यह मत सोचो कि वे सन्तुष्ट हैं, क्योंकि उनमें घमण्ड नहीं होता। घमण्ड के कारण ही मनुष्य को पूजा करवाना अच्छा लगता है; अगर आदमी के अन्दर घमण्ड न हो तो उसे पूजा जाना अच्छा नहीं लगता; और उदाहरण के लिए, अगर वे एक अच्छा इरादा, एक अच्छी भावना, या एक निष्काम क्रिया, या उत्साह या आनन्द, आध्यात्मिक आनन्द देखें तो ये चीजें उनके लिए प्रार्थना, आराधना या पूजाओं से अनन्त-गुना अधिक मूल्य रखती हैं।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैं तुमसे जो कह रही हूं वह बहुत ही गम्भीर बात है : अगर तुम एक सच्चे देवता को कुर्सी पर बिठा दो और जबतक तुम्हारी पूजा चलती रहे तबतक वहीं बैठे रहने के लिए बाधित करो तो शायद तुम्हें पूजा करते हुए देखकर उनका मनोरंजन तो हो, लेकिन निश्चय ही उन्हें किसी प्रकार का सन्तोष नहीं होता। बिलकुल नहीं। तुम्हारी पूजा से न तो वे फूल उठते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उनकी महिमा ही बढ़ती है। इस विचार को निकाल देना चाहिये। आध्यात्मिक और भौतिक लोकों के बीच एक पूरा-का-पूरा प्राणिक शक्तियों का प्रभाव-क्षेत्र है, और यही वह क्षेत्र है जो इन चीजों से भरपूर रहता है, क्योंकि ये सत्ताएं उसपर जीती हैं, उससे सन्तुष्ट हैं और यहां उन्हें तुरन्त महत्त्व मिल जाता है; और उनमें से, जिसके सबसे ज्यादा विश्वासी, भक्त और आराधक होते हैं वही सत्ता सबसे ज्यादा खुश होती है और सबसे ज्यादा फूल उठती है, लेकिन हम कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि देवताओं को यह पसन्द होगा...। देवता—मैं सच्चे देवताओं की बात कर रही हूं, 'अधिमानस' के देवताओं की भी, यद्यपि वे अभीतक कुछ-कुछ... ऐसे-वैसे हैं... ऐसा लगता है कि उन्होंने बहुत-से

मानवीय दोष अपना लिये हैं, खैर, इसके बावजूद, उनकी चेतना सचमुच उच्चतर होती है—उन्हें इन चीजों से जरा भी खुशी नहीं होती। सच्चे हित की, बुद्धिमानी, निस्वार्थता, या सूक्ष्म समझदारी की या एकदम सच्ची अभीप्सा की क्रिया उनके लिए एक छोटी-सी धार्मिक पूजा की अपेक्षा अनन्तगुना ऊंची होती है। अनन्तगुना! दोनों में कोई तुलना नहीं! धार्मिक क्रियाएं! उदाहरण के लिए, ऐसी कितनी ही सत्ताएं हैं जिन्हें काली कहा जाता है—और जिन्हें, इसके अतिरिक्त कम, या अधिक भयंकर रूप दिये जाते हैं—ऐसी कितनी ही कालियां हैं जिन्हें घरों में गृहदेवी के रूप में स्थापित किया गया है; ये सब भयंकर प्राणशक्ति से भरपूर होती हैं! मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो अपने घर में प्रतिष्ठित काली से इतना डरते थे कि छोटी-से-छोटी भूल करते ही कांप उठते थे, क्योंकि जब उनपर महाविपत्तियां टूट पड़ती तो वे मानते थे कि उन्हें काली ने ही भेजा है! ऐसा विचार ही एक भयंकर चीज है। मैं इन सत्ताओं को जानती हूं। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूं, लेकिन ये प्राण की सत्ताएं हैं, प्राण की रचनाएं, जिन्हें रूप दिया है मनुष्य के मन ने, और रूप भी कैसा! और यह सोचना कि मनुष्य इतनी भयावह और विकराल चीजों की पूजा करते हैं। और तिसपर ये बिचारे देवता जिन्हें यह अभिनन्दन दिया जाता है कि वे...।

इस दृष्टिकोण से यह बहुत अच्छा है कि कुछ समय के लिए मानवजाति इस धार्मिक वातावरण से बाहर निकल आये जो भय से और उस अन्धे, अन्धविश्वासी आत्म-समर्पण से भरपूर है जिसका विरोधी शक्तियों ने भयंकर रूप से अनुचित लाभ उठाया है। इस दृष्टिकोण से मनुष्यों को अन्धविश्वास से मुक्त करने के लिए इन्कार और प्रत्यक्षवाद का युग एकदम अनिवार्य है। इन सब चीजों से, भयंकर प्राण-शक्तियों के प्रति घृणित समर्पण से बाहर निकल कर

ही हम सच्ची आध्यात्मिक ऊंचाइयों तक उठ सकते हैं और तब 'सत्य' की शक्तियों के, वास्तविक चेतना के और सत्य 'शक्ति' के सहायक और सच्चे यन्त्र बन सकते हैं।

और ऊपर उठने से पहले आदमी को इन सब चीजों को दूर, बहुत दूर छोड़ देना होगा।

आश्रम में पूजा-दिवस

श्रीमां के साथ मोना सरकार की बातचीत

(स्मृति द्वारा लिखी गयी)

हां, तो मैं तुम्हें कुछ बताने जा रही हूं। यह उन दिनों की बात है जब मैं दुर्गा-पूजा, महासरस्वती-पूजा आदि के अवसरों पर विशेष आशीर्वाद दिया करती थी, उस समय दुर्गा और अन्य देवियां मेरे पास आया करती थीं; इसके अतिरिक्त भी वे मुझसे यदा-कदा मिला करती थीं। वे बारी-बारी से आती थीं और अब भी किसी-न-किसी काम से आती रहती हैं। मुझे याद नहीं कि यह पिछले साल की बात है या उससे भी पहले साल की—और फिर समय का मेरे लिए कोई महत्त्व भी नहीं रह गया; देखा जाये तो बहुत फर्क पड़ता भी नहीं क्योंकि मैंने पूजा के अवसरों पर आशीर्वाद देना बन्द कर दिया है—अस्तु, यह पूजा के दिनों के आस-पास की बात होगी, सदा की तरह दुर्गा मेरे पास आयीं। वे अन्य सभी बच्चों की तरह बहुत सुन्दर और शक्तिशालिनी थीं लेकिन वे वैश्व शक्ति धारे एक सत्ता थीं। और मैंने उनसे पूछा, "क्या कभी इन छोटी-छोटी सत्ताओं का अन्त नहीं होगा और क्या अब समय नहीं आ गया है इन छोटे-छोटे वैयक्तिक अहंकारों को पीछे छोड़ उस 'परम' की ओर मुड़ने का?"

जानते हो फिर क्या हुआ? बहुत शानदार और आशातीत घटना घटी : बहुत विनम्र भाव से, कृतज्ञता से भर कर दुर्गा ने बहुत ही हर्षपूर्ण और सहज वातावरण में सब कुछ 'परम' को सौंप दिया, उस वातावरण का शब्दों में बखान सम्भव नहीं। उसे देख पाने के लिए तो अनुभूति चाहिये। और उसने मुझे कहा, "हां, मैं पूरी तरह से 'तुम्हारी' हूं, जो तुम चाहोगी मैं वही करूंगी। मैं अपने-आपको तुम्हें समर्पित करती हूं," और उसने मेरे चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। यह सम्पूर्ण समर्पण था। कोई झिझक नहीं थी। कितना भव्य था वह! तब से मैंने पूजा के दिनों के आशीर्वाद देने बन्द कर दिये, क्योंकि अब उनकी जरूरत नहीं रह गयी थी। सब कुछ बन्द हो गया, सदा-सदा के लिए... ओह! कितने सुन्दर ढंग से, कितनी मनोहारी अदा के साथ।

हम केवल 'परम' की ही आराधना करते हैं, उन्हीं को अपनी कृतज्ञता निवेदित करते हैं। केवल 'परम' को, किसी और को नहीं! वैश्व देवताओं के राज्य का वह अध्याय पूरा हुआ। अब तो हमारे लिए केवल वे 'परम' ही सब कुछ हैं। और कोई नहीं।

और इससे भी पहले एक और भेंट हुई थी दुर्गा के साथ, बहुत समय पहले। तब मैं 'प्लेग्राउण्ड' में आया करती थी। एक दिन दुर्गा आयीं और मैंने उनसे इसी तरह का प्रश्न किया था : "तुम लोगों से कब तक पूजा-चढ़ावा लेती रहोगी? क्या अब समय नहीं आ गया कि हम 'परम प्रभु' को पूजें?" तब उसने बड़ी भद्रता से उत्तर दिया, "अवश्य, मैं ऐसा ही चाहती हूं, मैं तुम्हारी हूं, लेकिन तुम देख रही हो कि लोग मुझसे चिपके हुए हैं, मुझे छोड़ना नहीं चाहते।" तो लोग ऐसे हैं (मुद्रा),—जो कुछ भी उनके अहं को और फुला दे, जो अभी भी अतीत के पुजारी हैं और जो कुछ उनको थोड़ी-सी भी सन्तुष्टि दे दे उसको वे कभी नहीं छोड़ेंगे, 'परम' के लिए भी नहीं।

यह मनुष्य ही है जो बदलना नहीं चाहता, क्योंकि वह अपने अधिकार और अहंकार दोनों ही खोना नहीं चाहता। विभेद मनुष्य ही पैदा करता है। वह सचमुच समर्पित भाव से मेरा काम करना चाहती थी, लेकिन वह उन लोगों से पूरी तरह बंधी हुई थी जो उसकी पूजा करते थे और अपनी व्यक्तिगत मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करते थे। इससे ज्यादा कुछ नहीं। मनुष्य छोड़ना नहीं चाहते क्योंकि वे अपने सहारे को और अहं की तुष्टि को गंवाना नहीं चाहते। वे चिपके रहते हैं और रास्ते का रोड़ा बनते हैं।

लेकिन इस सुन्दर अनुभूति के बाद कुछ उभर कर आया। मैं दुर्गा के सहयोग से कुछ काम करा सकी। वह नये साल की प्रार्थना भी जो मैंने लिखी थी, प्रार्थना, कि प्रकृति सहयोग देगी...[१] आदि। पता है तुम्हें?

हां, हां, मां।

तो इस तरह वह अपने-आपको धीरे-धीरे पूरी तरह सौंप सकी, और अब हमें इन पूजाओं की जरूरत नहीं रह गयी; वह 'परम प्रभु' के साथ एकाकार हो गयी। और हम केवल 'परम प्रभु' की पूजा करते हैं। अब दुर्गा मुझमें समा गयी हैं। समझे तुम?

---

[१] १९५८ का नये साल का श्रीमां द्वारा दिया गया सन्देश:

"हे प्रकृति, हमारी पार्थिव मां! तूने कहा है कि तू सहयोग देगी और तेरे इस सहयोग की भव्य महिमा की कोई सीमा नहीं।"

भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध

मैंने सोचा कि मैं कुछ ऐसा पढ़ूं जिसमें तुम्हें रस आये और जो तुम्हें यह दिखाये कि श्रीअरविन्द ने देवताओं के साथ हमारे सम्बन्ध का निरूपण कैसे किया है।

तुम जानते ही हो, जानते हो न, कि भारत में विशेषकर, देवताओं की अनगिनत श्रेणियां हैं, सब विभिन्न स्तरों पर हैं, कुछ मनुष्य के बहुत पास, दूसरे 'परम' के बहुत समीप, और बहुत से मध्यवर्ती।

जो मैं तुम्हें बताना चाहती हूं उसे तुम अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे यदि मैं पौराणिक देवताओं का उल्लेख करूं (वैसे देवता जैसे हमने उस दिन फिल्म में देखे थे), और जो, मैं कहूंगी कि कई बातों में मनुष्य से बदतर हैं)! यद्यपि शक्ति के हिसाब से वे अनन्तगुना महान् हैं।

अधिमानस के देवता हैं जो पृथ्वी के महान् स्रष्टा हैं—अभीतक। वेदों के देवता हैं जिनका उल्लेख ऋषियों ने हम तक आनेवाली हर चीज में किया है। और हैं अतिमानस के देवता जो पृथ्वी पर अभिव्यक्त होनेवाले हैं, यद्यपि अपने स्तर पर वे शाश्वत काल से विद्यमान हैं।

यहां श्रीअरविन्द विशेषकर वैदिक देवताओं के बारे में कह रहे हैं, पर अनन्य भाव से नहीं, न ही बिलकुल निश्चित रूप से। कुछ भी हो, ये देवता पौराणिक देवताओं की अपेक्षा अधिक महान् हैं।

श्रीअरविन्द ने जो कहा है वह यों है : संक्षेप में यह एक प्रार्थना है :

> विस्तृत होओ मेरे अन्दर, हे वरुण;
> शक्तिशाली बनो मेरे अन्दर, हे इन्द्र;
> हे सूर्य, प्रदीप्त होओ और भास्वर बनो;
> हे चन्द्र, शोभा-सुषमा और मधुरिमा से भर उठो।

उग्र और भयंकर बनो, हे रुद्र;
प्रचण्ड और वेगवान् बनो, हे मरुत्;
बलवान् और साहसी होओ, हे अर्यमा;
विलासी और सुखदायी बनो, हे भग;
कोमल, कृपालु, प्रेमिल और अनुरागी बनो, हे मित्र;
उज्ज्वल और उद्‌भासक होओ, हे उषा;
हे निशे, भव्य और उर्वर बनो;
हे जीवन, परिपूर्ण, प्रस्तुत और प्रफुल्ल होओ;
हे मृत्यु, एक सौध से दूसरे सौध तक मुझे ले चलो।
इन सबको एक लय-ताल में बांध दो, हे ब्रह्मणस्पति।
मैं इन देवताओं का दास न बनूं, हे काली![१]

तो, श्रीअरविन्द काली को बड़ी मुक्तिदायिनी शक्ति मानते हैं जो तुम्हें लगन के साथ प्रगति करने की ओर प्रवृत्त करती है और तुम्हारे अन्दर ऐसा कोई बन्धन नहीं छोड़ती जो तुम्हें प्रगति करने से रोके।

*

श्रीअरविन्द काली को सबसे अधिक महत्त्व क्यों देते हैं?

जिन गुणों का ये देवता प्रतिनिधित्व करते हैं या जिनके प्रतीक हैं उन सबको प्राप्त करना आवश्यक और अच्छा है। इसीलिए श्रीअरविन्द उनका आवाहन करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी प्रकृति को अपने अधीन कर लें। किन्तु, जो परात्पर भगवान् के साथ संयुक्त होना चाहता है, जो सर्वोच्च प्राप्ति के लिए अभीप्सा करता है, उसके लिए यह काफी नहीं हो सकता। इसीलिए अन्त में वे काली का आवाहन करते हैं ताकि वे उन्हें इन देवताओं के परे जाने की शक्ति दें।

[१] 'विचार और सूत्र', पृ. ८६

क्योंकि काली विश्व-माता का एक अत्यधिक शक्तिशाली पक्ष है। इनके द्वारा सृष्ट सभी देवताओं की शक्ति से इनकी शक्ति अधिक महान् है। अतएव इनसे युक्त होने का अर्थ है सभी देवताओं की समष्टि से अधिक विस्तृत, पूर्ण और शक्तिशाली होना। इसीलिए श्रीअरविन्द काली के साथ एकत्व को सबसे ऊपर और परे स्थान देते हैं।

सोसायटी समाचार

शिक्षा-शिविर—डॉ. मंगेश नडकर्णी के संचालन में सोसायटी दो शिक्षा-शिविरों का आयोजन करेगी—२६ नव. से ४ दिस. २००६ तक श्रीअरविन्द के Essays on the Gita पर और २३ फर. से ५ मार्च २००७ तक श्रीअरविन्द की 'सावित्री' पर।

१७, २०, २४ नवम्बर तथा ५ और ९ दिसम्बर आश्रम के महत्त्वपूर्ण दिवसों के रूप में अनुष्ठित होते हैं।

वडोदरा (गुजरात) शाखा ने श्रीअरविन्द की पुस्तकों के अध्ययन का १२वां वार्षिक शिविर ४ से १० जून तक श्रीअरविन्द निवास में लगाया।

रतलाम (मध्य-प्रदेश) शाखा ने २३ जुलाई को एक सेमिनार का आयोजन किया जिसमें पटना, नौगांव, ग्वालियर, भोपाल, इन्दौर, धार, खाण्डवा तथा उज्जैन के केन्द्रों तथा शाखाओं ने अपने यहां की गतिविधियों के बारे में अवगत कराया। दिल्ली के श्री विजय पोद्दार ने पथ-प्रदर्शन किया और कई लोगों के भाषण भी हुए।

वार्षिक क्षेत्रीय सम्मेलन (हिन्दी क्षेत्र)

श्रीअरविन्द सोसायटी का हिन्दी क्षेत्रीय वार्षिक सम्मेलन ७-८ अक्टू. २००६ को नोयडा में सम्पन्न होगा। व्यवस्था तथा अन्य सभी जानकारियों के लिए लिखें—श्री सुरेश गुप्ता (स्थानीय सचिव, मुख्यालय) श्रीअरविन्द भवन, सी 56/36, सेक्टर—62, नोयडा—२०१३०१। (दूरभाष : 0120—3963313)

नवम्बर २००६

रु. ७.००

37
5

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

Absent
14/12/07

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अग्निशिखा नवम्बर २००६ वर्ष ३७, अंक ४, पूर्णांक ४३६

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां १
'सम्पादकीय' : अपराजेय (४) अनुबेन २
दैनन्दिनी ७
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क : नीरदवरण १०
१९५० के बाद—नया सम्बन्ध

एक नया जगत् जन्म ले चुका है
अतिमानसिक अभिव्यक्ति पर
श्रीमां के वचन

धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति १५
महान् संक्रमण-काल १६
धरती पर अतिमानसिक क्रिया २०
नयी चेतना और हमारी मानवता २८
अतिमानस की ओर ३२
सोसायटी समाचार ३७

मुखपृष्ठ के पुष्प का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

अतिमानसिक विहंग

(वह वहीं रहता है जहां अवतरित हुआ है)

वानस्पतिक नाम—Strelitzia reginae

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

प्रश्न—पिछले साल जो नयी चेतना उतरी थी उसकी क्रिया को मुक्त रूप से कार्य करने देने के लिए साधक को क्या करना चाहिये?

उत्तर—१. ग्रहणशील बनो
और
२. नमनीय बनो।

१९७०

नयी चेतना को ग्रहण करने के लिए, स्वयं को तैयार करने के लिए पहली अनिवार्य शर्त है सच्ची और सहज नम्रता जो हमें गभीर रूप से इसका अनुभव कराती है कि हमें जो अद्भुत वस्तुएं प्राप्त करनी हैं उनके सामने हम कुछ भी नहीं जानते और कुछ नहीं हैं।

—श्रीमां

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

'सम्पादकीय' :

अपराजेय

(४)

बड़ौदा में श्रीअरविन्द को जैसा भी काम दिया जाता था वे उसे पूरी एकाग्रता से करते। सभी विभाग उनके काम से पूरी तरह सन्तुष्ट थे हालांकि कई काम उन्हें अरुचिकर लगते थे। यह उनकी विलक्षण उपलब्धि थी। हम जानते हैं कि अगर हमें उबाऊ काम दिया जाये तो उसे हम किसी भी तरह, जैसे-तैसे कर देते हैं किन्तु नवयुवक श्रीअरविन्द ऐसे काम को भी पूरी एकाग्रता से करते थे।

जब सयाजी राव ने श्रीअरविन्द को बड़ौदा कॉलेज में अंग्रेजी और फ्रेंच पढ़ाने के लिए प्रोफेसर का पद दिया तब मानों रेगिस्तान में भटकता हुआ मुसाफिर नखलिस्तान के सामने आ पहुंचा हो।

अपने नये प्रोफेसर के बारे में विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया देखें। कन्हैयालाल मुंशी, जो आगे चलकर भारत सरकार की सेवा में उच्च अधिकारी बने, और जो गुजरात के लोकप्रिय लेखक थे, अपने कॉलेज के संस्मरणों में लिखते हैं, "हम अपने प्रोफेसर अरविन्द के ज्ञान की राशि देखकर फूले न समाते थे... प्रोफेसर अरविन्द को लोकप्रियता की चाह न थी, फिर भी विद्यार्थियों में वे ही सबसे अधिक लोकप्रिय थे। उनके लिए हम लोगों का अहोभाव, बल्कि यूं कहें, पूज्य भाव शब्दों में कहा नहीं जा सकता।"

एक दिन मुंशी ने कहा, "मुझे उन्हीं दिनों का एक प्रसंग याद आ रहा है। मैंने श्रीअरविन्द से पूछा, 'अपने अन्दर राष्ट्रीयता किस तरह विकसित की जाये?' उन्होंने दीवार पर टंगे भारत के नक्शे की ओर इशारा करके कहा, 'इस नक्शे को देखो और इसमें भारत

माता की आकृति को देखना सीखो। इसका शरीर वन-पर्वत और नदी-नीर से बना हुआ है। यहां के देशवासी इसके कोषाणु हैं और इन्हीं से इसकी मांस-पेशियां बनी हैं। हमारा साहित्य इसी माता की स्मृति और इसकी वाणी है। हमारी संस्कृति और चेतना इसकी आत्मा है। भारत को सजीव माता मानकर उसके दर्शन करो और उसकी भक्ति करो।'"

बड़ौदा कॉलेज के विद्यार्थी, चन्दवाणी अपने प्रोफेसर अरविन्द घोष के बारे में कहते हैं, "हम सब विद्यार्थी उन्हें बहुत अधिक मान देते थे। उन दिनों हमें ऐसा लगता था कि वे किसी महान् सिद्धि की तैयारी में लगे हुए हैं। ... कक्षा में भाषण देते समय उनकी आंखें नीचे की ओर रहतीं, मानों ध्यानमग्न हों। पढ़ाते समय उनका उद्देश्य परीक्षा में हमें पास करवाना न होता था...।"

उनके पढ़ाने के इस तरीके के बारे में जानकर हम देख पाते हैं कि श्रीअरविन्द अपने समय से कितना आगे बढ़ चुके थे क्योंकि अब हम सुनते हैं कि परीक्षा की सचमुच आवश्यकता नहीं है।

चन्दवाणी कहते हैं, "एक बार जब मैं बम्बई में था तो श्रीअरविन्द अपने राजनीतिक काम से वहां आये थे। मैं उनसे मिलने गया और उन्हें अपने सिन्धी मित्रों से मिलने के लिए अपने कमरे में बुलाया। जब सब इकट्ठे हुए और मैं उनके बारे में बोलने के लिए खड़ा हुआ तो उन्होंने मुझे बिठा दिया। वे देवता-मूर्ति बोलने के लिए खड़े हुए और उन्होंने बस इतना ही कहा, 'हम सब एक ही माता की सन्तान हैं, उसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है।' अपने बारे में वे प्रशंसा के फूल खिलते देखना नहीं चाहते थे। इस घटना से हम देख सकते हैं कि वे सचमुच प्रसिद्धि से दूर रहना चाहते थे। श्रीअरविन्द सयाजी राव का काम करते थे किन्तु एक क्षण के लिए भी वे भूल न पाते थे कि वे भारत की स्वाधीनता के लिए आये हैं।"

चन्दवाणी आगे कहते हैं, "वाणी की तो कौन कहे, श्रीअरविन्द का मौन भी हमारे लिए प्रेरणा-रूप होता था। वे हमारे लिए राष्ट्रीय आदर्शों और प्रवृत्तियों के एकमात्र प्रेरणादाता बन गये। उनकी ही वजह से हमारे अन्दर देशप्रेम की ज्वाला भभकती थी। उनके दिये हुए दान को नापने के लिए हमारे अन्दर कोई उपाय नहीं है।"

श्रीअरविन्द के एक विद्यार्थी एडवोकेट पाटकर कहते हैं—उनकी पढ़ाने की शैली एकदम निराली थी। कक्षा में हों या कक्षा के बाहर, उनके भाषण सुनने के लिए हम सबमें ललक होती थी। उनके भाषण हमेशा हृदय को छूते थे। एक बार मैंने उनसे अपनी अंग्रेजी सुधारने की तरकीब पूछी। श्रीअरविन्द ने मुस्कुरा कर कहा, "किसी के गुलाम न बनो, तुम स्वयं अपने स्वामी बनो। मैकॉले या किसी और लेखक का अध्ययन करने से तुम कभी उस जैसे लेखक न बन पाओगे, शायद उसकी हास्यास्पद नकल बन जाओ। ... तुम्हें स्वतन्त्र विचार करना सीखना होगा। अपनी ही शैली बनानी होगी।"

उबाऊ, नीरस काम करते-करते जब सात वर्ष बीत गये तब श्रीअरविन्द अपने आदर्श की ओर एक छोटा कदम ले पाये और वह उनके लिए मरुभूमि में ओस की वर्षा-सा सुखद अनुभव हुआ होगा।

श्रीअरविन्द स्वदेश लौट आये थे किन्तु परिवार के साथ उनका विशेष सम्बन्ध नहीं हो पाया, मुख्य कारण शायद यह था कि वे रहते थे बड़ौदा में और परिवार सुदूर बंगाल में था। उनकी मां अस्वस्थ रहती थीं, पिता, जिनके साथ उनका सम्पर्क इंग्लैंड से बना रहा था, चल बसे थे। मनमोहन और विनयभूषण कूचबिहार में अच्छी नौकरी करने लगे थे। यहां भारत में तीनों भाई दूर रहने लगे, इसी बाह्य दूरी ने उनके सम्बन्ध को ढीला कर दिया। इंग्लैंड में कम-से-कम तीनों भाई इकट्ठे तो थे। इस तरह श्रीअरविन्द का

जीवन एकाकी ही रहा, फिर वे स्वभाव से मितभाषी थे। बस रह गये वे और उनकी पुस्तकें! अपनी छोटी बहन सरोजिनी के साथ उनका थोड़ा अच्छा सम्बन्ध बना हुआ था। रह गया छोटा भाई बारीन, जो दो-तीन छोटे-मोटे कामों में असफल होकर श्रीअरविन्द के पास आया। उनके सम्पर्क में आया तो उन्हीं के रंग में रंग गया और जी-जान से भारत की आजादी के काम में लग गया।

अभी तक श्रीअरविन्द का अपने परिवार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बन नहीं पाया था; ऐसा लग रहा था मानों वे लोग उनके व्यक्तिगत जीवन में घुल-मिल कर कुछ कहने या करने से अचकचाते थे।

हम कभी जान न पायेंगे कि श्रीअरविन्द ने शादी करने की बात क्यों सोची और उससे भी ज्यादा आश्चर्य हमें यह जानकर होता है कि शादी के लिए उन्होंने अखबार में इश्तहार क्यों दिया? साधारणतः उनके जैसे इंग्लैंड से लौटे हुए दूल्हे के लिए कई अच्छे घरों से शादी के प्रस्ताव आये होंगे किन्तु उन्होंने इश्तहार से ही लड़की को चुनने का निश्चय किया! वैसे उन्हें घर में कोई मुश्किल नहीं उठानी पड़ती थी। नौकर और रसोइया घर में थे ही, फिर भी भोजन उन्हें अकेले ही करना पड़ता था। जो भी हो, जैसे हमें श्रीअरविन्द के पिता की मृत्यु पर कोई लिखित या मौखिक प्रतिक्रिया नहीं प्राप्त हुई उसी तरह श्रीअरविन्द के जीवन के विवाह का यह प्रसंग भी अत्यन्त गोपनीय और रहस्यमय ही रहेगा। खैर, हम इतना ही सोच सकते हैं कि किसी अगम्य कारण से उन्होंने विवाह करने का निश्चय किया होगा। विवाह की और एक विचित्र बात से हम थोड़े असमंजस में पड़ जाते हैं, वह यह कि शादी के समय परिवार का एक भी सदस्य वहां उपस्थित नहीं था। तो देखें यह विवाह हुआ कैसे! इश्तहार के उत्तर में पता नहीं कितनी चिट्ठियां आयी होंगी किन्तु ऐसा लगता है कि श्रीअरविन्द एक ही लड़की को देखने गये थे और उसी को

उन्होंने चुन लिया। उस भाग्यशाली लड़की का नाम था मृणालिनी। शादी हुई १९०१ में। मृणालिनी के पिता का नाम था श्री भूपालचन्द्र बोस। उनके मित्र, प्रिंसिपल गिरीशचन्द्र बोस ने इस विवाह की सारी व्यवस्था कर दी। मृणालिनी का परिवार जैसोर से रांची आकर वहीं बस गया था। इस शादी में पहली समस्या यह खड़ी हुई कि समुद्र पार कर आये भारतीय व्यक्ति का शास्त्र के अनुसार शुद्धि-संस्कार होना चाहिये। श्रीअरविन्द ने शुद्धि-संस्कार के लिए इन्कार कर दिया; फिर ब्राह्मणों ने चाहा कि कम-से-कम मुण्डन ही करवा लें। इस प्रस्ताव के लिए भी वे तैयार न थे। अन्त में दान-दक्षिणा देकर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। श्रीअरविन्द का आग्रह था कि शादी सादगी से हो। इस शादी में उपस्थित थे व्योमेशचन्द्र चक्रवर्ती, लॉर्ड सिन्हा, सर जगदीशचन्द्र बोस और लेडी जगदीशचन्द्र बोस। स्वदेश लौट आये श्रीअरविन्द की शादी भी शिव की शादी के जैसी थी; हां, इस शादी में भूत-प्रेत नहीं, उच्च वर्ग के पढ़े-लिखे प्रसिद्ध व्यक्ति आये थे। पता नहीं अपनी शादी में उन्हें अपने परिवार की अनुपस्थिति खल रही थी या नहीं! हम यह भी नहीं जानते कि उन्होंने परिवार को अपनी शादी की बात बतलायी भी थी या नहीं!! यह तो पता लगा कि शादी के बाद वे देवघर अपने नाना राजनारायण से मिलने पत्नी और बहन सरोजिनी के साथ गये थे। वहां कुछ दिन रहकर वे मृणालिनी और सरोजिनी को लेकर नैनीताल गये। एक वर्ष वहीं रहे। बस, श्रीअरविन्द को गृहस्थ-जीवन का यही अनुभव था। हर व्यक्तिगत परिस्थिति में जैसे वे मौन रहे इस एक वर्ष के बारे में भी उन्होंने कुछ नहीं कहा।

इसी वर्ष श्रीअरविन्द के जीवन में अप्रत्याशित मोड़ आ गया।

—अनुबेन

(क्रमशः)

दैनन्दिनी

नवम्बर

१. सभी वस्तुओं में स्तर होते हैं, और जो आज पूर्ण है वह कल पूर्ण नहीं प्रतीत होता।

२. अध्यवसाय है धैर्य जो प्रस्तुत और तत्पर रहता है और कभी चुपचाप नहीं बैठता।

३. समस्त आभासों के पीछे शक्तियों तथा गतिविधियों का ऐसा सामंजस्य है जो कुछ-कुछ एक पूर्ण स्वरसंगति में विभिन्न प्रकार के वाद्यों के सामंजस्य की भांति होता है।

४. शान्ति मुक्ति का चिह्न है, आनन्द सिद्धि की ओर जाता है।

५. भौतिक तथा प्राणिक शक्तियां विकृत हैं—उनका पुनर्नवीकरण करना होगा ताकि वे भागवत इच्छा को अभिव्यक्त करने में सक्षम हों।

६. निस्सन्देह शान्ति, पवित्रता और निश्चल-नीरवता सभी स्थूल वस्तुओं में अनुभूत हो सकती हैं—क्योंकि दिव्यात्मा सबके अन्दर विद्यमान है।

७. प्रश्न—क्या भगवान् कभी भी हमसे दूर या पीछे हट जाते हैं?
उत्तर—नहीं, हम ही उनसे पीछे हट जाते हैं।

८. प्रेम वह परमा शक्ति है जिसे शाश्वत परम चेतना ने अपने अन्दर से एक धुंधले तथा अंधेरे जगत् में इसलिए भेजा कि वह उस जगत् तथा उसकी सत्ताओं को भगवान् तक वापस ला सके।

९. पूर्ण योग के लिए पूर्ण सन्तुलन की आवश्यकता होती है।

१०. रूपान्तर होकर रहेगा : कोई चीज उसे नहीं रोक सकती, कोई चीज सर्वशक्तिमान् के निर्णय को निष्फल नहीं कर सकती।

११. अतिमानसिक होने का मतलब है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा

तुम अतिमानस को अपने अन्दर आने देते हो ताकि वह तुम्हारी सत्ता के विविध भागों पर अधिकार कर ले, पूर्ण अतिमानसीकरण का अर्थ होगा अतिमानस का पूरी सत्ता पर, यहांतक कि भौतिक शरीर तक प्रवेश और उस पर अधिकार।

१२. भागवत कृपा हमेशा उपस्थित है, लेकिन केवल सच्चे तथा निष्कपट व्यक्ति के सामने ही उसकी उपस्थिति प्रकट होती है।

१३. तुम्हें पुराने सामान्य जीवन, उसके नियमों तथा रूढ़ियों तथा भागवत चेतना की ओर ले जाने वाले नये जीवन के बीच चुनाव करना होगा।

चुनाव करके निश्चय करो।

१४. जिसका आरम्भ हो-हल्ले से होता है उसका अन्त असफलता में होता है।

१५. चैत्य हमेशा उपस्थित है, और वह मजबूत है। कमजोर तो ग्रहणशीलता है।

१६. आध्यात्मिक जीवन सभी में एक ही सारतत्त्व को प्रकट करता है, लेकिन साथ ही साथ उसकी अनन्त विभिन्नता को भी प्रकट करता है, वह एकता में विभिन्नता के लिए तथा उस विभिन्नता में पूर्णता के लिए कार्य करता है।

१७. हमेशा शिकायत करना केवल समय और ऊर्जा की बरबादी है।

१८. अभीप्सा में सच्चे तथा निष्कपट, क्रिया में निष्ठावान्, उद्यम में दृढ़ाग्रही बनो और तुम अपना लक्ष्य पा लोगे।

१९. जीवन में अचंचल विश्वास के साथ बढ़ते चलो और तुम्हारी नियति चरितार्थ होगी।

२०. आराधना करो और जिसकी आराधना करो वही बनने की कोशिश करो।

२१. भक्ति उत्कट श्रद्धा में है।

अन्ततः परम प्रभु ही सब कुछ करते हैं।
हमें वफादार यन्त्र बनना चाहिये।

२२. जब भगवान् जड़-भौतिक को ऊपर उठाना चाहते थे, उसे जगाकर अपनी ओर उठाना चाहते थे तो उन्होंने स्वयं को प्रेम के रूप में जड़-भौतिक में ढाला और अन्दर ही अन्दर रूपान्तर हो रहा है।
अतः किसी संगठन में रहकर ही तुम उसे प्रबुद्ध बनाने और परम सत्य की ओर उठने में सहायता दे सकते हो।

२३. तुम धरती पर आये हो अपने-आपको जानना सीखने के लिए।

२४. बिना हिचकिचाये मन और हृदय दोनों में दूसरे का मंगल चाहना ही सर्वोत्तम सहायता है जो मनुष्य दूसरे को दे सकता है।

२५. यह शर्त लगाना उचित पथ नहीं है कि तुम जो कुछ चाहते हो वह यदि पा जाओ तो तुम आज्ञाकारी और प्रसन्न होओगे। बल्कि सर्वदा आज्ञाकारी और प्रसन्न बने रहो और तब तुम जो कुछ चाहते हो उसे तुम्हारे पास आने का मौका मिलेगा।

२६. यदि कभी भौतिक रूप से थकान अनुभव हो तो भी यह अनिवार्य नहीं है कि वह साधना में बाधा डाले। आन्तरिक क्रिया हमेशा जारी रह सकती है।

२७. निस्सन्देह तुम महान् हुए बिना योग कर सकते हो। महान् होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, विनम्रता सबसे पहली आवश्यकता है, क्योंकि जिस व्यक्ति में अहंकार और गर्व है वह परमोच्च सत्य को नहीं प्राप्त कर सकता।

२८. बस एक ही अनिवार्य शर्त है—सच्चाई।

२९. हमें भगवान् के लिए अभीप्सा करनी चाहिये और उन्हें ही समर्पण करना चाहिये तथा यह कार्य उन पर छोड़ देना चाहिये कि एक बार आधार के पूर्ण हो जाने पर व्यक्ति के लिए जो

कुछ सत्य और उचित हो, उसे वे करें।

३०. प्रार्थनाएं विश्वास से भरी होनी चाहियें और वहां शोक या विलाप नहीं होना चाहिये।

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

१९५० के बाद—नया सम्बन्ध

१९३८-५० के लम्बे अरसे में माताजी के साथ मेरे सम्बन्ध का वर्णन "Twelve Years with Sri Aurobindo" में दिया गया है; मैं उसे दोहराना नहीं चाहता।

ऊपर के काम के साथ भी मैं औषधालय के साथ अपने सम्बन्ध को हठात् तोड़ न पाया। जब श्रीअरविन्द की स्थिति स्थिर हो गयी और हमारा अपना-अपना काम निश्चित हो गया तब मैं अपने ऊपर के काम से जो समय बचता था, औषधालय में जाकर बीमारों को देखता था। जब मुझे आवश्यक लगता तब मैं माताजी और श्रीअरविन्द को किसी बीमार के बारे में मौखिक रिपोर्ट देता। कुछ वर्षों के बाद मेरे सौभाग्य से डॉक्टर नृपेन्द्र आश्रम में आ गये और उन्होंने औषधालय का उत्तरदायित्व सम्भाल लिया। तब ऊपर-नीचे दौड़ने के बोझ से मैं मुक्त हो गया और प्रभु तथा उनके शिष्यों के बीच अपनी सेवा का अस्थिर सन्तुलन बनाये रखने के दायित्व से भी मैं मुक्त हो गया। मेरे रहने का स्थान भी औषधालय से मुख्य आश्रम में बदल दिया गया। इसके अलावा, १९५० के बाद जीवन उतार-चढ़ाव से भर गया था। मैं मानों रसातल में फेंक दिया गया था और अन्धकार मुझसे लिपट गया था। मैं उस अन्धकार से कैसे निकला, कैसे

कष्टसाध्य लम्बे पथ से होता हुआ ऊपर शिखर पर पहुंचा, किन्तु हाय, वह दिव्य उषा अल्पकालिक रही—आगे चलकर निम्नलिखित पृष्ठों में उस अनुभव का विवरण होगा।

श्रीअरविन्द के देहत्याग के बाद ऐसा लगा कि मेरा कोई काम रहा ही नहीं। चम्पकलाल तो माताजी और श्रीअरविन्द दोनों की सेवा करते थे इसलिए उनके लिए माताजी की सेवा में लगे रहना आसान था। मैं तो अपनी सेवा से बिलकुल वंचित हो गया और मेरी कोई विशेष 'क्षमता' भी नहीं थी जिससे मैं माताजी की सेवा कर पाता। मुझे यही डर था कि मुझे कहीं कोई और काम दे दिया जायेगा और मुझे अपने पुराने कमरे में नीचे भेज दिया जायेगा। बड़ी घबराहट के साथ मैंने माताजी से अपने भविष्य के बारे में, कि मुझे अब क्या करना चाहिये, कहां सोना चाहिये इत्यादि पूछा। अति सहज रूप से माताजी ने कहा, "क्यों? तुम श्रीअरविन्द के कमरे में सोना जारी रखोगे। रही काम की बात, वह तो बहुत है। तुम नलिनी के साथ श्रीअरविन्द की पाण्डुलिपियों पर काम करोगे।" संवेदन के मात्र एक संकेत ने मेरे सारे उदास, अपशकुनभरे डर को भगा दिया। कितनी दिव्य सान्त्वना थी!

मैं एक और उदाहरण देता हूं : कुछ वर्ष बाद जब मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड़ गया तो माताजी से मैंने कहा, "एक कारण तो यह है कि मुझे ठीक से नींद नहीं आती क्योंकि श्रीअरविन्द के कमरे में बहुत मच्छर हैं।" माताजी ने पूछा, "तुम मसहरी का उपयोग क्यों नहीं करते?" मैं ऐसे उत्तर की बिलकुल अपेक्षा नहीं कर रहा था। मैंने बालवत् यही सोचा था कि माताजी कहेंगी कि ऐसी सुविधाओं का उस कमरे में निषेध है, ऐसा करना अपवित्र काम होगा! माताजी और श्रीअरविन्द में यह मानव विशेषता—सरल-सहज मानव बुद्धि —इन दिव्य द्वय में यह चीज कितना बड़ा आश्वासन देती है!

जब सोने के विषय में मेरा भय शान्त हो गया तब मेरे काम के बारे में प्रश्न उठ खड़ा हुआ; वह था काम करने के लिए स्थान ढूंढ़ना। इस विषय में भी मुझे डर लग रहा था कि कहीं माताजी मुझे अपने नीचेवाले कमरे में काम करने के लिए न कह दें। उस कमरे में जगह कम थी। उन्होंने मेरी चिन्ता को निर्मूल कर दिया। उन्होंने मकान की पूर्व दिशा का निरीक्षण किया और सड़क की ओर खुलनेवाले एक छोटे कमरे के पास आकर उन्होंने कहा, "तुम यहां काम कर सकते हो।" मैं एक बार फिर उनकी इस महान् उदारता के सम्मुख आश्चर्यचकित, मूक बना खड़ा रह गया। श्रीअरविन्द की दुर्घटना से पहले यह माताजी की बैठक थी। यह प्रकाश और हवा से भरा रहता था, यह नीले आकाश और हरे-भरे वृक्षों की ओर खुला था। और मेरा कवि हृदय "उल्लास से नाचने" लगा। इसके अतिरिक्त जब माताजी अपने कमरे में लोगों से मिलतीं तो लम्बे गलियारे से देखते हुए मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य मिलता। चम्पकलाल ने मुझे एक मेज दे दी जिसका उपयोग श्रीअरविन्द कर चुके थे! अब मैंने माताजी से कहा कि मुझे 'सावित्री' की पाण्डुलिपि को टंकित करके उसे प्रकाशन के लिए तैयार करना है। मुझे याद नहीं है कि उस काम के लिए अस्थायी रूप से एक टाइप-राइटर दिया गया था या नहीं, किन्तु एक दिन माताजी ने मुझसे कहा, "हम लोगों ने तुम्हारे लिए जर्मनी से एक टाइप-राइटर मंगवाया है।" जब टाइप-राइटर आया तो उन्होंने वह मेरे हाथों में दिया, एकदम नया, हल्का टाइप-राइटर! मैंने अपनी मौन कृतज्ञता उन्हें अर्पित की। वह मशीन वर्षों तक अच्छी तरह काम करती रही।

श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के बाद किसी ने उनके अन्तिम दिनों के बारे में लिखते हुए कहा कि डॉक्टरों ने उनकी सम्मति के बिना ही दवाइयां दी थीं। मैंने इस झूठे आरोप की शिकायत माताजी

को की। उन्होंने कहा, "तुम अपने-आप ही एक लेख क्यों नहीं लिखते? मैंने एक छोटी पुस्तिका लिखी। उसकी पाण्डुलिपि माताजी को सुनायी गयी। वे उसके लिए एक शीर्षक का सुझाव देने को तैयार थीं कि मैंने मूर्खतावश हस्तक्षेप किया और कहा कि मैंने उसे यह नाम दिया है, "मैं यहां हूं, मैं यहां हूं।" उन्होंने उत्तर दिया, "ओह, तब ठीक है।" उन्हें यह पुस्तिका केवल अच्छी ही नहीं लगी बल्कि अमल की पुस्तिका "श्रीअरविन्द का प्रस्थान" के साथ-साथ मेरी पुस्तिका भी उन्होंने आश्रमवासियों को दी। इस तरह उनकी प्रेरणा से उत्साहित होकर मैंने अपनी पहली गद्य-रचना लिखी और वह पुस्तक मई १९५१ में प्रकाशित भी हुई। फिर मैंने श्रीअरविन्द के साथ अपने पत्र-व्यवहार को पुस्तक-रूप में प्रकाशित करना चाहा। पहले माताजी ने मेरे इस विचार को सम्मति नहीं दी; उन्होंने कहा कि वे चिट्ठियां व्यक्तिगत थीं और केवल मेरे लिए ही अर्थ रखती थीं। उसे सार्वजनिक सम्पत्ति कैसे बना दिया जाये? जब मैंने उन्हें उत्तर दिया कि ऐसी कई चिट्ठियां हैं जिनमें लोगों को रस हो सकता है तब उन्होंने सम्मति दे दी। उन्हें सचमुच पता ही नहीं था कि उन चिट्ठियों में क्या था क्योंकि श्रीअरविन्द ने माताजी को केवल वे ही चिट्ठियां सुनायी थीं जो व्यावहारिक थीं। मैंने संकलन का काम आरम्भ किया तो पाया कि काम कम जटिल न था और साथ-साथ उबाऊ भी था। सौभाग्यवश, आलब्लेस, एक पारसी मित्र, जो आश्रमवासी था और अमल की पत्रिका 'मदर इंडिया' के सम्पादन में भी उनका सहायक था, उसने मेरे काम में हाथ बंटाया और पुस्तक का प्रकाशन हो पाया। मुश्किल यह थी कि उसका स्वभाव थोड़ा अति-नैतिक था और वह श्रीअरविन्द की भाषा में किसी भी प्रकार की चंचलता, विनोदशीलता या अपशब्द को दिन के प्रकाश में लाना न चाहता था। इतना ही नहीं, वह मेरी किसी कमजोरी को भी प्रकाश में

लाकर मेरे जैसे 'पुराने साधक' की मानहानि नहीं चाहता था! जब कभी हम दोनों की राय किसी बात पर न मिलती तो माताजी को समझौता कराना पड़ता था।

श्रीअरविन्द के प्रस्थान के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण विषय था माताजी का आश्रम से सम्बन्ध का। यह प्रमाणित करना था कि माताजी सारे आश्रम का निर्देशन कर रही थीं और अब भी वे आश्रम की सर्वेसर्वा हैं। एक दस्तावेज तैयार किया गया और माताजी के द्वारा चुने हुए आश्रमवासियों को शहर के नोटरी की उपस्थिति में उस दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने थे। मैंने भी उस पर हस्ताक्षर किये थे।

कई महीनों बाद माताजी ने श्रीअरविन्द के प्रतीक को सोने में ढलवा कर कई अंगूठियां बनवायीं। प्रतीक के बीच में उन्होंने श्रीअरविन्द का फोटो भी लगवाया। उन्होंने अपने-आप ये अंगूठियां कई साधकों की उंगली में पहनायीं। मैं भी उनमें से एक था। एक दिन माताजी स्नान करके निकलीं और गलियारे में ही खड़े-खड़े उन्होंने मुझे पुकारा; मैं तुरन्त आया और मेरे बांयें हाथ की अनामिका में उन्होंने सोने की एक अंगूठी सरका दी। इतना अद्‌भुत अनुभव था कि मैं स्तब्ध रह गया, कुछ कह नहीं पाया। केवल उनके चरण स्पर्श करके चला आया।

कुछ वर्ष बाद मेरा दुर्भाग्य ऐसा निकला कि मैंने अंगूठी खो दी। सच बात तो यह है कि मेरे नौकर ने उसे चुरा लिया था। मैंने माताजी को यह बात बतलायी तो उन्होंने गम्भीरता से सुनकर मुझसे पूछा कि यह हुआ कैसे? मैंने पूरी बात सुनाकर उनसे पूछा कि क्या पुलिस को बुलाया जाये? उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं! इससे बाद में बड़ी मुसीबत होगी।" माताजी कभी भी पुलिस की सहायता नहीं चाहती थीं। न ही वे हमारे निजी मामलों में अदालत जाना चाहती थीं। अपनी दुगुनी बहुमूल्य अंगूठी के अभाव को मैं कभी भूल नहीं पाता।

—नीरदवरण

'श्रीमां के वचन':

धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति

२९ फरवरी १९५६

बुधवार के सामान्य ध्यान के समय

आज की शाम, ठोस, और भौतिक, भागवत उपस्थिति तुम्हारे बीच उपस्थित थी। मेरा आकार जीवन्त स्वर्ण का था जो विश्व से बड़ा था, और मैं एक विशाल और ठोस सोने के दरवाजे के सामने खड़ी थी जो जगत् को भगवान् से अलग करता था।

जैसे ही मैंने दरवाजे की ओर देखा, मैंने चेतना की एक ही गति में जाना और संकल्प किया कि **"समय आ गया है"**, और दोनों हाथों से एक बहुत बड़े सोने के हथौड़े को उठाकर मैंने एक प्रहार किया, दरवाजे पर एक ही प्रहार किया और दरवाजा चूर-चूर हो गया।

तब धरती पर अतिमानसिक 'प्रकाश', 'शक्ति' और 'चेतना' अबाध गति से बह निकलीं।

*

१९५६

२९ फरवरी—२९ मार्च

प्रभु, तूने चाहा और मैंने चरितार्थ किया;
धरती पर एक नया प्रकाश फूट रहा है।
एक नया जगत् जन्म ले चुका है।
जिन चीजों के लिए वचन दिया गया था वे चरितार्थ हो गयी हैं।

महान् संक्रमण-काल

नये जगत् का जन्म

हां तो, मैंने तुम लोगों के सामने यह घोषणा की थी कि नया संसार जन्म ले चुका है। परन्तु यह पुराने संसार के भंवर-जाल में इतना अधिक निमग्न था कि अब तक बहुतों को भेद का कुछ खास पता नहीं लगता। फिर भी नयी शक्तियों का कार्य अत्यन्त नियमित रूप से, अत्यन्त धीर-स्थिर रूप में, अत्यन्त दृढ़ रूप में और एक हदतक अत्यन्त प्रभावशाली रूप में चल रहा है।...

पहली बात तो यह है कि **यह आध्यात्मिक जीवन और दिव्य सद्वस्तु का केवल एक 'नया विचार' मात्र नहीं है**।... पुरानी आध्यात्मिकता का मतलब था जीवन से भाग कर दिव्य सद्वस्तु में चले जाना और संसार को वहीं और उसी रूप में छोड़ देना जहां और जिस रूप में वह था, जब कि, इसके विपरीत, हमारी नयी दृष्टि का स्वरूप है जीवन को दिव्य बनाना, भौतिक जगत् को दिव्य जगत् में रूपान्तरित करना। यह पहले कहा जा चुका है, बार-बार कहा जा चुका है, बल्कि थोड़ा-बहुत समझा भी जा चुका है, और निश्चय ही यही उस कार्य का आधारभूत विचार है जिसे हम करना चाहते हैं। परन्तु यह ऐसे भी हो सकता था कि उन्नति और विस्तार के साथ पुराना जगत् ही बना रहता—और जब तक यह धारणा विचार के क्षेत्र में मौजूद है, वस्तुतः यह उससे भिन्न चीज नहीं हो सकती—परन्तु **जो चीज हुई है, सचमुच में नयी चीज**, वह यह है कि एक नया संसार **जन्मा** है, **जन्मा** है, **जन्मा** है। यह रूपान्तरित होता हुआ पुराना संसार नहीं है, बल्कि यह एक **नया** संसार है जो **जन्मा** है। और हम ठीक उस काल में हैं जो संक्रमण का काल है जहां दोनों एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं—जहां दूसरा अभी सर्वशक्तिमान्

बना हुआ है और साधारण चेतना को पूरी तरह शासित करता है, पर जहां नया भी चुपके-से घुस आता है, बहुत नम्र बने रहकर और बिना पता लगे—इसका पता इस हदतक नहीं लग पाता कि बाहरी रूप में यह अभी तक अधिक उलट-फेर नहीं कर रहा और अधिकतर लोगों की चेतना के लिए एकदम अलक्ष्य है। फिर भी यह कार्यरत है और बढ़ रहा है—समय आयेगा जब यह इतना प्रबल हो जायेगा कि दृश्य रूप में भी अपने-आपको प्रतिष्ठित कर लेगा।...

हम उस वेला में उपस्थित हैं जब नया जगत् जन्म ले रहा है, पर जो बहुत छोटा है, दुर्बल है—अपने सार-रूप में नहीं बल्कि बाह्य अभिव्यक्ति में—जो अभी पहचाना नहीं गया, अनुभव नहीं किया गया, और बहुतों ने तो उसे अस्वीकार ही कर दिया है। पर यह मौजूद है। मौजूद है और बढ़ने का प्रयत्न भी कर रहा है तथा परिणाम के बारे में भी **सुनिश्चित** है। लेकिन इस तक पहुंचने वाला पथ बिलकुल नया पथ है जिस पर अब तक कोई नहीं चला —कोई नहीं गया, किसी ने अभी तक ऐसा नहीं किया! यह आरम्भ है, **एक विश्वव्यापी आरम्भ**। इसलिए यह एक बिलकुल अप्रत्याशित और अकल्पनीय अभियान है।

कुछ लोगों को अभियान प्रिय होते हैं। उन्हीं लोगों का मैं आह्वान कर रही हूं और उनसे यह कहती हूं : "मैं तुम्हें इस महान् अभियान के लिए निमन्त्रित करती हूं।"

यह आध्यात्मिक रूप से उन्हीं कार्यों को, जिन्हें दूसरे हमसे पहले कर चुके हैं, दुबारा करने का प्रश्न नहीं है, क्योंकि हमारा अभियान उससे आगे से शुरू होता है, यह नयी सृष्टि का, बिलकुल नयी सृष्टि का प्रश्न है जिसमें सब अनपेक्षित चीजें, संकट, खतरे एवं संयोग मौजूद हैं—यह **सच्चे रूप में एक अभियान है**। इसका लक्ष्य है सुनिश्चित विजय, पर वहां जाने का मार्ग अज्ञात है, इसे बीहड़ प्रदेश

में पग-पग पर खोजना होगा। यह एक ऐसी बात है जो इस वर्तमान जगत् में इससे पहले कभी नहीं हुई और इसी रूप में फिर **कभी होगी भी नहीं**। यदि तुम्हें इसमें रुचि हो...। हां तो, हम चल पड़ें। कल तुम्हारे साथ क्या होगा—इस बारे में मैं कुछ नहीं जानती।

उस सबको एक तरफ रख दो जो पहले देखा जा चुका है, सोचा जा चुका है, बनाया जा चुका है और तब... अज्ञात में चलना शुरू करो। जो होना है, हुआ करे!

*

मुझे तुम्हें यह अवश्य बता देना चाहिये कि फिलहाल हमारे जगत् और अतिमानसिक जगत् के बीच जो सबसे प्रधान अन्तर मुझे लगता है वह यह है—और यह अन्तर अपनी सारी अतिशयता के साथ मेरे सामने तभी प्रकट हुआ जब मैं वहां सचेतन होकर गयी, उस चेतना के साथ गयी जो सामान्यतया यहां काम करती है—कि भीतर, बहुत गहराई में जो कुछ हो रहा है उसे छोड़कर बाकी सब कुछ यहां बिलकुल बनावटी है। साधारण भौतिक जीवन का कोई भी मूल्य सत्य पर आधारित नहीं है। जैसे तन ढकने के लिए हम कुछ कपड़ा लेने को मजबूर होते हैं और जब उसे पहनना चाहें तो पोशाकें सीते हैं, वैसे ही खाने के लिए हमें बाहर से चीजें लेने की जरूरत पड़ती है और पोषण के लिए उन्हें उदरस्थ करना पड़ता है। हर तरह से हमारा जीवन बनावटी है। ...

वैश्व देवताओं और अतिमानव का जगत्

श्रीअरविन्द का काम है धरती का अद्भुत रूपान्तर।

मन के ऊपर सचेतन सत्ता के कई स्तर हैं, उनमें वास्तविक दिव्य जगत् वह है जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं, यह 'सत्य'

का जगत् है। लेकिन बीच में वैश्व देवताओं का जगत् है जिसे श्रीअरविन्द अधिमानस कहते हैं। अभीतक हमारे संसार पर अधिमानस का राज्य रहा है : ज्योतिर्मयी चेतना में यही सबसे ऊंचा स्तर है जहांतक मनुष्य पहुंच पाया है। इसी को परम प्रभु मान लिया गया और जो लोग वहां पहुंचे उन्होंने क्षण-भर के लिए भी उसके परम सत्य चेतना होने में शंका नहीं की। क्योंकि, साधारण मानव चेतना के लिए उसकी भव्यता और उसकी दीप्तियां इतनी महान् हैं कि वह उन्हें देखकर चौंधिया जाता है और मान लेता है कि आखिर यही सत्य का शिखर है। लेकिन तथ्य यह है कि अधिमानस सच्चे भगवान् से बहुत नीचे है। वह 'सत्य' का स्वधाम नहीं है। वह केवल निर्माताओं का और उन सर्जक शक्तियों और देवों का लोक है जिनके आगे लोग इतिहास के आरम्भ से झुकते आये। और वास्तविक भगवान् के अभिव्यक्त न होने और पार्थिव प्रकृति को रूपान्तरित न करने का कारण ठीक यही है कि अधिमानस को अतिमानस माना गया है। वैश्व देवता पूरी तरह 'सत्य चेतना' में नहीं रहते : वे उसके साथ सम्पर्क में होते हैं और उनमें से हर एक उसकी महिमा के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

निःसन्देह, जगत् के इतिहास में अतिमानस ने भी क्रिया की है, परन्तु हमेशा की है अधिमानस के द्वारा ही। जीवन को 'आत्मा' के अर्थों में केवल अतिमानसिक चेतना और शक्ति का अवतरण ही पूरी तरह से नया रूप दे सकता है क्योंकि, अधिमानस में सम्भावनाओं का खेल शुरू हो जाता है जो मन, प्राण और जड़ के निचले गोलार्ध का आरम्भ है जिसमें हम रहते हैं। और जहां कहीं सहज सत्य और आत्मा की स्वाभाविक अमोघ क्रिया नहीं बल्कि यह खेल होता है वहीं विकृति और अविद्या का बीज होता है। अधिमानस अविद्या का क्षेत्र नहीं है, लेकिन वह उच्च और निम्न के बीच की सीमा-रेखा है;

क्योंकि, सम्भावनाओं की लीला अभीतक विभक्त न सही, पृथक् चुनाव की सम्भावना वस्तुओं के सत्य से भटकने को सम्भव बना देती है।

इसलिए, अधिमानस में मानव को दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित करने की क्षमता न तो हो सकती है, न है। उसके लिए, अतिमानस ही एकमात्र साधन है। जो चीज प्राचीन काल के जीवन को आध्यात्मिक बनाने के प्रयासों से हमारे योग को अलग करती है वह यही है कि हम जानते हैं कि अधिमानस की दीप्तियां उच्चतम सत्य नहीं, मन और सच्चे भगवान् के मध्य केवल बीच का कदम हैं।

धरती पर अतिमानसिक क्रिया

निश्चय ही यह वही चीज है जिसकी श्रीअरविन्द हमसे आशा करते थे और जिसकी उन्होंने एक ऐसे अतिमानव के रूप में कल्पना की थी, जो वर्तमान मानव और अतिमानव के बीच एक मध्यवर्ती सत्ता होगा, उस अतिमानव के जो अतिमानसिक तरीके से निर्मित होगा, जो पशु की श्रेणी में बिलकुल न रहेगा और जो पशुजीवन-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं से मुक्त होगा।

हम लोग, जैसे अब हैं, सामान्य पशु-प्रणाली से उत्पन्न हुए हैं और परिणामतः यदि हम अपने-आपको रूपान्तरित कर भी लें तब भी हममें पशु-उद्गम का कुछ-न-कुछ अंश बचा ही रहेगा। पर श्रीअरविन्द की दृष्टि का अतिमानव साधारण पशु-पद्धति से जन्म **हर्गिज** नहीं लेगा, बल्कि वह सीधा, एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा निर्मित होगा जो अभी तक हमें गुह्य प्रतीत होती है, पर जो शक्तियों और उपादान का एक ऐसा प्रयोग होगी जिससे शरीर साधारण पशु-

विधान के अनुसार की गयी रचना न होकर 'भौतिकीकरण' होगा।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि मध्यवर्ती सत्ताओं का होना जरूरी है, और यह भी कि इन्हीं मध्यवर्ती सत्ताओं को ही उन साधनों को खोजना होगा जो अतिमानस की सत्ताओं को रूपायित कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीअरविन्द ने जब यह लिखा था तो उनका विश्वास था कि इसी कार्य को हमें करना है।

मैं सोचती हूं—मैं जानती हूं—कि अब यह सुनिश्चित है कि हम उस चीज को पा लेंगे जिसकी उन्होंने हमसे आशा की है। अब यह आशा मात्र नहीं रही, बल्कि एक निश्चयता हो गयी है। अब केवल समय की बात है जो इस उपलब्धि के लिए जरूरी है और वह हमारे व्यक्तिगत प्रयत्न, हमारी एकाग्रता और हमारी सद्‌भावना के... और उस महत्त्व के अनुसार जो हम इस तथ्य को देते हैं, कम या अधिक लम्बा होगा। अन्यमनस्क दर्शक को चीजें बहुत कुछ वैसी ही लग सकती हैं जैसी वे पहले थीं, पर जो देखना जानता है और बाह्य प्रतीतियों द्वारा भ्रान्त नहीं होता उसके लिए चीजें ठीक चल रही हैं।

प्रत्येक अपना अधिकतम प्रयत्न करता चले तो शायद सबके लिए पहले प्रत्यक्ष परिणामों के दृष्टिगत होने में बहुत अधिक वर्षों के बीतने की जरूरत न होगी।

यह देखना तुम्हारा काम है कि यह कार्य तुम्हें संसार की अन्य सब वस्तुओं से अधिक रोचक लगता है या नहीं...। एक समय होता है जब स्वयं शरीर अनुभव करने लगता है कि इसके समान, इस रूपान्तर के समान **संसार की कोई चीज नहीं है** जिसके लिए जीवन धारण किया जाये, ऐसी कोई चीज नहीं जिसके लिए इतनी तीव्र अभिरुचि हो सके जितनी रूपान्तर के लिए तीव्र अभिरुचि। ऐसा प्रतीत होता है मानों शरीर के सब कोषाणु उस 'प्रकाश' के

प्यासे हैं जो व्यक्त होना चाहता है, उसको पुकारते हैं, उसमें एक गभीर आनन्द पाते हैं और 'विजय' के बारे में **सुनिश्चित** हैं।

इसी अभीप्सा को मैं तुम्हारे अन्दर संचारित करने की कोशिश कर रही हूं और तुम समझ जाओगे कि इस कार्य की तुलना में, 'प्रकाश' में रूपान्तरित होने की तुलना में जीवन का और सब कुछ नीरस, निःसार, निरर्थक और बेकार है।

शक्तियों का संघर्ष और विरोध

एक चीज बहुत स्पष्ट मालूम होती है, मानवजाति इतनी अधिक अतिक्रियाशीलता और व्यापक संत्रास के कारण आम तनाव—प्रयास में तनाव, कर्म में तनाव, यहां तक कि दैनिक जीवन में तनाव—की एक खास अवस्था तक आ पहुंची है कि लगता है मानों पूरा मानव-समूह उस बिन्दु पर आ गया है जहां या तो यह प्रतिरोध से टूट-फूट जाये और एक नयी चेतना में उभर आये या फिर से अन्धकार और तमस् की खाई में जा गिरे।

यह तनाव इतना पूर्ण और व्यापक है कि, स्पष्ट ही, कहीं कुछ-न-कुछ तोड़ना ही पड़ेगा। यह इसी तरह चलता नहीं रह सकता। इसे जड़-पदार्थ में बल, चेतना और शक्ति के नये तत्त्व के अवमिश्रण का निश्चित संकेत माना जा सकता है जो अपने दबाव से ही यह विकट स्थिति उत्पन्न कर रहा है। बाहरी तौर पर उन्हीं पुराने साधनों की आशा की जा सकती है जिनका उपयोग प्रकृति उथल-पुथल मचाने के लिए किया करती है; लेकिन एक नया गुण है जिसे सिर्फ श्रेष्ठ-वर्ग में ही देखा जा सकता है, पर यह श्रेष्ठ-वर्ग भी काफी फैला हुआ है—एक ही बिन्दु पर, दुनिया में एक ही जगह पर केन्द्रित नहीं है। दुनिया में सब जगह, सब देशों में इसकी विद्यमानता के संकेत मिलते हैं : नया, उच्चतर, उत्तरोत्तर प्रगतिशील समाधान पाने

की प्रबल इच्छा, एक विशालतर, अधिक सर्वतोमुखी पूर्णता की ओर उठने का प्रयत्न।

अमुक अधिक सामान्य, अधिक व्यापक और शायद अधिक "समूहगत" विचार भी विकसित हो रहे हैं और जगत् में काम कर रहे हैं। दो चीजें एक हो रही हैं : एक अधिक विशाल और अधिक समूचे विनाश की सम्भावना, अनर्थ की सम्भावना को बेतहाशा बढ़ाता हुआ एक आविष्कार, ऐसा महा-विध्वंस जैसा पहले कभी नहीं हुआ; दूसरी ओर, साथ-ही-साथ ऐसे कहीं अधिक उच्च और व्यापक विचारों और संकल्प के प्रयासों का जन्म, बल्कि आविर्भाव जिनकी सुनवायी होने पर वे अपने साथ पहले से अधिक विस्तृत, अधिक विशाल, अधिक सर्वांग और अधिक पूर्ण उपचार लायेंगे।

अधिकाधिक दिव्य उपलब्धि की ओर ऊपर चढ़ते हुए विकास की रचनात्मक शक्तियों और अधिकाधिक विनाशकारी, सशक्त रूप से विध्वंसकारी, एकदम से बेलगाम, पागल शक्तियों के बीच संघर्ष और विरोध अधिकाधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में दिखायी दे रहा है, यह एक तरह की दौड़ या प्रतियोगिता है कि देखें, लक्ष्य तक पहले कौन पहुंचेगा। ऐसा लगता है कि सभी विरोधी, भगवद्-विरोधी शक्तियां, प्राण-जगत् की शक्तियां धरा पर उतर आयी हैं, और इसे अपनी कर्म-भूमि बना रही हैं, साथ-ही-साथ इस पर एक नया जीवन लाने के लिए एक नयी, उच्चतर, अधिक बलशाली आध्यात्मिक शक्ति भी धरा पर उतरी है। इससे संघर्ष विकटतर, उग्रतर और अधिक दृष्टिगोचर हो उठता है, लेकिन साथ ही अधिक निर्णयात्मक भी लगता है। इसीलिए शीघ्र ही समाधान पा जाने की आशा की जा सकती है।

रूपान्तर

एक समय था, बहुत पहले की बात नहीं, जब मनुष्य की आध्यात्मिक अभीप्सा दुनिया की सब चीजों से निर्लिप्त, जीवन से पलायन या ठीक-ठीक कहें तो युद्ध से कतराने के लिए, संघर्ष से ऊपर उठने के लिए, सारे प्रयास से बचने के लिए एक नीरव, निष्क्रिय शान्ति की ओर मुड़ी हुई थी। यह एक आध्यात्मिक शान्ति थी जिसमें सब तनाव, संघर्ष और प्रयासों की समाप्ति के साथ-साथ सब तरह के दुःख-कष्ट भी समाप्त हो जाते थे और आध्यात्मिक एवं दिव्य जीवन के लिए इसे ही एकमात्र और सच्ची अभिव्यक्ति माना जाता था। इसे ही भागवत कृपा, भागवत सहायता, भागवत हस्तक्षेप समझा जाता था। और अब भी, वेदना, तनाव, अति-तनाव के इस युग में भी, सब सहायताओं में यह परम शान्ति ही सबसे अच्छी तरह ग्रहण की जाती है और स्वागत-सत्कार पाती है। यही वह सुख है जिसकी मांग की जाती है, जिसकी आशा की जाती है, अभी तक अनेकों के लिए यही भागवत हस्तक्षेप और भागवत कृपा का सच्चा संकेत है।

वास्तव में, व्यक्ति चाहे कुछ भी पाना चाहे, उसे आरम्भ इस पूर्ण और निर्विकार शान्ति की स्थापना से ही करना चाहिये, यही वह आधार है जिससे मनुष्य को काम करना है; लेकिन यदि कोई ऐकान्तिक, निजी, अहंजन्य मुक्ति के ही सपने न लेता हो तो वह इसी से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भागवत कृपा का एक दूसरा पहलू भी है—प्रगति का पहलू, जो सब बाधाओं पर विजयी होगा, वह पहलू जो मानवजाति को नयी उपलब्धि की ओर आगे बढ़ायेगा, एक नयी दुनिया के द्वार खोल देगा और केवल इने-गिने लोगों के लिए ही इस दिव्य उपलब्धि से लाभ उठाना सम्भव न बनायेगा, बल्कि उनके प्रभाव, दृष्टान्त और बल द्वारा शेष मानवजाति के

लिए भी नयी और अधिक अच्छी अवस्थाएं खोल देगा।

यह अवस्था भविष्य में उपलब्धि के मार्ग को, उन सम्भावनाओं को, जो पहले देखी जा चुकी हैं, खोल देती है, जब मानवजाति का एक पूरा भाग, वह समूचा भाग जो नयी शक्तियों की ओर सचेतन या अचेतन रूप से खुल गया है, एक उच्चतर, अधिक सामंजस्यमय, पूर्णतर जीवन की ओर उठाया जायेगा...। यदि व्यक्तिगत रूपान्तर सदा अनुज्ञेय या सम्भव न हो, फिर भी समूह का एक तरह का उन्नयन, सच्चा सामंजस्य होगा जो नयी व्यवस्था और नये सामंजस्य की स्थापना को सम्भव बना देगा, और अव्यवस्था की यातनाओं और वर्तमान संघर्षों को दूर करके उनकी जगह समष्टि के सामंजस्य-मय कार्य के लिए व्यवस्था ला देगा।

जीवन में मन के हस्तक्षेप से जो विकार, कुरूपता और विकृतियों की राशि जमा हो गयी है, जिसने दुःख-कष्ट, नैतिक दारिद्र्य एवं कुत्सित और घृणित दुःखों के पूरे प्रदेश को बढ़ा दिया है, जिसने मनुष्य जीवन के एक पूरे भाग को ऐसा भयावह बना दिया है, उन सबको उनके विपरीत साधनों द्वारा दूर करने के लिए उनके परिणाम प्रवृत्त होंगे। सचमुच, उसे दूर होना ही चाहिये। यही वह चीज है जो कई बातों में मानवजाति को पशु-जीवन की सरलता और सब कुछ के बावजूद नैसर्गिक सहजता और सामंजस्य की तुलना में अनन्तगुना बदतर बनाती है। पशुओं का दुःख-दर्द कभी इतना दयनीय व कुत्सित नहीं होता जितना कि मानवजाति के एक पूरे भाग का, जो एकमात्र अहंमूलक आवश्यकताओं के काम में लगी मनोवृत्ति द्वारा विकृत हो गया है।

हमें या तो ऊपर उठना होगा, 'ज्योति' और 'सामंजस्य' में छलांग लगानी होगी, या स्वस्थ और अधिकृत पशु-जीवन की सरलता में वापिस जा गिरना होगा।

बाद में श्रीमां ने यह जोड़ दिया था—

मानवजाति का वह भाग, मानव चेतना का वह भाग, जिसमें अतिमानस के साथ एकाकार होने की और अपने को मुक्त करने की क्षमता है, वह पूर्णतः रूपान्तरित हो जायेगा—वह एक भावी सत्य की ओर बढ़ रहा है जो अभी बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ है; वह भाग जो प्रकृति के, पशु की सरलता के बिलकुल निकट है, प्रकृति में पुनः घुल-मिल जायेगा और घनिष्ठ रूप में आत्मसात् कर लिया जायेगा। लेकिन मानव चेतना का वह कलुषित भाग उन्मूलित हो जायेगा जो अपने मन के गलत उपयोग के कारण विकृति की ओर ले जाता है...।

*

तुम्हें दिलासा देने के लिए मैं इतना कह सकती हूं कि तुम्हारे इस समय धरती पर जीने के तथ्य-भर से—चाहे तुम इसके बारे में सचेतन होओ या नहीं, चाहे तुम इसे चाहो या नहीं—तुम हर सांस के साथ इस नये अतिमानसिक तत्त्व को आत्मसात् कर रहे हो, जो इस समय पार्थिव वायुमण्डल में फैल रहा है। और वह तुम्हारे अन्दर उन वस्तुओं को तैयार कर रहा है जो तुम्हारे निर्णायक कदम उठाते ही **एकदम एकाएक** अभिव्यक्त हो जायेंगी।

*

जो लोग आन्तरिक रूप से तैयार हैं, जो खुले हुए हैं और उच्चतर शक्तियों के सम्पर्क में हैं, जिन लोगों को न्यूनाधिक रूप से अतिमानसिक 'ज्योति' और चेतना का सीधा व्यक्तिगत सम्पर्क प्राप्त हो चुका है वे पार्थिव वातावरण में उत्पन्न अन्तर को अनुभव करने में सक्षम हैं।

परन्तु उसके लिए... केवल सजातीय ही सजातीय को पहचान सकता है, व्यक्ति के अन्दर विद्यमान अतिमानसिक चेतना ही पार्थिव वातावरण में क्रियाशील अतिमानस के विषय में अवगत हो सकती है। जिन लोगों ने, किसी-न-किसी कारणवश, इस दर्शन-शक्ति को विकसित कर लिया है वे इसे देख सकते हैं। परन्तु जो लोग किसी मामूली-सी आन्तरिक वस्तु के विषय में भी सचेतन नहीं हैं, और जो अपनी अन्तरात्मा के विषय में कुछ भी कहने में एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, ऐसे लोग निश्चय ही पार्थिव वातावरण में उत्पन्न भेद को समझ सकने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें इसके लिए अभी बहुत लम्बा रास्ता तय करना होगा। कारण, जिन लोगों की चेतना कम या अधिक ऐकान्तिक रूप से बाह्य सत्ता पर—मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता पर—केन्द्रित होती है, उनके लिए वस्तुओं को एक ऊट-पटांग और अप्रत्याशित रूप ग्रहण करने की आवश्यकता होती है और तभी वे उन्हें स्वीकार कर पाते हैं। तब वे उन्हें चमत्कार कहते हैं।

परन्तु जब शक्तियों के हस्तक्षेप का यह चमत्कार निरन्तर होता रहता है जो परिस्थितियों तथा अवस्थाओं को बदल देता है और जिसका परिणाम बहुत व्यापक होता है, इसे वे चमत्कार नहीं कहते, क्योंकि सिर्फ बाहरी रूप मात्र ही दिखायी देता है और यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु, सच पूछा जाये तो, छोटी-से-छोटी वस्तु जो होती है उस पर यदि तुम विचार करो तो तुम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होओगे कि यह चमत्कारपूर्ण है।

चूंकि तुम उस पर विचार नहीं करते केवल इसीलिए तुम चीजों को उस रूप में लेते हो जैसी कि वे हैं, जिस लिए कि वे हैं, बिना किसी शंका-सन्देह के; अन्यथा प्रत्येक दिन तुम्हें अपने-आपसे यह कहने के अनगिनत अवसर प्राप्त होते कि : "सचमुच, यह तो बिलकुल

आश्चर्यजनक है! यह कैसे हुआ?"

बिलकुल सीधे तौर पर, यह विशुद्धतः ऊपरी तौर पर देखने की एक आदत है।

नयी चेतना और हमारी मानवता

मनुष्य अहंकार छोड़ने के लिए तैयार नहीं है।

जब तक तुम अपने तुच्छ व्यक्तिगत अहं में निवास करते हो तब तक कभी ऐसा कार्य नहीं कर सकते, ऐसी छलांग नहीं भर सकते जो तुम्हें भगवान् के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के योग्य बनाये।

इस अवसर पर मैं तुम्हें एक बात बतला सकती हूं : बहुत पहले यहां ऐसे लोग थे जो यह समझ कर आये थे कि आश्रम में भर्ती हो जाना ही अमर होने के लिए काफी है। और उन्होंने अमर होने के लिए बहुत अभीप्सा की। वे ऐसे बूढ़े थे जिन्हें अपने सम्मुख बहुत लम्बा रास्ता नहीं दिखायी पड़ता था और जो उसे असीम रूप से लम्बा बनाने की इच्छा करते थे। कारण, यही चीज है जिसे मनुष्य "अमरता" के नाम से जानते हैं—वे जो कुछ हैं बस उसे ही अनन्त काल तक बनाये रहें। अतएव, जिस व्यक्ति ने सबसे पहले यह मत प्रकट किया उसे मैंने उत्तर दिया—"मैं नहीं जानती कि प्रत्येक मनुष्य अमर बन सकता है या नहीं—सम्भवतः नहीं—परन्तु जिन लोगों में अमर होने की क्षमता है उनमें से भी कितने लोग ऐसे हैं जो उसका मूल्य चुकाने के लिए प्रस्तुत हैं?" क्योंकि, उसके लिए जिन चीजों का त्याग करना जरूरी है उनकी संख्या इतनी अधिक है कि शायद आधे रास्ते तक आकर वे कह उठेंगे : "ओह! नहीं, मूल्य बहुत अधिक है।" मुझे एक चित्रकार की बात याद है जिससे

अमरत्व की सम्भावना के सम्बन्ध में मेरी बातचीत हुई थी। उसने मुझसे पूछा—"नया जगत् किस तरह का होगा?" मैंने उससे कहा—"उदाहरण के रूप में, वस्तुएं स्वयं अपने-आपमें ज्योतिर्मय होंगी और जैसे सूर्य से पृथ्वी पर प्रतिफलित ज्योति आती है उस तरह की फिर कोई ज्योति नहीं होगी।" जिस समय मैं उससे यह बात कह रही थी, मैंने देखा कि उसका चेहरा अधिकाधिक लम्बा, अधिकाधिक गम्भीर होता जा रहा था; अन्त में वह बोला, "परन्तु उस समय मनुष्य छाया के अभाव में चित्रकारी कैसे कर सकेगा? छाया ही तो वस्तुओं की ज्योति को स्पष्ट प्रकट करती है।"... मैंने उससे कहा—"आपने समस्या की ठीक चाबी प्रदान की है।"

बहुतेरे, बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं जो पूछते हैं कि नया जीवन कैसा होगा और मैं उन्हें उत्तर देती हूं, "उस समय शक्तियों में परस्पर आदान-प्रदान होगा, निरन्तर प्रवाहित होने वाली एक शक्ति होगी, शरीर की रचना बिलकुल दूसरे ढंग की होगी, ये सब कदाकार अंग विलीन हो जायेंगे और उनका स्थान मनोवैज्ञानिक क्रियाएं ले लेंगी तथा खाने की, सदा खाते रहने की आवश्यकता दूर हो जायेगी।" एक बार फिर मैंने लम्बे होते हुए चेहरे देखे! लोगों ने कहा—"ओह! जो सब अच्छी चीजें हम खाते हैं वे सब नहीं रहेंगी!"

ये सब छोटे-छोटे उदाहरण हैं, ऐसे दूसरे बहुतेरे उदाहरण हैं, और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, सबसे अधिक कठिन चीज है अहंकार का त्याग। जो व्यक्ति इसके लिए तैयार नहीं है उसके लिए यह मृत्यु के ही समान है और ऐसी मृत्यु के समान है जो शारीरिक मृत्यु से बहुत अधिक है, क्योंकि उनके लिए अहंकार की मृत्यु ठीक अस्तित्व के ही विलीन हो जाने के समान है—वैसे यह बात सही नहीं है पर वह आरम्भ में ऐसी ही छाप डालती है। अमर होने के लिए मनुष्य को समस्त सीमाबन्धनों

का परित्याग करना होगा और अहं ही सबसे बड़ा सीमाबन्धन है; अतएव, यदि "मैं" अमर नहीं हूं तो उससे भला क्या लाभ?

अगर मनुष्य आध्यात्मिक होने के लिए सहमत हो जाये

आखिर सारी समस्या यह जानने की है कि मानवता शुद्ध सोने की अवस्था में पहुंच गयी है या अब भी इसे कुठाली में परखने की जरूरत है।

एक चीज स्पष्ट है कि मानवता अभी तक शुद्ध सोना नहीं बनी है, यह स्पष्ट और निश्चित है।

परन्तु संसार के इतिहास में कुछ ऐसी बात हो गयी है जो यह आशा बंधाती है कि मानवता में कुछ गिने-चुने, थोड़े-से व्यक्ति शायद शुद्ध सोने में बदलने के लिए तैयार हैं और ये बिना हिंसा के शक्ति को, बिना विनाश के वीरता को और बिना विध्वंस के साहस को अभिव्यक्त कर सकेंगे।

ठीक अगले ही परिच्छेद में श्रीअरविन्द इसका उत्तर देते हैं: "यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होने के लिए सहमत हो सके।" यदि व्यक्ति आध्यात्मिक होने के लिए बस, **सहमत हो जाये**... सहमत हो जाये।[१]

उसके अन्दर की कोई चीज इसे चाहती है, इसके लिए अभीप्सा करती है, परन्तु बाकी सारी सत्ता इन्कार करती है, वह-की-वही बनी रहना चाहती है : एक मिश्रित धातु, जिसे भट्टी में डालने की जरूरत है।

[१] "सब कुछ बदल जाये यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होने के लिए सहमत हो सके; परन्तु उसकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति उच्चतर विधान के प्रति विद्रोह करती है। वह अपनी अपूर्णताओं से प्यार करता है।"

हम इस समय फिर एक बार पृथ्वी के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ पर हैं, सब ओर से लोग मुझसे पूछ रहे हैं : "अब क्या होने वाला है?" हर जगह तीव्र व्यथा, प्रतीक्षा, भय की स्थिति है। "अब क्या होने वाला है?"... इसका उत्तर, बस एक ही है : "यदि मानव आध्यात्मिक होने के लिए बस, तैयार हो जाये।"

शायद इतना पर्याप्त हो कि कुछ व्यक्ति शुद्ध सोना बन जायें, क्योंकि यह उदाहरण घटनाचक्र को बदलने के लिए काफी होगा... यह आवश्यकता बहुत प्रबल रूप में हमारे सामने है।

वह साहस और वह वीरता, जिसकी भगवान् हमसे अपेक्षा रखते हैं, उसका उपयोग हम अपनी कठिनाइयों, अपूर्णताओं और मलिनताओं के विरुद्ध लड़ने में क्यों न करें? हम आन्तरिक शुद्धि की भट्टी का सामना वीरतापूर्वक क्यों न करें ताकि फिर एक बार उस भयानक और आसुरिक विनाश में से गुजरने की आवश्यकता ही न पड़े जो सारी सभ्यता को अन्धकार में डुबो देगा।

यही समस्या आज हमारे सामने है। हममें से प्रत्येक को इसे अपने ढंग से हल करना है।

इस समय मैं उन प्रश्नों का उत्तर दे रही हूं जो मुझसे पूछे गये हैं और मेरा उत्तर वही है जो श्रीअरविन्द का है।

यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होने के लिए सहमत हो सके...।

और इसके साथ मैं एक बात और जोड़ती हूं : समय दबाव डाल रहा है... मानवीय दृष्टिकोण से।

अतिमानस की ओर

एक असाधारण मोड़ : नयी जाति का आगमन

...क्योंकि हम असाधारण युग में, जगत् के इतिहास में एक असाधारण मोड़ पर जी रहे हैं। शायद इससे पहले संसार कभी आज के जैसे घृणा, रक्तपात और अस्तव्यस्तता के अंधेरे काल में से नहीं गुजरा। साथ ही यह भी ठीक है कि इससे पहले मनुष्यों के हृदयों में इतनी प्रबल और इतनी उत्साहपूर्ण आशा भी कभी नहीं जागी। निःसन्देह, अगर हम अपने हृदय की आवाज को सुनें तो तुरन्त पता चल जायेगा कि हम न्यूनाधिक सचेतन रूप से, न्याय, सौन्दर्य, सामंजस्य-पूर्ण सद्भावना और भाईचारे के नये राज्य की प्रतीक्षा कर रहे हैं, और यह बहुत बड़ा विरोधाभास मालूम होता है, क्योंकि ये चीजें आज के संसार की स्थिति से एकदम उल्टी हैं। लेकिन हम सबको मालूम है कि प्रभात से पहले रात्रि सबसे अधिक अंधेरी होती है। तो यह अंधेरा आती हुई उषा की सूचना तो नहीं दे रहा? अभी तक रात कभी इतनी अंधेरी और भयावह नहीं हुई, इसलिए शायद आने वाला प्रभात भी बहुत अधिक ज्योतिर्मय, बहुत पवित्र और उज्ज्वल हो। रात के दुःस्वप्नों के बाद जगत् एक नयी चेतना में जागेगा।

जिस सभ्यता का आज ऐसे नाटकीय ढंग से अन्त हो रहा है उसका आधार मन की शक्तियों पर था और मन ही जड़ और जीवन पर शासन करता था। हमें यहां इस विषय पर विचार नहीं करना है कि उसने जगत् के लिए क्या किया। हां, एक नया राज्य आ रहा है, यह आत्मा का राज्य होगा। मानव के बाद ईश्वर की बारी है।

फिर भी अगर हमें ऐसे अद्वितीय और अद्भुत काल में धरती पर जन्म लेने का अवसर मिला है तो क्या यह पर्याप्त है कि हम

बैठे-बैठे होने वाली घटनाओं को देखते रहें? वे सब जिन्हें लगता है कि उनके हृदय अपने ही व्यक्तित्व या अपने ही परिवार तक सीमित नहीं हैं, उनके विचार अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और स्थानीय सम्बन्धों से ही जुड़े नहीं हैं, संक्षेप में कहें तो वे सब जो यह अनुभव करते हैं कि वे स्वयं अपने या अपने परिवार के या अपने देश के भी नहीं हैं, बल्कि उस भगवान् के हैं जो अपने-आपको सभी देशों में मनुष्य के रूप में प्रकट करते हैं, वही लोग जानते हैं कि उन्हें ऊपर उठना चाहिये और मानवजाति के लिए, नव प्रभात के स्वागत के लिए काम करना चाहिये।

... अभी मनुष्य का जीवन बुद्धि के द्वारा चलता है। मन की क्षमताएं उसके लिए साधारण व्यवहार की चीजें हैं। अवलोकन और अनुमान उसके ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं। वह जीवन में तर्क द्वारा किसी निर्णय पर पहुंचता और अपना रास्ता चुनता है, उसे यह विश्वास तो है ही।

नयी जाति सहज ज्ञान के अनुसार चलेगी, यानी वह अपने अन्दर भगवान् के विधान को सीधा देख सकेगी। कुछ मनुष्य वस्तुतः सहजबोध से जान सकते और अनुभव कर सकते हैं, इसी तरह जंगल के कुछ गुरिल्ले निःसन्देह ऐसे भी होते हैं जिनके अन्दर बुद्धि की झांकियां दिखायी देती हैं।

मनुष्यजाति में बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपनी अन्तरात्मा में इतनी प्रगति की है, जिन्होंने अपनी सारी शक्तियों को अपनी सत्ता के आन्तरिक विधान को जानने के लिए केन्द्रित किया है, उनके अन्दर सहज बोध की थोड़ी-बहुत क्षमता होती है। जब मन पूरी तरह से शान्त हो, अच्छे दमकते हुए आईने की तरह स्वच्छ हो और शान्त दिन के सरोवर की तरह चुपचाप और स्थिर हो तो जैसे तारों का प्रकाश निश्चल जलों पर पड़ता है उसी तरह ऊपर से अतिमानस

का प्रकाश, अन्दर के सत्य का प्रकाश नीरव मन में चमकता है और सहज बोध को जन्म देता है। जिन्हें नीरवता में इस आवाज को सुनने का अभ्यास है वे इसी को अपने कामों की प्रेरणा बनाने का अधिक-से-अधिक प्रयास करते हैं और जहां साधारण आदमी बुद्धि और विवेचन के पेचीदा रास्तों पर भटकता रहता है, वहां ये लोग जीवन के घुमावदार रास्तों से होते हुए सहज बोध के मार्ग-दर्शन में सीधे चले जाते हैं। यह सहज बोध एक ऊंचे प्रकार की नैसर्गिक वृत्ति है और एक मजबूत और अचूक मार्ग-दर्शक है।

... इसीलिये जो लोग नव युग में मानवता के भावी की सबसे अधिक सहायता करेंगे वे वही होंगे जो आध्यात्मिक विकास को ही नियति और मानवजाति की सबसे बड़ी आवश्यकता के रूप में स्वीकार करेंगे—एक ऐसे विकास या परिवर्तन को जो वर्तमान मानवजाति को अध्यात्म-मानवता में उसी तरह बदल देगा जैसे एक बड़ी हद तक पाशविक मनुष्य उच्च स्तर की मानसिक मानवजाति में बदला है।...

इस भांति व्यक्ति, जो अहंकार-भरे हेतुओं, विधि-विधानों, रीति-रिवाजों से प्रेरित न होगा, सभी अहंकार-भरे लक्ष्यों को त्याग देगा। पूर्ण अनासक्ति ही उसका नियम होगा। इहलोक में या परलोक में व्यक्तिगत लाभ पाने के लिए काम करना उसके लिए कल्पनातीत और असम्भव होगा। उसका हर एक कर्म प्रेरणा देने वाले दिव्य विधान के आज्ञानुसार पूर्ण, सरल और आनन्दमय आज्ञापालन होगा जिसमें परिणामों और पुरस्कारों की मांग न होगी, क्योंकि उस प्रेरणा के अनुसार काम करना, स्वयं अन्तर-स्थित भागवत तत्त्व के साथ चेतना और संकल्प में ऐक्य प्राप्त करने का आनन्द ही अपने-आपमें परम पुरस्कार होगा।

और इस तादात्म्य में ही अतिमानव अपना सामाजिक स्तर

पायेगा। क्योंकि वह अपने अन्दर दिव्य विधान को पाकर, उसी दिव्य विधान को हर एक सत्ता के अन्दर देख सकेगा और अपने अन्दर उसके साथ तादात्म्य पाकर औरों के अन्दर भी उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करेगा, और इस प्रकार केवल तत्त्व या सार-रूप में ही नहीं, जीवन के अत्यन्त बाहरी स्तरों और रूपों में भी सबकी एकता का भान प्राप्त कर लेगा। वह कोई मन, प्राण या शरीर न होकर उन्हें अनुप्राणित करने और सहारा देने वाली नीरव, शान्त और शाश्वत आत्मा होगा जो इन सब पर शासन करती है और वह देखेगा कि यही आत्मा हर जगह, सभी मन, प्राण, शरीरों को अनुप्राणित करती और सहारा देती है। वह इस 'आत्मा' को भागवत स्रष्टा और सभी कर्मों के कर्ता के रूप में जानेगा जो सभी सत्ताओं में मौजूद है क्योंकि वैश्व अभिव्यक्ति की अनेक आत्माएं एक ही भगवान् के अनेक चेहरे हैं। वह हर एक सत्ता को इस रूप में देखेगा मानों वही वैश्व भागवत सत्ता उसके आगे विभिन्न रूपों में आ रही है। वह अपने-आपको उस एक सत्ता में मिला देगा और स्वयं अपने मन, प्राण और शरीर को उसी आत्मा के पहलुओं के रूप में लेगा और आज वे सब जिन्हें हम अपने से अलग मानते हैं, वे उसकी चेतना के लिए विभिन्न मन, प्राण और शरीरों में उसके स्व के ही रूप होंगे। वह सबके शरीरों में अपने शरीर को अनुभव कर सकेगा, जिस तरह कि सारे पदार्थ की एकता का भान रखते हुए वह सभी सत्ताओं के मन और प्राण के साथ अपने-आपको एक कर लेगा। संक्षेप में कहें तो वह औरों में अपने-आपको और अपने अन्दर औरों को देखेगा और अनुभव करेगा। इस प्रकार ऐक्य की पूर्णता में सच्ची एकात्मता की उपलब्धि करेगा...।

*

मधुर मां, क्या मानव और अतिमानव के बीच कोई मध्यवर्ती अवस्थाएं नहीं होंगी?

शायद अनेक होंगी।

मानव और अतिमानव? तुम नयी अतिमानसिक जाति की बात तो नहीं कर रहे, कर रहे हो क्या? क्या सचमुच तुम उसी की बात कर रहे हो जिसे हम अतिमानव कहते हैं, अर्थात्, मनुष्य, जो मानवी ढंग से जन्मा है और अपनी भौतिक सत्ता का, जो उसे साधारण मानव जन्म के द्वारा मिली है, रूपान्तर करने की कोशिश कर रहा है? सोपान? अवश्य, असंख्य **आंशिक** उपलब्धियां होंगी। हर एक की क्षमता के अनुसार रूपान्तर का स्तर अलग-अलग होगा, और यह निश्चित है कि अतिमानव से मिलती-जुलती चीज तक पहुंचने से पहले न्यूनाधिक सफल या असफल प्रयास काफी संख्या में होंगे, और ये ही लगभग सफल प्रयोगात्मक प्रयास होंगे।

*

दो अकाट्य लक्ष्य यह प्रमाणित करते हैं कि व्यक्ति अतिमानस के सम्पर्क में है।

१. पूर्ण और सतत समता,

२. ज्ञान में निरपेक्ष दृढ़ निश्चितता।

पूर्ण होने के लिए, समता को सभी परिस्थितियों, सभी घटनाओं, सभी भौतिक या मनोवैज्ञानिक सम्पर्कों के प्रति—उनके स्वभाव या प्रभाव की परवाह न करते हुए—अपरिवर्तनशील, सहज और प्रयासहीन होना चाहिये।

तादात्म्य द्वारा अचूक ज्ञान का निरपेक्ष और अकाट्य दृढ़ विश्वास।

सोसायटी समाचार

श्रीअरविन्द सोसायटी का नारी-आयोग सोसायटी के 'बीच-ऑफिस' में २२, २३ तथा २४ नवम्बर को अपना सम्मेलन करेगा। विषय है —'भगवान् के साथ क्रमिक मैत्री'। सभी इच्छुक व्यक्तियों का स्वागत है।

श्रीमां का महासमाधि-दिवस—१७ नवम्बर को श्रीमां का कमरा, २४ नवम्बर—सिद्धि-दिवस पर श्रीअरविन्द का कमरा दर्शनार्थ खोला जायेगा। २६ नवम्बर से ४ दिसम्बर २००६ तक डॉ. मंगेश नाडकर्णी का शिक्षा-शिविर भी सवेरे लगेगा। ५ दिसम्बर को श्रीअरविन्द के महासमाधि-दिवस पर उनका कमरा दर्शनार्थ खुलेगा।

१७ अगस्त को ऑरगैनिक खेती के सम्बन्ध में आश्रम के एक बगीचे 'मातृकुंज' में डॉ. नन्दिता साहा ने एक वर्कशॉप का आयोजन किया जिसमें आश्रम तथा ऑरोवील के कई कृषकों ने हिस्सा लिया। हम यहां यह भी बताते चलें कि श्रीअरविन्द सोसायटी के पास 'उस्तेरी' लेक के करीब ४२ एकड़ जमीन है जहां पूरी तरह से ऑरगैनिक तरीके से खेती की जा रही है।

इन्दौर (मध्य-प्रदेश) में श्री प्रयाग पुस्तकालय तथा वाचनालय के तत्त्वावधान में ३, ४ तथा ५ जून को सभी धर्मों की पुस्तकों का मेला लगा जिसमें इन्दौर की हमारी शाखा ने श्रीअरविन्द तथा श्रीमां की पुस्तकों का भी एक 'स्टॉल' लगाया।

'रुस्तमजी सशस्त्र पुलिस प्रशिक्षण विद्यालय' ने ध्यान और योग पर ५ से ९ जून तक एक शिविर लगाया जिसमें डॉ. सुमन कोचर ने प्रशिक्षण दिया, उनके सहायक थे श्री प्रदीप बक्शी।

'देवबाला संघ' की लड़कियों का एक शिक्षा-दल बनाया गया।

यह दल हर इतवार को श्रीअरविन्द तथा श्रीमां की कृतियों का अध्ययन करता है।

दिल्ली शाखा, अधचीनी में श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र के भौतिकी के प्रोफेसर श्री आर. वाई. देशपाण्डे ने ९, १० तथा ११ अगस्त को श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' पर आधारित 'क्रम-विकास' तथा 'भविष्य का अन्तर्दर्शन' भाषणों की शृंखला प्रस्तुत की।

नॉएडा (उत्तर-प्रदेश) शाखा ने नॉएडा के Lionesse Club की सदस्याओं को सात छोटी पुस्तिकाओं का एक सेट भेंट-स्वरूप दिया जिनमें विभिन्न विषयों पर श्रीमां तथा श्रीअरविन्द की शिक्षाओं का संकलन था।

अम्बेडकर नगर (उत्तर-प्रदेश) में १६ जुलाई को हुए एक सार्वजनिक सम्मेलन में डॉ. जे. पी. सिंह श्रीअरविन्द के जीवन, उनकी शिक्षा तथा श्रीअरविन्द सोसायटी के उद्देश्यों पर बोले।

गोरखपुर (उत्तर-प्रदेश) में २३ जुलाई को कई शिक्षाविद् श्रीअरविन्द के सर्वांगीण योग और अतिमानस के अवतरण पर बोले।

वाराणसी (उत्तर-प्रदेश) में २७ अगस्त को उत्तर-प्रदेश कॉलेज में एक सभा का आयोजन किया गया जिसमें कई वक्ता श्रीअरविन्द के प्रकाश में भारत के भविष्य के बारे में बोले।

दिसम्बर २००६ रु. ७.००

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अग्निशिखा दिसम्बर २००६ वर्ष ३७, अंक ५, पूर्णांक ४३७

विषय-सूची

सन्देश श्रीमां १
'सम्पादकीय': अपराजेय (५) अनुबेन २
दैनन्दिनी ५
माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क :
 १९५० के बाद—नया सम्बन्ध नीरदवरण ८
कृपा सब कुछ कर सकती है तो
 तपस्या की क्या जरूरत? श्रीअरविन्द १०
श्रीअरविन्द के दर्शन रोडा पी. ल. कॉक १२
 (५ दिसम्बर की एक स्मृति)
कृपा क्या है? श्रीअरविन्द/श्रीमां २४
अन्तरात्मा क्या है? श्रीअरविन्द २७
नीरदवरण के साथ श्रीअरविन्द का पत्र-व्यवहार ३०
सोसायटी समाचार ३८

मुखपृष्ठ के पुष्प का श्रीमां द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

पवित्रता की शक्ति

सभी शक्तियों में सर्वोत्तम है पवित्रता

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

सम्पादक : अनुबेन
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

श्रीअरविन्द हमें यही बताने आये थे "सत्य को पाने के लिए संसार को त्यागने की आवश्यकता नहीं, अपनी आत्मा को पहचानने के लिए जीवन त्यागने की आवश्यकता नहीं, ईश्वर से नाता जोड़ने के लिए इस जगत् को छोड़ने या मर्यादित श्रद्धा की आवश्यकता नहीं, ईश्वर तो सर्वत्र विद्यमान हैं, सर्वव्यापी हैं, और यदि वे अगोचर हैं तो इसका कारण यह है कि हम उन्हें ढूंढ़ने का कष्ट नहीं उठाते।"

—श्रीमां

'सम्पादकीय' :

अपराजेय

(५)

श्रीअरविन्द के छोटे भाई बारीन गांव जा-जाकर लोगों में स्वाधीनता के लिए जागृति लाने की कोशिश कर रहे थे। एक बार वे पहाड़ों में गये और लौटे एक विषम ज्वर लेकर। वे श्रीअरविन्द के पास आये, बहुत सारे उपाय किये गये, किन्तु वह ज्वर टस-से-मस न हुआ। एक दिन एक नागा साधु आ पहुंचा, उसने बारीन को देखा और पानी से भरा एक गिलास मंगवाया, चाकू मांगा और होठों में बुदबुदाते हुए पानी को चार बार ठोस वस्तु की तरह काटा। बारीन को वह पानी पीने के लिए दिया गया और आश्चर्य! दूसरे ही दिन ज्वरमुक्त बारीन को देखकर श्रीअरविन्द प्रसन्न हो उठे। अब वे सोचने लगे कि भारत में क्रान्ति लाने के लिए भी मुझे इस अद्‌भुत ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। वे गम्भीरता से योग सीखने की बात सोचने लगे।

श्रीअरविन्द के एक मित्र श्रीमान् देवधर ने नर्मदा के किनारे चांदोद में गंगामठ के स्वामी अपने गुरु ब्रह्मानन्द की बात कही और श्रीअरविन्द को सही ढंग से प्राणायाम करना सिखाया। श्रीअरविन्द सवेरे तीन घण्टे और शाम को दो घण्टे प्राणायाम करने लगे। देखें, प्राणायाम से उन्होंने क्या पाया। वे लगातार एक घण्टे तक कविता लिखने की प्रेरणा पाते थे और वे उस एक घण्टे में सौ, दो सौ पंक्तियां लिख लेते थे जब कि प्राणायाम के अभ्यास से पहले १५, २० पंक्तियां ही लिखते थे। इतना ही फायदा नहीं हुआ, उनका स्वास्थ्य ज्यादा अच्छा होने लगा, साथ-साथ स्मृति भी तेज हो गई। सबसे आश्चर्यजनक थे उनके कई अन्तर्दर्शन!

कुछ समय बाद, सन् १९०३ में, श्रीअरविन्द अपने मित्र देशपाण्डे के साथ नर्मदा-तट पर स्थित चांदोद गये और वहां स्वामी ब्रह्मानन्द के दर्शन किये। कहा जाता था कि जब लोग उनके दर्शन करने जाते थे तब स्वामी ब्रह्मानन्द हमेशा अपनी आंखें बन्द रखते थे, परन्तु जब श्रीअरविन्द उनसे मिलने गये तो उनकी आंखें पूरी तरह खुली हुई थीं, दोनों एक-दूसरे को निहार रहे थे!

बहुत वर्षों के बाद श्रीअरविन्द ने ब्रह्मानन्द के विषय में कहा, "उनका शरीर बहुत सुन्दर था, उनकी आंखें असामान्य थीं। जब उन्होंने आंखें खोल कर मेरी ओर देखा तो ऐसा लगा कि उन्होंने आंखों के द्वारा मेरे अन्दर प्रवेश कर वहां की हर चीज को स्पष्ट रूप से, पूरी तरह देख लिया।"

लोग कहते थे कि अवधूत स्वामी ब्रह्मानन्द का जन्म सन् १७०० में हुआ था। बचपन से ही उनके मां-बाप उन्हें छोड़ कर चले गये थे। उनकी देख-भाल करने वाला कोई भी न था तो उन्होंने इधर-उधर घूमना-फिरना शुरू कर दिया। अचानक उनके अन्दर भगवान् को पाने की इच्छा जाग उठी और वे गिरनार पर्वत पर जा पहुंचे जहां उनका किसी गुरु से परिचय हो गया। गुरु ने उनको मन्त्र-दीक्षा दी और गुरु दत्तात्रेय की साधना करने का आदेश दिया, साथ ही उनका नाम रख दिया ब्रह्मानन्द। गिरनार की किसी गुफा में उन्होंने बीस वर्ष तक साधना की और सिद्धि प्राप्त कर वहां से उत्कटेश्वर महादेव के दर्शन करने गये और फिर डाकोर जाकर श्रीकृष्ण के दर्शन कर आये। बाद में पाटण गये तो वहां पन्द्रह वर्ष निवास किया। नर्मदा की प्रदक्षिणा उन्होंने सात बार की और उसे पूर्ण करने में उन्हें दस वर्ष लगे। नर्मदा के आकर्षण ने या उसके वातावरण की गरिमा ने उन्हें ऐसा बांध लिया कि वे नर्मदा के किनारे गंगनाथ मन्दिर में रहने लगे। यह रहा ब्रह्मानन्द के शरीर

का वर्णन—आजानुबाहु ब्रह्मानन्द का चेहरा तेजस्वी था, उनकी ऊंचाई साढ़े छह फुट थी। आवाज गरजती हुई, दूर-दूर तक पहुंचती थी। आसपास रहनेवाले लोग बिन मांगे उनकी आवश्यकता पूरी करते रहते थे। उनके असंख्य शिष्य थे। सन् १९०६ में कील पांव में लग गयी तो उन्होंने इसी कारण शरीर छोड़ने का निर्णय कर लिया और नर्मदा में जल-समाधि लेकर शरीर छोड़ा।

हम देख रहे थे कि श्रीअरविन्द योग-शक्ति के पीछे इसलिए पड़े थे कि वे उस शक्ति का प्रयोग भारत की स्वाधीनता के लिए कर पायें, किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। वह शायद विधि का विधान नहीं बल्कि परम प्रभु का विधान था जिसे कोई मिटा न पाता।

फ्रांसिस् थॉमसन ने अपने इस प्रभु के विधान का बड़ा मार्मिक चित्रण "हाउंड ऑफ हेवन" नामक कविता में किया है। कवि कहते हैं, "मैं उससे भागता रहा, रात को भागता रहा, दिन में भी भागता रहा; वर्षों के तोरणों में से होकर भागता रहा। अपने मन की कई भूल-भुलैयाओं में से भागता रहा; आंसू की धाराओं में उससे छिपता रहा और दौड़ते हुए अट्टहास्य के पीछे मैं छिपता रहा, आशा के दूर दृश्य से भागता रहा। अंधाधुन्ध भय और निराशा की गहरी खाई की ओर मैं दौड़ता रहा, लेकिन शान्त अथक कदमों से, सावधान रफ्तार से वे उदात्त कदम मेरे पीछे-पीछे चलते रहे और एक स्वर गूंज उठा, "सब कुछ उसे निराश करेगा जो मुझे निराश कराता हो"।

श्रीअरविन्द इस समय भारत में क्रान्ति लाने के पागलपन में सब कुछ भूल कर असंख्य युवकों को देश की मुक्ति के लिए कफन बांध कर अपने साथ चल पड़ने के लिए तैयार कर रहे थे।

हम देख चुके हैं कि उन्हें जो आन्तरिक अनुभूतियां हो रही थीं वे उन्हें किसी अन्य दिशा की ओर खींच रही थीं।

ब्रह्मानन्द से मिलकर श्रीअरविन्द देशपाण्डे के साथ जा ही रहे

थे कि वे लोग करनाली नामक स्थान पर पहुंच गये। वहां महाकाली का मन्दिर था। चूंकि देशपाण्डे काली-भक्त थे इसलिए उनके साथ श्रीअरविन्द भी मन्दिर में गये। दोनों हाथ जोड़ कर खड़े रहे। श्रीअरविन्द उस पत्थर की मूर्ति को देखते रहे....और आश्चर्य! उन्होंने देखा, "तराशे हुए अवयवों से देवत्व ने उन्हें निहारा! एक जीवित-जाग्रत् दिव्य उपस्थिति, अमर और अलौकिक; वह ऐसी आकृति थी जो सारे असीम को अपने में संजोये हुए उनके सामने खड़ी थी।" कैसी अद्‌भुत आन्तरिक अनुभूति!

तो हम समझ संकते हैं कि वे दिव्य चरण श्रीअरविन्द का पीछा करते ही रहे।

—अनुबेन

दैनन्दिनी

दिसम्बर

१. भगवान् की सहायता हो तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

२. सभी के लिए सहायता उपस्थित रहती है, लेकिन हर एक को उसकी सचाई और निष्कपटता के अनुपात में लाभ होता है।

३. सब कुछ श्रद्धा की तीव्रता और उचित वृत्ति की दृढ़ता पर निर्भर करता है।

४. हां, भागवत कृपा में श्रद्धा हमेशा कृपा का हस्तक्षेप लाती है।

५. भागवत कृपा हमें कभी निराश न करेगी, हमें यह श्रद्धा अपने हृदय में निरन्तर बनाये रखनी चाहिये।

६. हमारे अन्दर श्रद्धा का अभाव ही हमारी सीमाओं की रचना करता है।

७. भागवत कृपा हमारे साथ है और हमें कभी नहीं छोड़ती, तब भी नहीं जब सब कुछ अन्धकारमय प्रतीत होता है।
८. सभी अवस्थाओं में भागवत कृपा हमें सभी कठिनाइयों को पार करने में हमारी सहायता के लिए मौजूद है।
९. असफलता में और सफलता में भी भागवत कृपा हमेशा मौजूद रहती है।
१०. जब सब कुछ खोया हुआ प्रतीत होता है तभी सब कुछ बचाया जा सकता है।
११. जब तुम अपनी निजी शक्तियों पर विश्वास खो बैठते हो, तब तुम्हें भागवत कृपा पर विश्वास रखना चाहिये।
१२. भागवत कृपा पर भरोसे से सभी बाधाओं को पार किया जा सकता है।
१३. आदमी जितना अधिक जानता है उतना ही अधिक अनुभव करता है कि वह कुछ नहीं जानता।
१४. भगवान् की विजय निश्चित है। अगर हम सच्चा भरोसा रखें तो कभी गलत रास्ता न लेंगे।
१५. जब कभी, अपने जीवन में तुम्हें कठिनाई का सामना करना पड़े तो उसे प्रभु की कृपा के वरदान के रूप में लो और वह वही बन जायेगा।
१६. जब कठिनाइयां तुम्हें घेर लें, तो यह जानो कि भागवत कृपा तुम्हारे साथ है।
१७. भागवत कृपा ऐसी चीज है जो तुम्हें उस लक्ष्य की ओर धकेलती है जिसे तुम्हें पाना है।
१८. भगवान् के प्रति सच्चे और निष्कपट निवेदन में ही हम अपने दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं।
१९. घोर तपस्या की अपेक्षा सच्चा प्रेम और निवेदन भगवान् की

ओर कहीं ज्यादा तेजी से ले जाते हैं।

२०. अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को दे दो और तुम देखोगे कि तुम्हारे सभी कष्टों का अन्त आ गया है।

२१. सच्चा और निष्कपट आत्म-दान ही मनुष्य को सभी कठिनाइयों और खतरों से बचाता है।

२२. हमें भगवान् के सिवा और किसी की सेवा में न होना चाहिये।

२३. पथ लम्बा है, लेकिन आत्म-समर्पण उसे छोटा कर देता है, मार्ग कठिन है पर पूरा भरोसा उसे सरल बना देता है।

२४. हम सभी परिस्थितियों में अपना अच्छे-से-अच्छा करें और परिणाम को भगवान् के निश्चय पर छोड़ दें।

२५. जब कोई कठिनाई हो तो हमें हमेशा याद रखना चाहिये कि हम यहां पर ऐकान्तिक भाव से भगवान् की इच्छा सम्पन्न करने के लिए हैं।

२६. प्रभु हमेशा उपस्थित हैं, केवल हम इस बात को अनुभव नहीं करते।

२७. अगर भगवान् तुम्हारे लिए कोई कठिनाई चाहते हैं तो विरोध मत करो। उसे आशीर्वाद के रूप में लो और वह सचमुच आशीर्वाद बन जायेगी।

२८. शोक मत करो, मानव प्रेम अस्थायी है, केवल भागवत प्रेम कभी धोखा नहीं देता।

२९. मनुष्य बाहरी तौर पर अकेला तभी होता है जब वह भागवत प्रेम के प्रति बन्द होता है।

३०. कटुता है एक भ्रम जो भागवत प्रेम के सूर्य तले पिघल जाता है।

३१. सच्चाई के बिना कुछ नहीं किया जा सकता। पूर्ण सच्चाई के साथ सब कुछ सम्भव है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४ से

माताजी के साथ स्मरणीय सम्पर्क

१९५० के बाद—नया सम्बन्ध

श्रीअरविन्द की एक लम्बी चिट्ठी भी है जिस पर उन्होंने लिखा था 'गोपनीय'। माताजी ने उस चिट्ठी को छापने की अनुमति नहीं दी थी। वह चिट्ठी किसी विख्यात इतिहासज्ञ को व्यक्तिगत रूप से दिखायी गयी थी। हालांकि इतिहासज्ञ श्रीअरविन्द को अवश्य महान् क्रान्तिकारी, महान् देशभक्त के रूप में सराहते थे किन्तु उनकी राय यही थी कि श्रीअरविन्द में राजनैतिक नेता के गुण, उसकी क्षमता, योग्यता न थे; किन्तु यह पत्र पढ़ते ही उनके सामने मानों परदा खुल गया और श्रीअरविन्द के रहस्य उद्घाटित हो गये। उनकी राय बिलकुल बदल गयी। उस पत्र में श्रीअरविन्द ने अपनी पूरी योजना सविस्तार लिखी थी। योजना के कुछ अंशों का कार्यान्वयन श्रीअरविन्द ने शुरू कर भी दिया था। वर्षों बाद गांधी ने श्रीअरविन्द की योजना का अनुसरण किया था, फर्क केवल इतना ही था कि उन्होंने अहिंसा और निष्क्रिय प्रतिरोध को पवित्र प्रतिज्ञा बना दिया था।

अचानक इसी समय मेरे मन में एक विचार कौंध उठा कि श्रीअरविन्द के साथ हम परिचारक जिस अनुपम जीवन को जी रहे हैं उसका विवरण हमें लिखना चाहिये, लेकिन उसी समय मैंने उस विचार को उतार फेंका क्योंकि मैं जानता था कि माताजी उसका समर्थन नहीं करेंगी। साथ ही मेरे अन्दर कुछ था जो मुझ पर ऐसा दबाव डाल रहा था कि मैं लिखूं और मन की इस डांवांडोल अवस्था में ही मैंने थोड़े अध्याय लिखे। फिर मेरा उत्साह ठंडा पड़ गया। लम्बे अरसे के बाद और भिन्न परिस्थिति में लिखने के उत्साह की ज्वाला फिर से भड़क उठी और मुझे माताजी की ओर से लिखने

की अनुमति भी मिल गयी। उसकी कहानी यथास्थान कहूंगा।

अब मैं ऐसा कुछ लिख रहा हूं जिसका मेरे विषय के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। एक दिन भारतीय वायुसेना के एक कमाण्डर माताजी से मिलने आये। उन्होंने माताजी से पूछा, "कभी-कभी मुझे पता नहीं लगता कि मुझे क्या करना चाहिये या सांसारिक और पारिवारिक जीवन में मेरा कर्तव्य क्या होना चाहिये। क्या मैंने यह ठीक किया? क्या मेरी मनोवृत्ति उचित थी? इत्यादि। उचित कार्य करने के मेरे बहुत प्रयासों के बावजूद ये प्रश्न मुझे परेशान करते रहते हैं। मुझे अपना काम कहां से शुरू करना चाहिये?"

माताजी—क्योंकि तुम मन से निश्चय करते हो इसलिए ऐसा होता है। सत्य को मन कभी दे न पाएगा। मन को शान्त करने की कोशिश करो और अपने अन्दर से उत्तर पा लो।

कमाण्डर—उदाहरण के लिए, अपने अधीनस्थ लोगों के बर्ताव के बारे में ऊंचे अफसर की राय और मेरी राय में अन्तर हो, तब?

माताजी—उस समय, जिस तरह तुम योग में करते हो उसी तरह, अपने अफसर की बात मान लो। कभी-कभी यद्यपि अपने गुरु से तुम भिन्न बात सोचोगे किन्तु तुम करोगे वही जो गुरु कहते हैं—यही उचित मनोवृत्ति तुम्हें रखनी है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है तुम्हारी आन्तरिक मनोवृत्ति की, काम की इतनी नहीं; और मनोवृत्ति ही तुम्हारे कार्य का निर्णय करती है। गुरु की आज्ञा का पालन नहीं कर पाते तो तुम्हें उनको छोड़ देना चाहिये। इसी तरह अगर तुम अपने अफसर के साथ सहमत नहीं हो पाते तो तुम्हारे पास नौकरी छोड़ने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। अपने कर्मचारियों के प्रति तुम्हें यथासम्भव सदय, उदार और हमदर्द होना चाहिये।

कमाण्डर—आन्तरिक उत्तर पाने में बहुत समय लगता है।

माताजी—हां, सच है। बहुत समय लगता है, कभी-कभी वर्ष बीत

जाते हैं और फिर भी तुम्हें धैर्य से कोशिश करते रहना होगा। जब भी तुम्हारे सामने कोई समस्या हो, अपने अन्दर जाओ, यहां महसूस करो—हृदय में। अपने धर्म के किसी विचार के बारे में प्रश्न उठे कि उसका अनुसरण करना चाहिये या नहीं तो तुम्हें देखना होगा कि वह कहां से आया है—पूर्वजों से, सामाजिक पर्यावरण से या फिर शिक्षा से; फिर उन सबसे अपने-आपको अलग कर दो और अपने अन्दर कूद पड़ो।

—नीरदवरण

कृपा सब कुछ कर सकती है तो तपस्या की क्या जरूरत?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई कटा-छंटा उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इस के दो पक्ष है, जिनमें हर एक, एक सत्य है। भगवान् की कृपा के बगैर कुछ नहीं किया जा सकता, पर भागवत कृपा अपना कार्य कर सके इसके लिए साधक को अपने-आपको तैयार करना होता है। यदि हर एक चीज भागवत हस्तक्षेप पर आश्रित होती तो मनुष्य रह जाता एक कठपुतली-सा, न कोई साधना की जरूरत होती, न कोई शर्तें होतीं, न कोई नियम होते—लिहाजा न कोई संसार होता, होते केवल भगवान् जो अपनी मनमौज से अपनी लीला कर रहे होते। निःसन्देह, यह कहा जा सकता है कि अन्ततोगत्वा यह विश्वमय भगवान् ही हैं जो सब कुछ करते हैं। पर वे इस सबको करते हैं मनुष्यों के द्वारा, शक्तियों के द्वारा—प्रकृति की अवस्थाओं के अन्तर्गत रहते हुए। विशेष हस्तक्षेप हो

सकते हैं और होते हैं, पर सभी तो विशेष हस्तक्षेप नहीं हो सकते।

*

ब्रह्मानन्द ने तपस्या के बारे में जो कहा है, निःसन्देह, वह ठीक ही कहा है। यदि कोई व्यक्ति कठोर श्रम और तपस्या के लिए, मन और प्राण को साधने के लिए तैयार नहीं तो वह किसी बड़ी आध्यात्मिक उपलब्धि का अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मन और प्राण अपने स्वत्व को लम्बाने के लिए, अपनी पसन्दें-नापसन्दें लादने के लिए और उस दिन को दूर टालने के लिए कोई-न-कोई जुगत या बहाना ढूंढ़ ही निकालेंगे जब उन्हें आत्मा का आज्ञाकारी यन्त्र और खुली नहर बन जाना होगा। भागवत कृपा कभी-कभी अपात्र को या दीखते-से अपात्र को फल दे सकती है पर वह अपना हक या विशेषाधिकार जता कर कृपा का दावा नहीं कर सकता—क्योंकि तब वह कृपा ही न रह जायेगी। जैसा कि तुम भी देख चुके हो, कोई यह दावा नहीं कर सकता कि वह चिल्लायेगा भर और उत्तर को आना ही होगा। इसके अतिरिक्त, मैंने हमेशा यह देखा है कि कृपा हस्तक्षेप करे इससे पहले वस्तुतः एक लम्बी अलक्षित तैयारी चल रही होती है, और साथ ही, हस्तक्षेप के बाद भी जो पाया है उसे पुष्ट और परिवर्धित करने के लिए व्यक्ति को, जैसा कि दूसरे सभी मामलों में होता है, बहुत कुछ करना होता है, जब तक पूरी सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती। उसके बाद निश्चय ही श्रम का अन्त हो जाता है और व्यक्ति पक्का प्रभुत्व पा लेता है। अतः किसी भी प्रकार की तपस्या को छोड़ा नहीं जा सकता।

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के दर्शन

(५ दिसम्बर की एक स्मृति)

स्विट्ज़रलैंड में जुंग नामक व्यक्ति के साथ मुलाकात होने के बाद और सॉरबौन में भारतीय शास्त्र पढ़ते हुए मेरे लिए यह अधिकाधिक जरूरी होता गया कि मैं श्रीअरविन्द के दर्शन करूं। जब हालैंड में, अन्तर्राष्ट्रीय कानून अकादमी का हमारा ग्रीष्मकालीन सत्र चल रहा था तो मुझे पता चला कि भारत-यात्रा का अवसर मुझे मिल सकता है, बस मैंने मन बना लिया।

पॉण्डिचेरी स्थित आश्रम के साथ पत्र-व्यवहार मैंने शुरू कर दिया। पता लगा कि श्रीअरविन्द साल में केवल चार बार ही दर्शन देते हैं। अगला दर्शन (ठीक-ठीक कहूं तो वह केवल मुखाकृति देखना भर ही होता है) २४ नवम्बर को पड़ता था। मुझे दर्शन की अनुमति मिल गयी।

पहले मैं एक डच जहाज ओरांज (Oranje) से मध्यसागर, स्वेजनहर, लालसागर, और भारत सागर से कोलम्बो और लंका पहुंची और फिर नाव-गाड़ी से सन् १९५० में भारत पहुंची, पॉण्डिचेरी अभी फरासीसी उपनिवेश ही था।

मुझे पता लगा कि दूसरे अमरीकी लोग भी आये हैं, शारीरिक शिक्षण की शिक्षिका महिला न्यूयार्क से आयी थी, वह वहां हठयोग सिखाती है, और दो व्यक्ति स्टैन्फार्ड से आये थे। और भी बहुत सारे दर्शक यूरोप और भारत से आये थे। मुझ समेत कई दर्शक 'गोलकुण्ड' अतिथिगृह में ठहराये गये थे। यह 'गोलकुण्ड' फ्रैंक लॉयड राईट के एक जापानी शिष्य द्वारा बनाया गया है। मेरे कमरे में सादगी और शान्ति का ऐसा वातावरण था जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। लम्बी तख्तेदार खिड़की में से उद्यान की बहार देखी जा सकती थी।

खिड़की के नीचे बने लम्बे प्लैटफार्म पर ठंडे पानी का कूजा रखा था। बिस्तर सलीके-से लगा रखा था, उस पर मसहरी भी थी। फर्श काले पत्थर का था जो बारिश के मौसम में पैरों को ठंडक देता था। बाहर जवा-कुसुम खिले थे, दालान में बने तालाब में कमल चमकीली आभा के साथ शोभित हो रहे थे और उनके पत्तों के नीचे 'गोल्ड फ़िश' तेजी से इधर-उधर आ जा रही थीं।

कुछ आश्रमवासी ऐसे थे जो विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगला देश) से श्रीअरविन्द के पास पॉण्डिचेरी चले आये थे। विभाजन श्रीअरविन्द को मंजूर न था, उन्हें भारत की अखण्डता अभीष्ट थी। कुछ सदस्य गोलकुण्ड में रहते थे, कुछ आश्रम के मुख्य भवन में रहते थे, जहां से भोजनालय दो चौक छोड़ कर है; कुछ गृहस्थ साधक अपने-अपने परिवार के साथ अलग अपने छोटे घरों में रहते थे।

दर्शन में अभी करीब-करीब एक महीना था। मैंने सोचा देहातों को, भारत के छोटे-छोटे गांवों को देखने का यह अच्छा मौका है, मैं साइकिल उठा कर उधर सैर करने निकल जाती, फरासीसी होटलों की तलाश करती और समुद्र में—जो हमारे अतिथिगृह से दो चौक ही दूर है—जाकर तैरती।

आश्रम में प्रतिदिन कुछ-न-कुछ कार्यक्रम चलता ही रहता था, पर कोई बाध्यता न थी, उन में कोई जाये या न जाये यह इच्छा पर था। सवेरे भोजनालय में हमारा नाश्ता होता था, इसमें प्रायः एक केला, आश्रम की 'बेकरी' में तैयार की हुई डबल रोटी और कोको व दूध होता था। दोपहर को, यदि पहले से सूचित कर दिया गया हो तो, साड़ी पहने एक लड़की पीतल के टिफिन-कैरियर में हमारा भोजन ले आती, उन डिब्बों में सब्जी और दूसरी चीजें होती थीं। गोलकुण्ड में, नीचे की मंजिल में, हवादार जगह पर हम दोपहर का

खाना खाते थे। एक हिन्दू युवक, विष्णु पटेल ने, जिसका परिवार पॉण्डिचेरी में ही रहता था, हमारा भारतीय भोजन से परिचय कराया, वहां खाये दोसे, वड़े और सांभर की आज भी याद आती है। हम जो अमरीका और यूरोप से आये थे, उन्हें विष्णु एक दिन बाजार ले गया, एक धोबी से परिचय कराया जो हमारे कपड़े धो देगा और इस्त्री कर देगा, जूतों की एक दुकान दिखायी जहां से हम गर्मी में पहनने लायक चप्पलें खरीद सकते थे।

प्रतिदिन प्रातः नाश्ते के बाद हमारा मीरा अलफ़ासा से, जो माताजी कहलाती हैं, मिलना होता था। बाद में माताजी सब को फूल बांटती थीं। लोग उनके लिए फूल ले जाते थे, उन्हें अपने फूल देते थे और उनसे दूसरे फूल प्राप्त करते थे—इन फूलों का आध्यात्मिक अर्थ भी होता है, आध्यात्मिक प्रगति में उनका अपना स्थान है। मार्बल फर्श के एक कमरे में, जो सहन की ओर खुलता है, माताजी कुछ लोगों के साथ सवेरे का ध्यान करती थीं।

दिन-दिन दर्शनार्थी बढ़ने लगे। अब आश्रम के विभिन्न विभागों में प्रदर्शनियां लगनी शुरू हो गयी थीं, बच्चों की खेल-प्रतियोगिताएं भी हो रही थीं। यह एक ऐसी बात थी जो बड़ी उम्र के भारतीय दर्शकों को अच्छी नहीं लगी। दूसरे कुछ इसलिए असन्तुष्ट थे कि वहां कोई नित्य-चर्या न थी। बम्बई से एक फ़िलॉसफी के प्रोफेसर भी दर्शन के लिए आये थे, उन्होंने मुझे बताया कि श्रीअरविन्दाश्रम पुराने ढंग के अन्य आश्रमों से एकदम अनोखा है, विचारों और दृष्टि में क्रान्ति के कारण उनसे अलग प्रकार का है। उन्होंने मुझ से यह भी कहा कि भारत छोड़ने से पहले मैं भारत के "हंसोड़ सन्त" रामदास के दर्शन जरूर करूं और मैंगलोर समुद्र-तट पर स्थित उनका आश्रम अवश्य देखूं। बाद में एक सप्ताह के लिए मैं वहां गयी। वहां जाकर एक गहरी समझ मुझमें जागी और मैं जान

पायी कि पॉण्डिचेरी आश्रम पुराने नमूने के आश्रमों से कितना असाधारण है। यद्यपि रामदास मुझे बहुत आकर्षक व्यक्ति लगे पर सारा वातावरण एकदम दूसरे प्रकार का था। वहां स्त्रियां और पुरुष अलग-अलग स्थानों पर बैठते थे। सारा भोजन भारतीय था, आधुनिक सुविधाओं में से वहां एक भी न थी, जब कि श्रीअरविन्दाश्रम में यह सर्व-सामान्य-सी बात थी।

मुझे बताया गया कि अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन की बेटी मारग्रेट विल्सन ने जीवन के अन्तिम वर्ष यहीं बिताये थे और यहीं उनका देहावसान भी हुआ था। मुझे यह भी पता चला कि १९४७ में सारे पॉण्डिचेरी प्रदेश में कम्युनिस्ट लोगों का बोलबाला था, और उन्हें सरकार का संरक्षण भी प्राप्त था। उनके उत्पात से एक आश्रमवासी मारा गया।

रात को, पॉण्डिचेरी नगरी किसी उपन्यास में वर्णित कल्पना-जगत् जैसी लगती थी। पॉण्डिचेरी खुला बन्दरगाह था। जहाज आते थे। लोगों में ऐसी शंका थी कि भारत में तस्कर-व्यापार के लिए इन में सोना लदा है। समुद्र-तट पर आग की बड़ी-बड़ी लपटें दिखायी देती थीं। सफेद पगड़ी पहने कुछ लोग इधर-से-उधर टहलते दिखायी देते थे। निश्चय ही यह सब गांव के बन्दरगाह पर था। मुख्य आश्रम-भवन में काम होने पर ही कुछ पुराने आश्रमवासी रात में बाहर निकलते थे, पर हम, जो अमरीका-वासी थे, उन्हें सभी कुछ देखने की इच्छा होती थी और देखने चले जाते थे।

दोपहर बाद सामान्यतः मैं आश्रम-पुस्तकालय में जाती और पुस्तकों से नोट्स लेती थी। इन पुस्तकों मे से अब कई तो अमरीका में भी मिल जाती हैं। शाम को हममें से कुछ कभी-कभी गांवों में बाहर खुले में सिनेमा देखने चले जाते थे। एक ऐसे ही अवसर पर एक बहुत चौंकाने वाली बात हुई। सिनेमा एक बड़े तम्बू में दिखाया

जा रहा था, अमरीकी और यूरोपीय लोगों के लिए कुछ एक बैंच पड़ी थीं, अधिकतर गांव वाले रेत पर ही पालथी मार कर बैठे थे। ऐसे में, अचानक, वहां कुछ खलबली मची। एक सांप दिखायी दिया। मैं तब से, जब तक सिनेमा चलता रहा, पैरों को बैंच पर रख कर बैठी रही। सांप का एक दूसरा किस्सा भी मुझे याद आ रहा है। बाजार में एक हिन्दू संपेरा मुझसे इसलिए नाराज हो गया था कि मैंने उसको खेल-प्रदर्शन के पैसे नहीं दिये थे। उसने अपने कोबरा सांप को पूंछ से पकड़ा और उसे ऐंठता हुआ मेरे मुंह के करीब तक ले आया। एकाएक उसके हाथ से सांप छूट गया। कई हिन्दू वहां उपस्थित थे, वह उनके पैरों के पास सरकने लगा। तब मुझे पता चला कि भारतीय कितने फुर्तीले होते हैं और उनकी चटपटी भाषा कैसी मजेदार होती है।

आखिर २४ नवम्बर का दिन आ गया। हजारहा लोग इस दर्शन के लिए आये थे। सवेरे-सवेरे गोलकुण्ड में हमें खबर मिली कि श्रीअरविन्द स्वस्थ नहीं हैं, शायद दर्शन न हो सकें। बाद में आखिरी मिनट पर खबर आयी कि वे अब काफी स्वस्थ हैं। मुख्य भवन से चौक के गिर्द तक लम्बी कतार थी, हर रंग के, हर ढंग के कपड़े पहने हुए लोग थे, सरकारी अफसर, प्रतिष्ठित प्रोफेसर, बच्चे-बूढ़े सब प्रकार के लोग थे जो देश-देशान्तर से आये थे। अन्ततः हम सीढ़ियां चढ़ कर ऊपर पहुंचे, जहां लम्बे संकरे कमरे के अन्त में सोफे पर श्रीअरविन्द सफेद धोती में और माताजी सुनहरी साड़ी पहने हुए पास-पास बैठे थे।

पाश्चात्य देशवासी होने के नाते, इन दो के सामने से एक शब्द भी कहे-सुने बिना, ऐसे ही गुजर जाना मुझे कुछ हास्यास्पद-सा लगा। मैं इस हिन्दू विश्वास से परिचित नहीं थी कि ऐसा मूक दर्शन भी आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली हो सकता है। कतार

में जैसे ही मैं वहां पहुंची मैंने देखा कि लोग इन दोनों के सामने चुपचाप कुछ क्षण खड़े रहते हैं और फिर श्रीअरविन्द के इशारा करने पर आगे बढ़ जाते हैं। आगे जो हुआ वह एकदम अप्रत्याशित था।

दर्शन करके मैं चार कदम ही आगे बढ़ी थी कि मैंने एक प्रकार के शक्तिमण्डल को महसूस किया। सहज रूप से मुझे लगा कि यह शक्ति प्रेम की शक्ति है, पर वह प्रेम नहीं जिसे साधारण लोग सामान्यतः इस शब्द से जानते हैं। ये दोनों तो बेलाग बैठे हुए थे, मेरी तरफ उनका कोई ध्यान नहीं था, जैसा कि सामान्य माता-पिता का होता है, फिर भी यह अनासक्ति ऐसी थी कि उसने सब शान्त कर दिया। एकाएक मैं उन दोनों से, आध्यात्मिक माता-पिता के रूप में प्यार करने लगी।

तब, मेरी सब विचार-शृंखला बन्द हो गयी। मैं पूरी तरह सजग थी कि मैं कहां पर हूं, यह कोई "सम्मोहन" न था, जैसा कि स्टैन्फोर्ड के एक मित्र ने बाद में मुझसे कहा था। बस, उन कुछ क्षणों में मेरा मन पूरी तरह निश्चल-नीरव हो गया था। मुझे लगा मैं वहां बहुत देर तक रही, अनगिनत काल तक, क्योंकि काल का वहां **अस्तित्व ही न रहा था**। केवल कुछ वर्षों बाद मैंने इस अनुभव का वर्णन करते हुए लिखा था कि मैंने काल में कालातीत की अनुभूति पायी थी। दर्शन करते समय मेरे मन में तनिक भी शंका नहीं हुई कि जिन दो को मैं देख रही हूं उन्होंने उस स्थिति को नहीं पाया है जिसका वे वर्णन करते हैं। वे साक्षात् आध्यात्मिक ज्ञान की जीवन्त मूर्ति थे। वे उस नयी चेतना को, जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानस कहा है, अपने जीवन में पा चुके थे। यह अनुभव होने के बाद ही मैं उस चीज को समझ पायी जिसे हेडगर (Heidegger) ने "अटल उपस्थिति" कहा है।

दर्शन की मेरी बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। कुछ दिन बाद एक अंग्रेज डॉक्टर ने, जो गोलकुण्ड में ठहरे हुए थे, मुझे सूचित किया कि श्रीअरविन्द का स्वास्थ्य अधिक खराब होता जा रहा है। ५ दिसम्बर प्रातः १.३० पर श्रीअरविन्द ने अपना भौतिक देह छोड़ दिया। डॉक्टरों ने इसका कारण किडनी रोग बतलाया। उसी सवेरे ३.३० पर यह सूचना आश्रम में सबको दे दी गयी। मुझे बहुत दुःख भी हुआ, और यह भी लगा कि मुझे उस अन्तिम दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ जिसमें दोनों एक साथ थे!

५ दिसम्बर को दिन भर मैं आश्रम के आस-पास ही घूमती रही, मैं अपने-आपको खाली-सा, असहाय-सा महसूस कर रही थी। फरासीसी गवर्नर की आपत्ति के बावजूद यह निश्चय ले लिया गया था कि श्रीअरविन्द को आश्रम के मुख्य भवन के सहन में स्थित विशाल वृक्ष के नीचे समाधि दी जायेगी। आश्रम के पुरुष-वर्ग ने गड्ढा खोदना शुरू कर दिया। मैंने देखा कि वह दर्शनार्थी डॉक्टर भी, जिसने मुझे विश्वास दिलाया था कि श्रीअरविन्द "एक अवतार के रूप में प्रकट होंगे", उनमें था और कंकरीट की सिल पर ऐसे हथौड़े बरसा रहा था मानों वह साक्षात् मृत्यु को ही मार कर छोड़ेगा।

लोग रो तो रहे थे पर विलाप नहीं कर रहे थे। वृक्ष के नीचे खुदाई जारी थी, शाम को स्त्री-पुरुष मिट्टी की टोकरियां हाथ-से-हाथ में बढ़ाते जा रहे थे। इतने में नयी सूचना आयी कि हम सबको, जो भी वहां थे, दूसरी बार दर्शन हो सकेंगे। हमने पंक्ति में लग कर ऊपर की मंजिल पर पलंग पर रखे कवि-दार्शनिक श्रीअरविन्द के शरीर को देखा।

अगले दिन ६ दिसम्बर, सवेरे हम सब पंक्ति में फिर वहां गये। ऐसा प्रतीत हुआ कि "शक्ति-मण्डल", जिसकी चर्चा मैं पहले कर चुकी हूं, शरीर के चारों ओर और सारे कमरे में मौजूद है। खिड़की

के आगे, सफेद पलंग पर, सफेद परिधान में श्रीअरविन्द का शरीर दर्शन के लिए रखा हुआ था। पलंग के चारों ओर फूलों के गुलदस्ते थे। उसके सिरहाने और पायताने आश्रम के पुराने साधक सिर झुकाये शान्ति से बैठे थे।

आशा के विपरीत, सहसा शाम को हमें फिर से दर्शन का सुयोग मिला। श्रीअरविन्द का चेहरा अभी भी मृतक का-सा नहीं लग रहा था। त्वचा का रंग सुनहरा था, सिर के सफेद बाल पंखे की हवा से तकिये पर फहरा रहे थे। पार्श्व से देखने पर गरुड़-सदृश नासिका वाला उनका चेहरा ऋषि-तुल्य लग रहा था। मृतक की कोई दुर्गन्ध वहां नहीं थी, छोटी-सी धूप-बत्ती वहां जल रही थी। मैं विस्मय-चकित रह गयी जब मैंने पाया कि जितनी ही बार मैं उनके शरीर को देखती उतनी ही तृप्ति मुझे मिल रही थी। इससे पहले मृत शरीर को देखने से मुझे सदा नफरत रही है...।

७ दिसम्बर को, हर एक के मन में एकबारगी तो यह सम्भावना उठी कि आज समाधि दे दी जायेगी। आखिरकार, यह ग्रीष्म प्रदेश है। भारत में मृत शरीरों का दाहसंस्कार जितनी जल्दी सम्भव होता है, कर दिया जाता है। समाधि देने की यह परियोजना सामान्य हिन्दू रिवाज से भी बहुत हट कर थी। गड्ढा और समाधि के लिए सीमेन्ट की बड़ी-बड़ी सिलें तैयार हो चुकी थीं। पर समाधि देने के स्थान पर श्रीमां की ओर से यह सूचना प्रसारित हुई :

आज श्रीअरविन्द को समाधि नहीं दी जायेगी। उनका शरीर अतिमानसिक प्रकाश की इतनी अधिक घनता से आवेशित है कि विघटन के वहां कोई लक्षण नहीं हैं। शरीर शैया पर इसी तरह रखा रहेगा जब तक वह अविकृत रहेगा।

फरासीसी प्रदेश पहले ही अपनी असहमति के कारण भड़का हुआ था और उसके अधिकारीगण समाधि की परियोजना से काफी

विक्षुब्ध थे, तिस पर यह अफवाह भी फैल गयी कि हो न हो शरीर को टिकाये रखने के लिए गुप्त रूप से, किसी प्रकार इसे निर्जलीकृत कर दिया गया है। इसके अलावा अधिकारीगण का कहना था कि आश्रम न केवल शरीर को सहन में गाड़ कर नियम का उल्लंघन कर रहा है बल्कि अधिक बुरी बात यह है कि वह उसे इतने लम्बे समय तक ऐसे ही रखे हुए है, समाधि नहीं दी जा रही है। (नियमानुसार ४८ घण्टे से ज्यादा कोई भी शरीर को दफनाये बिना नहीं रख सकता।)

इसलिए ७ दिसम्बर को प्रातः सरकार की ओर से एक फरासीसी डॉक्टर बारबे (Barbet) श्रीअरविन्द के शरीर का निरीक्षण करने आये। अन्त में उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि यह एक 'चमत्कार' है, कोई विकार नहीं है, मृत्यु का कोई निशान नहीं है, यह एक अनसुनी, अनहोनी घटना है। जब कि सारे समय मौसम गरम था। सरकारी तौर पर जांच-पड़ताल के बाद दिये गये इस प्रमाण-पत्र के बाद अगले दर्शन को कोई रोक नहीं सकता था। भारत भर से दर्शनार्थी उमड़े पड़ रहे थे। समाचार-पत्रों ने कहना शुरू किया कि श्रीअरविन्द का नाम मरणोपरान्त शान्ति-पुरस्कार के लिए भेजा जाना चाहिये।

इस बार मेरे मन में ऐसी आशंका थी कि शायद यह अन्तिम दर्शन हो। इस अवसर पर सभी को और हर किसी को श्रीअरविन्द का दर्शन करने की अनुमति थी; फटेहाल भिखारी, कुतूहली तमाशबीन, ग्रामीण, आश्रमवासी, दर्शनार्थी सभी को अनुमति थी।

८ दिसम्बर से सारे आश्रम में चुप्पी छायी रही। केवल उन्हीं को जो देर से आये थे, पॉण्डिचेरी अभी पहुंचे ही थे, शरीर देखने की अनुमति थी। आश्रमवासियों में अनिश्चितता के तनाव की स्थिति आ गयी, तरह-तरह की कल्पनाएं की जाने लगीं। 'लाइफ' (Life)

पत्रिका के संवाददाता हम अमरीकावासी लोगों के पास बातें करने आये। उन्होंने कहा कि मृत्यु के बाद शरीर के इस प्रकार टिके रहने की घटना भारत में कहीं भी पहले कभी नहीं हुई। यहां तक कि जीवित समाधि लेने वाले योगी भी ऐसी आश्चर्य की चीज नहीं कर सके, भारत के किसी अवतारी सन्त के बारे में भी इतिहास नहीं बताता कि मृत्यु के बाद उसका शरीर इस प्रकार बना रहा हो। एक भारतीय पत्रिका के संवाददाता को अचरज हो रहा था कि कहीं श्रीअरविन्द अभी भी जीवित न हों, केवल एक प्रकार की अन्तः-समाधि की अवस्था में हों।

९ दिसम्बर को दोपहर को, यह सूचना लगायी गयी कि आश्रम में रहने वालों को १ बजे अन्तिम दर्शन होंगे, बाद में बदल कर समय २.३० कर दिया गया। बाहर से आने वाले दर्शनार्थियों को प्राथमिकता दी गयी। रात होने से पहले दार्जिलिंग से १९ व्यक्ति भाड़े के जहाज से उड़कर पहुंच गये। अब गोलकुण्ड में हर एक किसी दूसरे को भी साथ ठहराये हुए था। फर्श और दालान में बिस्तरों की भरमार हो गयी।

निस्सन्देह, मैंने अपने जाने का कार्यक्रम स्थगित कर दिया। मुझे लगा कि यह एक ऐसा अवसर है जो मेरे जीवन में दूसरी बार नहीं आयेगा। मैंने आखीर तक ठहरने का इरादा बना लिया।

अन्ततः ९ दिसम्बर शाम को ५ बजे, एक और दर्शन होने के बाद, समाधि देने की विधि आरम्भ हुई। पहले जो आभास रहा था कि श्रीअरविन्द के आसपास चारों ओर का वातावरण शक्ति और ऊर्जा से भरा है, उसमें अब कमी आ गयी थी। अब हर एक, पूर्ण शान्ति में, आश्रम के दालान में बैठ गया। द्वार बन्द कर दिये गये, ताकि अब और कुतूहली लोग न आ पायें।

प्रथागत कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं हुआ। श्रीअरविन्द का शरीर

जिस रोज़वुड की एक मंजूषा में रखा था और जिसमें स्वर्णीकृत लोहे के छल्ले लगे हुए थे, वह आश्रम से नीचे लायी गयी और धरती में नीचे रख दी गयी। सभी फरासीसी अफसर सफेद परिधान में थे और बांयी ओर पंक्ति बांधे, चेहरे पर कठोरता और कुछ-कुछ बड़प्पन की छाप लिये तथा इस सब आयोजन से अपनी एकदम असहमति दर्शाते खड़े थे। मंजूषा के ऊपर कंकरीट की सिलें रख दी गयीं। फिर हर एक पंक्ति में खड़ा हो गया और हम सब ने एक-एक कर के बांस की टोकरियों से उस पर मिट्टी बिखेरी। जब हम में से हर एक ने वहां से अन्तिम विदाई ली तो उस समाधि पर फैले हुए वृक्ष के नीचे अंधेरा हो चला था।

१० दिसम्बर प्रातः जब मैं समाधि पर गयी तो उस पर पहले से फूल सजे थे, अगरबत्तियां जल रही थीं। यह सूचना प्रसारित की गयी कि श्रीमां आश्रम-सञ्चालन का कार्य यथावत् जारी रखेंगी और एक नया अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय खोला जायेगा।

यद्यपि श्रीमां ने यह सूचना प्रसारित की थी कि दो सप्ताह तक वे ध्यान में रहेंगी, इस बीच वे किसी से मिलेंगी नहीं, फिर भी कृपा कर मुझे १५ दिसम्बर, शाम ६ बजे उन्होंने विदाई-मुलाकात देनी स्वीकार कर ली।

५.३० बजे मैं ध्यान-कक्ष में पहुंची, अभी भी, जो कुछ हुआ था, उससे, मेरा मन और चित्त विक्षिप्त थे। श्रीमां श्वेत वस्त्रों में सीढ़ियों के ऊपर खड़ी थीं। मैं मुस्कुरायी तो उन्होंने सिर हिलाया और कहा :"ऊपर आ जाओ।"

वे सब प्रश्न जो मेरे मन में थे एकाएक गायब हो गये। मैं खूब अच्छी तरह जानती थी कि यह मुलाकात अपने-आप में एक भार-रूप ही है, जब कि उन्होंने हाल ही में ३० साल पुराने अपने जीवन-साथी को खो दिया है। पर बड़े शान्त स्वर में उन्होंने कहा : "वे

लोग कहते हैं कि तुम मुझ से मिलना चाहती हो।"

इससे पहले कि मैं कुछ सोच सकूं, वे सब भय जिनसे मैं भरी हुई थी—नये युद्धों का भय, मेरे व्यक्तिगत जीवन के इस या उस से भय—मेरे मुंह से फूट पड़े।

"व्यक्ति को डरना नहीं चाहिये" श्रीमां ने कहा "डर के द्वारा तुम उसे निमन्त्रित करते हो जिससे तुम डरते हो।" मैंने सिर हिलाया, तब उन्होंने यह और जोड़ा और मुझे लगा कि वे केवल मुझसे नहीं, बल्कि सारे संसार से कह रही हैं; "यह अहंकार है! अहंकार!"

कई व्यक्तिगत विषयों पर चर्चा हुई, और बाद में आध्यात्मिक उन्नति की बात आयी। उन्होंने कहा : "इन मामलों में व्यक्ति को खतरों से खेलने वाला होना चाहिये, समझीं!"

जब हमारी यह संक्षिप्त बात खत्म हुई तो जिस भूरी छोटी-सी मेज पर वे कोहनी टेक कर बैठी थीं उसके एक किनारे रखे पीतल के पात्र में से गेंदे का एक बड़ा-सा फूल उन्होंने निकाला और काफी देर तक मुझे देखती रहीं और फिर उसे मेरे हाथों में थमा दिया।

काफी समय बाद, कई वर्ष बाद, मैं यह समझ पायी कि मैं कितनी सौभाग्यशालिनी हूं, एक वर्ष के भीतर ही अपने समुद्र-तटों से इतनी दूर, संसार के तीन महानतम व्यक्तियों से मेरी भेंट हुई : एक तो जुंग से, जो स्विट्ज़रलैंड के मनोरोग-चिकित्सक हैं और जिन्होंने कहा है कि मनुष्य भगवान्-सम्बन्धी धारणा को बहुत पीछे छोड़ चुका है, और इन दोनों से—श्रीअरविन्द और मीरा अलफ़ासा या श्रीमां से जिन्होंने मिलकर संसार को भगवान् की नयी धारणा—जिसकी उसे बहुत जरूरत है—देने का प्रयास किया है, जैसा कि बड़े-बड़े आध्यात्मिक महापुरुष हमेशा से करते आये हैं। इन्हीं के कारण जीवन आशा बनाये हुए है और अपनी सार्थकता समझता है।

—रोडा पी. ल. कॉक

कृपा क्या है

भागवत कृपा कोई मनगढ़न्त कल्पना नहीं है, यह आध्यात्मिक अनुभूति का एक तथ्य है।

*

भागवत कृपा आप-से-आप होने वाली कुछ ऐसी चीज है जो भागवत चेतना से एक मूल प्रवाह के रूप में उमड़ पड़ती है।

—श्रीअरविन्द

प्रेम के मूल रूप में कुछ ऐसी चीज है जो अनवरत रूप से भागवत कृपा के हस्तक्षेप के रूप में अनूदित होती है; जो सब जगह शक्ति, मधुरता, प्रशमन के स्पन्दन के जैसी चीज बनकर फैली है...।

*

भागवत कृपा, भागवत कृपा एक ऐसी चीज है जो अपनी स्पष्ट दृष्टिवाली सहृदयता के साथ सारी समझ के परे होती है।

*

'भागवत कृपा' ऐसी चीज है जो तुम्हें उस लक्ष्य की ओर धकेलती है जिसे तुम्हें पाना है। उसका निर्णय अपने मन से न करो, तुम कहीं न पहुंच पाओगे, क्योंकि यह एक दुर्जेय चीज है जो मानवीय शब्दों और मानवीय अनुभवों से नहीं समझायी जा सकती।

*

तुम भगवान् के जितना अधिक निकट आओगे उतना ही अधिक

तुम 'उनकी' असीम 'कृपा' के अत्यधिक अभिभूत करने वाले प्रमाणों की फुहार में निवास करोगे।

*

जब तुम एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों के बीच होते हो और कुछ घटनाएं घटती हैं तो बहुधा ये घटनाएं तुम्हारी इच्छा का या जो कुछ तुम्हें सर्वोत्तम प्रतीत होता है उसका प्रतिरोध करती हैं, और बहुधा तुम इसके लिए दुःखी होते हो और अपने-आप से कहते हो : "आह! यदि यह ऐसा या वैसा हुआ होता तो कितना अच्छा होता"...। यह तुम छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं के लिए कहते हो...। उसके बाद वर्ष-पर-वर्ष निकल जाते हैं, घटनाओं-पर-घटनाएं होती हैं; तुम प्रगति करते हो, अधिक सचेतन बन जाते हो, पहले से अच्छा समझने लगते हो, और जब तुम पीछे की ओर ताकते हो, तुम देखते हो—पहले तो अचम्भे के साथ, फिर बाद में एक मुस्कान के साथ—कि जो परिस्थितियां तुम्हें बिलकुल अनर्थपूर्ण और प्रतिकूल प्रतीत हुई थीं वे ही, ठीक-ठीक वे सर्वोत्तम चीजें थीं जो, उस समय तुम्हें जैसी उन्नति करनी थी उसे कराने के लिए, तुम्हारे साथ हो सकती थीं। और यदि तुम जरा भी समझदार होओ तो तुम अपने-आपसे कहते हो : "सचमुच भगवान् की कृपा अनन्त है।"

अतएव, जब इस प्रकार की चीज अनेक बार तुम्हारे साथ हो चुकती है, तो तुम यह समझना आरम्भ कर देते हो कि मनुष्य की अन्धता और भ्रामक बाह्य रूप के बावजूद यथार्थ में भगवत्कृपा ही वह चीज है जो सर्वत्र कार्य कर रही है, जिससे कि प्रत्येक मुहूर्त उन स्थितियों में, जिनमें कि यह संसार उस मुहूर्त में होता है, सर्वोत्तम सम्भवनीय वस्तु ही होती है। चूंकि हमारी दृष्टि सीमित है अथवा

इसलिए भी कि हम अपनी ही निजी अभिरुचियों के द्वारा अन्धे बने होते हैं, हम यह नहीं देख पाते कि चीजें इस प्रकार की हैं।

*

मानव बुद्धि ऐसी है कि जब तक विरोध न हो तब तक वह समझती ही नहीं। जानते हो, मुझे लोगों से सैकड़ों चिट्ठियां मिली हैं जिनमें उन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है क्योंकि उन्हें बचा लिया गया। लेकिन कोई विरला ही, बहुत ही विरला मुझे इसलिए चिट्ठी लिखता है कि उसे कुछ नहीं हुआ, समझे।... लोगों को कृपा की क्रिया का भान तक नहीं होता जब तक कोई खतरा न आ जाये, यानी, जब तक किसी दुर्घटना का आरम्भ न हो जाये या जब दुर्घटना हो चुकी हो और वे उसमें से बच निकले हों, तब वे सचेतन हो उठते हैं, लेकिन उन्हें इस बात का भान नहीं होता, जैसे, उदाहरण के लिए, कोई यात्रा या कोई और चीज दुर्घटना के बिना हो जाती है तो यह कहीं अधिक महान् कृपा है। यानी, सामंजस्य एक ऐसे ढंग से स्थापित हो जाता है कि कुछ भी नहीं हो सकता, लेकिन मन को यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। जब लोग बीमार पड़ते हैं और जल्दी ठीक हो जाते हैं तो वे कृतज्ञता से भरपूर होते हैं। लेकिन जब वे स्वस्थ होते हैं तो कृतज्ञ होने का कभी विचार भी नहीं करते, फिर भी यह ज्यादा बड़ा चमत्कार है!

*

हमारे जीवन में प्रत्येक क्षण, सभी अवस्थाओं में 'भागवत कृपा' हमें सभी कठिनाइयों को पार करने में हमारी सहायता के लिए मौजूद है।

*

परम प्रभु की शक्ति अनन्त है—वह हमारी श्रद्धा है जो सीमित है।

*

कोई मनुष्य जितना ग्रहण कर सकता है, भगवान् की सहायता उससे कहीं अधिक विशाल होती है।

*

भगवान् की सहायता हो तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

—श्रीमां

अन्तरात्मा क्या है?

अन्तरात्मा भगवान् की एक चिनगारी है जो अभिव्यक्ति में आये व्यक्ति के ऊपर स्थित नहीं होती, पर उसके अभिव्यक्ति में आने पर भौतिक जगत् में विकास को सहारा देने के लिए उस में उतर आती है। शुरू-शुरू में यह भागवत चेतना से अभिन्न एक शक्ति होती है जिसमें वे सब सम्भाव्यताएं विद्यमान होती हैं जिन्होंने अभी रूप ग्रहण नहीं किया है, पर जिन्हें रूप देना विकास-क्रम का काम है। यह चिनगारी निम्नतम से उच्चतम सभी प्राणियों में उपस्थित होती है।

*

अन्तरात्मा भागवत आत्मा की एक चिनगारी है जो व्यक्तिगत प्रकृति को सहारा देती है; मन-प्राण-शरीर प्रकृति के अभिव्यक्ति के उपकरण हैं। अधिकतर मनुष्यों में अन्तरात्मा छुपी हुई और बाह्य

प्रकृति की क्रियाओं से ढकी हुई होती है। वे प्राणिक सत्ता को ही भूल से आत्मा समझ बैठते हैं, क्योंकि प्राण ही शरीर को अनुप्राणित और संचालित करता है। पर यह प्राणिक सत्ता बनी है कामनाओं से, अच्छी-बुरी कार्यकारी शक्तियों से। यह कामना-आत्मा है, सच्ची चीज नहीं है। जब सच्ची अन्तरात्मा (चैत्य) सामने आ जाती है और साधनस्वरूप प्रकृति की क्रियाओं को पहले तो प्रभावित करना और फिर शासित करना शुरू करती है तो मनुष्य प्राणिक कामनाओं को जीतना और भागवत प्रकृति की ओर बढ़ना शुरू करता है।

*

मनुष्यों में सामने तो होता है प्राणिक भावावेगों का हृदय, जो पशु के हृदय के समान ही होता है, यद्यपि बहुविध रूप से विकसित होता है—इसके भावावेग आहंकारिक आवेगों से, अन्ध एवं नैसर्गिक राग-अनुराग से और सभी प्रकार की जीवन-तरंगों की लीलाओं से शासित होते हैं। और इन आवेगों में अपनी अपूर्णताएं एवं विकृतियां होती हैं और प्रायः ही ये आवेग घिनौने रूप से ह्रसित भी होते हैं-—यह एक ऐसा हृदय है जो वासना, कामना, क्रोध से, तीव्र और निष्ठुर मांगों से, धूमिल एवं क्षीण जीवन-शक्ति की तुच्छ लिप्साओं और ओछी क्षुद्रताओं से भरा हुआ है एवं उनका खिलौना है और जो हर किसी प्रकार की तरंग की दासता से दूषित भी है। भावावेगमय हृदय के और संवेदन-क्षुधातुर प्राण के मिश्रण से मनुष्य में मिथ्या कामना-आत्मा की सृष्टि होती है। यही वह अनगढ़ और संकटकारी तत्त्व है जिस पर बुद्धि ठीक ही, अविश्वास करती है और उसे अपने नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता अनुभव करती है। यद्यपि हमारी अपरिष्कृत और हठीली प्राण-प्रकृति पर जिस आभासी नियन्त्रण या दमन को स्थापित करने में वह सफल हो जाती है, वह सदा ही

बहुत अनिश्चित और भ्रामक होता है। परन्तु मनुष्य की सच्ची अन्तरात्मा का वास इस भावमय हृदय में नहीं है। वह प्रकृति की किसी ज्योतिर्मयी गुहा में छिपे सच्चे अदृश्य हृदय में है। वहां झरती दिव्य ज्योति तले रहती है हमारी अन्तरात्मा, हमारी प्रशान्त अन्तरतम सत्ता, जिसे विरला ही कोई जानता है; क्योंकि यद्यपि अन्तरात्मा है तो सबके अन्दर, पर बहुत कम लोग ही अपनी सच्ची अन्तरात्मा से सचेत होते हैं या उस की सीधी प्रेरणा को महसूस करते हैं। भगवान् की यह नन्हीं चिनगारी हम सभी में है, यही हमारी अन्धकारमयी प्रकृति को सहारा देती है और इसी के चारों ओर हमारा चैत्य पुरुष, हमारी सुगठित अन्तरात्मा, हमारे अन्दर का वास्तविक मनुष्य वर्धित होता है। जैसे-जैसे चैत्य पुरुष मनुष्य में वर्धित होता जाता है और हृदय के भाव चैत्यपुरुष के अन्तर्बोधों और प्रेरणाओं को प्रतिरूपित करने लगते हैं, मनुष्य अपनी अन्तरात्मा से अधिकाधिक सचेत होने लगता है। वह अब मात्र उच्चतर पशु नहीं रह जाता। वह अन्तःस्थित भगवान् की झलकों के प्रति जाग जाता है, गभीरतर जीवन और गभीरतर चेतना से आने वाली सूचनाओं को अधिकाधिक स्वीकार करने लगता है और जो चीजें दिव्य हैं उनकी ओर वह रुजहान अनुभव करने लगता है। वह पूर्णयोग का एक निर्णायक क्षण होता है जब चैत्यपुरुष बन्धन-मुक्त हो, पर्दे में से निकल बाहर सामने आकर अपने चैत्यबोध, चैत्यदृष्टि और चैत्यप्रेरणाओं का पूरा प्रवाह मनुष्य के मन-प्राण-शरीर पर उंडेल सकता है और उसकी पार्थिव प्रकृति में दिव्यता के गढ़ने की तैयारी शुरू करता है।

—श्रीअरविन्द

नीरदबरन के साथ श्रीअरविन्द का पत्राचार

> *मैं 'विलाप' भेज रहा हूं, महोदय। मेरे अवलोकनों के उत्तर अभी आपके पास बचे पड़े हैं। खैर, आप अवसाद के बादलों को तितर-बितर करने में काफी कुछ सफल हो गये हैं।*

बात को आगे चलाता हूं। यह बात कि तुम शक्ति को अनुभव नहीं करते यह सिद्ध नहीं करती कि शक्ति वहां नहीं है। स्टीम-इंजन उस शक्ति को अनुभव नहीं करता जो उसे चलाती है, पर शक्ति तो वहां होती है न! मनुष्य स्टीम-इंजन नहीं है। वह उस से कुछ श्रेष्ठ है। वह सचेतन है, पर बस, उपरितल पर उठने वाली खुदबुद से ही, जिसे वह अपना-आप कहता है, और अन्य सभी अवचेतन, अन्तश्चेतन, अतिचेतन शक्तियों से सर्वथा अनभिज्ञ है। (यह एक सत्य है जो आधुनिक मनोविज्ञान के द्वारा अधिकाधिक पुष्ट होता जा रहा है, यद्यपि उसने अभी केवल निचली शक्तियों को ही हस्तगत किया है, उच्चतर शक्तियों को नहीं, इसलिये इस बारे में तुम्हें अपनी बुद्धि की टांग अड़ाने की जरूरत नहीं)। इस उपरितल पर प्राप्त होने वाले परिणामों के बारे में वह बुद्धिमानी के साथ (=मूर्खता के साथ) हांकता है, और उसका श्रेय अपनी 'भद्र आत्मा' को देता है, और भूल जाता है कि उसकी 'भद्र आत्मा' उस की अपनी दृष्टि से बहुत दूर, टिमटिमाती बुद्धि के और प्राण की प्रतीतियों, भावों, आवेशों, संवेदनों और संस्कारों के पर्दे के पीछे छिपी हुई है। इसलिए तुम्हारी युक्ति एकदम बेतुकी और बेकार है। हमारा उद्धेश्य है, छिपी शक्तियों को बाहर खुले में ले आना ताकि पर्दे में से हम उनका कुछ हल्का आभास या उनकी झलक पायें, या फिर उनके प्रति बन्द ही रहें, इसके स्थान पर वे 'धारा-रूप में नीचे उतरें' और 'नदी-रूप

में प्रवाहित हों'। लेकिन यह काम एकाएक, तुरत-फुरत हो जाये इसकी आशा करना अत्यधिक कल्पना से भरी मांग है, जो अधीरतापूर्ण अज्ञान को और अनुभवहीनता को दरशाती है। शुरू में उन का बूंद-बूंद करके आना इस विश्वास को पुष्ट करने के लिए काफी है कि आगे झड़ी लग जायेगी। तुमने स्वीकार किया है कि दो-एक बार तुम्हें अनुभव हुआ कि "शक्ति उतरी और तुम्हारे अन्दर से कविता फूट पड़ी" (तुम्हारी सम्मति कि वह कविता कौड़ी- कीमत की थी या न थी—इसे तो दूसरे ही बतायेंगे)। यह बात तुम्हारे विलाप के शेष सारे कथन को हवा में उड़ा देने के लिए काफी है। इस से साबित होता है कि शक्ति वहां थी और अब भी मौजूद है और काम कर रही है, केवल तुम्हारा व्यग्रतापूर्ण अति कठोर परिश्रम उसे अनुभव करने से तुम्हें रोके हुए है। साथ ही यह बूंद-बूंद ही धारा-प्रवाह की सम्भावना का आश्वासन है। व्यक्ति को बस, लगे रहना चाहिये और अपने-आपको धैर्य के द्वारा धारा-प्रवाह के योग्य बनाना चाहिये, और योग्य न बन सकने की हालत में तब तक टिके रहना चाहिये जब तक कि वह उसे पा न ले। अपने-आप योग में अनुभूति का—जो कि एक आश्वासन और पूर्वास्वाद है—तब तक के लिए रुक जाना जब तक प्रकृति उपलब्धि के लिए तैयार न हो जाये, ऐसी बात है जिसे हर एक योगी जानता है जब वह अपने भूतकाल के अनुभवों पर नजर डालता है। कुछ समय पहले ऐसे ही तुम्हें आनन्द की क्षणिक झलकें मिली थीं। इसका कुछ महत्त्व नहीं कि तुम में जोंक की तरह चिमटने की प्रवृत्ति नहीं है— जोंकें ही तो एकमात्र आदर्श नहीं हैं योगियों का। यदि तुम किसी तरह पकड़े रह सको या पकड़ाई में आ सको तो इतना काफी है। यह बात कि तुम श्रीअरविन्द नहीं हो (किस ने कहा कि तुम हो?) इस प्रसंग में एकदम अनुपयुक्त और असम्बद्ध है। आवश्यकता बस इस

बात की है कि व्यक्ति सही तरीकों से अपना-आप बने और जब कभी यह अवसाद उभर आये तो उसे झंझोड़ दे या झंझोड़ा जाने दे, "जोंक की तरह" उससे चिपटा न रहे, यही है उच्च आदर्श के योग्य चीज।

... यदि भगवान् ही जानते हैं कि जब भागवत कृपा उतरेगी तो क्या होगा, तो यह काफी है, है न? तुम नहीं जानते यह बात तुम्हारी बुद्धि को चकराने वाली हो सकती है, पर इस का उस से ज्यादा महत्त्व नहीं जितना तुम्हारी कल्पित अयोग्यता का। उस मामले में भला कभी कोई योग्य रहा है!—योग्य और अयोग्य तो बस कहने के तरीके हैं; जहां तक आध्यात्मिक चीजों का सम्बन्ध है, मनुष्य अपनी बाह्य प्रकृति में अयोग्य या अनुपयुक्त है। परन्तु भीतर है अन्तरात्मा और ऊपर है भागवत कृपा। "यही है सब कुछ जो तुम्हें जानना है या जिसे जानने की तुम्हें जरूरत है", और यदि नहीं जानना है, तो यही सही, पर तब भी, कम-से-कम इतना तो है कि तुम पथ पर किसी तरह लुढ़क पड़े हो और वहां बनाये ही रखे जाओगे और घसीटते हुए इतनी दूर ले जाये जाओगे कि तुम ज्ञान के प्रति जाग जाओ। स्वस्ति।

२१ जनवरी, १९३६

निरा टिके रहना काफी नहीं लगता। उस हालत में तो आश्रम की बिल्ली 'बुशी' को भी मौका हाथ लग जायेगा।

निश्चय ही, उसके हाथ लगा है—अगले जीवन में, अनुकूल परिस्थितियों में जन्म के नये स्तर पर उठने का अवसर उसे मिला है।

•

चूंकि साधना में हमें भगीरथ प्रयास करना पड़ता है, इसलिए

> *कृपा पर विश्वास करने में मैं जरा झिझकता हूं। क्या कृपा कुछ ऐसी चीज है जो शर्तों का कोई विचार किये बिना ऐसे ही मिल जाती है?*

कृपा किन्हीं शर्तों पर निर्भर नहीं करती—यह उससे एकदम दूसरी बात है कि वह जिस किसी या हर किसी साधक को बिना शर्त अपने-आप को दे दे।

> *यहां तक कि श्रीरामकृष्ण के द्वारा वर्णित बिल्ली के बच्चे की तरह के साधक को भी समर्पण का पक्का निश्चय लेना होता है और शेष सारी सत्ता को उसका अनुसरण करने के लिए बाध्य करना होता है, जो कि, मैं आप को बता दूं, महोदय, धरत्ती पर सब से कठिन काम है।*

मैंने कभी नहीं सुना कि बिल्ली का बच्चा ऐसा होता है—यदि ऐसा हो तो वह बिल्ली का बच्चा न होगा। (वह तो बन्दर का बच्चा हुआ जो बिल्ली का बच्चा बनने के लिए ऐसा कर रहा है)। पर स्पष्ट ही आध्यात्मिक चीजों के बारे में तुम्हारे पास इतना अधिक ज्ञान है (मुझ से और श्रीरामकृष्ण से भी अधिक) कि मैं अपना सिर ही नवा सकता हूं और जिन के पास कम ज्ञान है विनम्रता के साथ उधर जा सकता हूं।

> *यदि कोई व्यक्ति एकबारगी बिल्ली के बच्चे का-सा समर्पण कर पाता है तो यह इसलिए होता है कि उस के पिछले जन्म की "असमाप्त घुमाव रेखा" इस जीवन में समाप्त होने को होती है।*

धन्य, हे ऋषि, हे सर्वज्ञ! हमें हमारे विगत जीवनों के बारे में बताओ।

१ मई, १९३६

आप के पत्र में मुझे एक बहुत प्रेरणाप्रद सूत्र मिला–"भीतर है अन्तरात्मा और ऊपर है भागवत कृपा", जिसके बारे में आप ने कहा है–"यही है सब कुछ जो तुम्हें जानना है या जिसे जानने की तुम्हें जरूरत है।" सचमुच क्या यही है सब कुछ?

हर एक के लिए, जो भी आध्यात्मिक जीवन चाहता है, हां, यह काफी है।

टिके रहने से या इस कारण कि भीतर अन्तरात्मा है, इतने मांत्र से क्या कोई उस स्थिति को पा सकता है जिसे "कृपा-पात्रता की स्थिति" कहा जाता है?

हां, पा सकता है, अनेकानेक लोगों ने पाया है।

परन्तु अन्तरात्मा तो सब व्यक्तियों में है और भागवत कृपा सब व्यक्तियों के ऊपर राजती है। तो ऐसा कैसे है कि लोग भगवान् की ओर से पीठ फेर लेते हैं?

क्योंकि उन में राजसिक अहंकार, महत्त्वाकांक्षा, मिथ्याभिमान होता है —क्योंकि वे अपने निजी प्रयास में विश्वास करते हैं, न कि कृपा में।

मैंने कभी नहीं सुना कि कृपा सब कुछ करती है। और जहां कहीं लगता भी है कि यह कृपा का कार्य है वहां भी हम कैसे

जानें कि उस व्यक्ति ने पिछले जन्म में साधना नहीं की थी? आप इससे इन्कार नहीं कर सकते, कर सकते हैं क्या?

आध्यात्मिकता के इतिहास से मैं प्रसिद्ध जगाई-मधाई से लेकर कितने ही उदाहरण दे सकता हूं। पर उसका फायदा क्या, जब दिमाग दो और दो चार होते हैं इसे स्वीकार करना न चाहे।

तुम इसे सिद्ध नहीं कर सकते, कर सकते हो क्या?

... परन्तु आपके शब्दों में ही आप की साधना का इतिहास क्या बताता है–प्राणायाम का दुष्कर प्रयास, ध्यान, और क्या-क्या नहीं, और फिर सालों साल प्रतीक्षा, उसके बाद ही आपको ब्रह्म की कृपा मिली। तिस पर भी आप कृपा की पंचमुख से प्रशंसा करते हैं!

क्या खर दिमाग हो! तुम्हें कुछ कहने का लाभ ही क्या, जब जो मैं कहता हूं उस का तुम जानबूझ कर गलत अर्थ लगाओ? मैंने बहुत स्पष्ट कहा है कि प्राणायाम ने आध्यात्मिक उपलब्धि में मेरी किसी प्रकार की कोई सहायता नहीं की है, इसे तो मैं बहुत पहले बन्द कर चुका था। ब्रह्म की अनुभूति मुझे तब मिली थी जब मैं रास्ता पाने की टोह में था, कोई भी साधना नहीं कर रहा था, कोई प्रयास नहीं कर रहा था, क्योंकि मुझे पता नहीं लग रहा था कि मैं क्या करूं, सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे। तब तीन दिन में मुझे अनुभूति मिल गयी जिसे कितने ही योगी लम्बे योगाभ्यास के बाद अन्त में प्राप्त करते हैं। इसे मैंने तब पाया जब मैं इसकी कोई चाहना नहीं कर रहा था, इसके लिए कोई प्रयास भी न कर रहा था, जब मैंने पाया तो लेले महाराज आश्चर्यचकित रह गये क्योंकि वे मुझे कुछ और

ही प्राप्त कराना चाह रहे थे। परन्तु मुझे नहीं लगता कि तुम समझ पाओगे —इसलिए मैं कुछ और नहीं कहता। बस, अफसोस के साथ तुम्हारी खोपड़ी की समझ को देख रहा हूं।

१ मई १९३६

> *'क्ष' विलाप कर रहा था कि वह ८ वर्ष से यहां है, अभी तक शान्ति नहीं मिली। कभी-कभी हर्ष पा जाता है वह भी साहित्य-रचना का। उसी के शब्दों में देखिये—"मैं इन चीजों के लिए यहां न आया था—ये चीजें तो बाहर भी प्रचुर मात्रा में मिल रही थीं। यदि मैं श्रीअरविन्द से शिकायत करता हूं तो वे कहते हैं 'लिखो, लिखो, लिखो!' पर हे भगवान्! लिखने से मुझे क्या मिल जायेगा? संगीत में अर्पण की भावना महसूस करता हूं, सोच सकता हूं कि यह भगवान् के लिए अर्पण-रूप से किया गया काम है।"*

८ वर्ष? नौसिखिया योगी! योग के बारे में जो लोग कुछ जानते हैं वे तैयारी और आत्मशुद्धि के प्रारम्भिक कार्य के लिए भी ५, ६, ७, ८, १० वर्षों को कुछ नहीं गिनते। यही 'क्ष' के विनाश का कारण बना—उसने स्वर्ग को एक सपाटे में जीत लेना चाहा पर इसे करने का केवल एक ही तरीका है : पूर्ण आत्मोत्सर्ग। यह करना उसने स्वीकार नहीं किया, शायद कर ही नहीं सकता था। जब सपाटे से काम नहीं बना, सफलता नहीं मिली, तो वह संघर्ष कर रहा है और तड़प रहा है—ध्यान, जप, प्रार्थना और इस सब के पीछे बस उसका एक ही विचार है, "वे कब आयेंगे? कब आयेंगे? आये क्यों नहीं? निश्चय ही अब वे आने से रहे। वे कभी नहीं आयेंगे, कभी नहीं, कभी नहीं।" और सचमुच, नहीं ही आये—यह तरीका नहीं है।

फिर भी उसने मुझे वचन दिया है कि वह यह सब बन्द कर देगा, शान्त-स्थिर हो कर चलेगा, अहंकार से छुटकारा पायेगा इत्यादि, इस तरह लगा रहेगा जब तक कि वह योग्य पात्र बन जाये। पर उसका अवचेतन बहुत प्रबल है, वही-के-वही हठीले, तर्कहीन दौर अपने नियत चक्करों में बार-बार उस पर आते रहते हैं।

१९ मई १९३६

> *मुझे कभी-कभी अचरज होता है कि सचमुच यहां किसी को कुछ मिल रहा है? क्या किसी ने भगवान् को पाया है? कृपा कर, यह न पूछिये कि भगवान् से मेरा क्या मतलब है, इन चीजों को बताना जरा मुश्किल है।*

क्यों न पूछूं? यदि तुम्हारा मतलब वेदान्त की उपलब्धि से है तो यहां कई उसे पा चुके हैं; भक्ति की सिद्धि भी कइयों को हो चुकी है। साधनागत अनुभूतियों के बारे में जो पत्र मेरे पास आते हैं उन्हें यदि मैं छपवा दूं तो लोग आश्चर्य करेंगे और सोचेंगे कि आश्रम महान् योगियों से भरा पड़ा है! जो लोग योग के बारे में कुछ जानते हैं वे इन चीजों की ओर—अन्धकार के काल, अवरोध, विरोधी शक्तियों के आक्रमण, निराशा, पतन की ओर—जरा भी ध्यान नहीं देते, वे जानते हैं कि योगियों के साथ ऐसी चीजें होती ही है। यहां तक कि यहां जो असफल हैं, बाहर वे गुरु बन चुके होते और उनके कई चेले-चांटे भी होते, यदि मैं उन्हें ऐसा करने देता! 'ब' बन ही गया है, निःसन्देह 'ज्ञ' भी। लेकिन इन चीजों की यहां कोई गिनती नहीं। क्योंकि जो चीज बाहर पूर्ण सिद्धि है, वह यहां सिद्धि की ओर बस, जरा-सी शुरूआत है। यहां कसौटी है प्रकृति का रूपान्तर—चैत्य रूपान्तर, आध्यात्मिक रूपान्तर और अन्त में

अतिमानसिक रूपान्तर। वही, और दूसरी कोई चीज नहीं। यह जो इस योग को इतना कठिन बना देती है।

सोसायटी समाचार

डॉ. मंगेश नडकर्णी २३ फरवरी से ५ मार्च २००७ तक सोसाय के 'बीच ऑफिस' में श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' पर शिक्ष शिविर लगायेंगे। सभी का स्वागत है।

श्री गोपाल भट्टाचार्य जी ने अगस्त-सितम्बर २००६ में जम तथा इंग्लैंड के कई केन्द्रों तथा शाखाओं का दौरा किया, वि भाषण दिये। लंदन की पत्रिका The New World ने श्रीअरवि तथा श्रीमां विषयक दो लेख छापे, साथ ही—वर्तमान् जगत् श्रीअरविन्द की सम्बद्धता—विषय पर गोपाल दा के साथ हु साक्षात्कार भी पत्रिका में छपा।

सुलतानपुर (उ.प्र.) में सितम्बर २००६ को एक सभा का आयोज किया गया; विषय था, "श्रीअरविन्द के प्रकाश में वन्दे मातरम् इस अवसर पर डॉ. जे. पी. सिंह, डॉ. डी. डी. पांडे, डॉ. जे. एल लाल, डॉ. धर्मपाल सिंह इत्यादि के भाषण हुए।

सन् २००७ के जनवरी अंक में सभी सदस्यों को पत्रिका के साथ नये वर्ष के जेबी कैलेण्डर सहित एक पृष्ठचिह्न भेजा जायेग जिस पर श्रीमां के चित्र सहित उनका एक सन्देश उद्धृत होगा। ज शाखाएं और केन्द्र अधिक मात्रा में इन जेबी कैलेण्डरों का आदेश देना चाहते हैं वे अधिक जानकारी के लिए कृपया श्रीअरविन्द सोसायटी बीच ऑफिस, १ रंगपिल्लइ स्ट्रीट, पॉण्डिचेरी—६०५००१ से सीध पत्र-व्यवहार करें।